उपोद्घात

प्रस्तुत महानिबन्ध में तेरहवीं सदी के 'विंशति प्रबन्धकार' रूप से प्रसिद्ध संस्कृत-गुर्जर कवि विनयचन्द्र सूरि कृत 'आदिनाथमहाकाव्य', जिसकी प्राचीन हस्तप्रतिलिपि ला० द० भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद में सुरक्षित है, का संशोधन करने के साथ ही तत्सम्बन्धित गूढातिगूढ अन्तरङ्गपक्ष का रहस्यात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

१८ सर्गों में विभक्त समग्र मूल ग्रन्थ के श्लोकों की संख्या लगभग साढे-चार हजार है। भाषा, शैली, और गठन की दृष्टि से यह कवि की सर्वप्रथम रचना प्रतीत होती है। फिर भी अंतरङ्गपक्ष की दृष्टि से यह ग्रन्थ इस लिए उपयोगी है कि इसमें विश्वस्वीकरणीय पुरातन पुरुष के महानतम चरित्रों और उत्कृष्टतम कर्तव्यों का समावेश है जिनका समग्र मूलाधार सर्वाधिक प्रसिद्ध श्वेताम्बर जैन कवि हेमचन्द्र और का 'आदीश्वर-चरित्र' ही है। इस महानिबन्ध को लिखने का मूल उद्देश्य ही आदिपुरुष ऋषभदेव के चरित्रगत तथा कालगत रहस्यों का उद्घाटन करना है।

ला० द० भा० संस्कृति विद्यामंदिर के अध्यक्ष दलसुख मालवणिया, उपाध्यक्ष नगीन शाह और आचार्य पं० बेचरदास दोशी का विशेष आभारी हूँ जिनके प्रत्यक्ष निर्देशन और संरक्षण में रहकर यह कार्य पूरा हुआ है।

विषयसूची

प्रथम विभाग : आदीश्वर-रहस्य

प्रकरण-१. ऋषभ, रुद्र, अग्नि और सूर्य—एकही व्यक्तित्व पृ.(१)

(क) ऋषभ ही रुद्र अर्थात् शिव हैं :— पृ.(२)

आदिपुरुष (३) गीता का भगवान (४) ऋषभशिव ब्रह्मा के भी पिता हैं (६) गृहस्थ धर्म के आदर्श (८) योगाचार्य शिव का ऋषभावतार (७) वातरशना श्रमण और जटाधारी ऋषभ-शिव (९) ऋषभशिव द्वारा ज्ञान-गंगावतरण (१३) कैलाशवासी ऋषभशिव (१५) कैलाश, अष्टापद, मेरु, हराद्रि और शत्रुञ्जय एक ही पर्वत के नाम हैं (१५) ऋषभशिव का वास्तविक धाम परमधाम है (१५) निराकार विश्वपिता ऋषभ-शिव (१६) अगम्य ऋषभशिव (२०) आर्य और अनार्य दोनों के ही पूज्य (२१) त्रिशूलाङ्कित ऋषभशिव (२२) ऋषभशिव ही माता-पिता और सच्चे सद्गुरु हैं (२८) श्वेतवस्त्रधारी और नग्न ऋषभ-शिव (२९) चतुर्मुखी ऋषभशिव (३१) जगत्पिता ऋषभशिव और जगदम्बा (३२) ऋषभशिव प्रदत्त काली लिपि और माहेश्वर सूत्र (३४) मुक्तेश्वर ऋषभशिव (३५) अष्टमूर्ति ऋषभशिव (३५) वृषभा-ङ्कित ऋषभशिव (३६) ऋषभशिव का उपाधिसाम्य (३९) देवाधिदेव ऋषभशिव का रात्रि अवतरण (५०)

(ख) देवाधिदेव ऋषभशिव ही वेदवर्णित अग्निदेव हैं पृ.(५४)

लोकाग्रवासी अग्नि (५१) अव्यक्त अग्नि (५१)

[ग] देवाधिदेव ऋषभशिव ही वेदवर्णित सूर्यदेव हैं — पृ.(५५)

प्रकरण-२. एक दूसरा व्यक्तित्व → भरत ही ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र → पृ.(५८)

प्रकरण-३. ऋषभशिव के माता-पिता — एकमानवीयकरण (६६)
वेदविर्णित द्युलोक ही पिता नाभि है (६६)
द्युलोक अर्थात परमधाम की प्रक्रिया (६७)
पृथ्वी पर ही (समयानुसार) स्वर्ग-नर्क (७२)
भारतमाता — मरुदेवा है (७४)।

प्रकरण-४. देवाधिदेव ऋषभशिव का कालनिर्णय (७६)
अज्ञान अंधकारकाल (७६) महाविनाशकाल
(८१) अतिशय धर्मग्लानिकाल (८१) धर्मरूपी
कल्पवृक्ष (८५) कुलकरकाल और मात्स्य-
न्यायकाल (८८) विश्वोद्धरणकाल (१०१)
विश्वजन्तुओं का अन्तिम जन्मकाल (१०३)
कलियुग-अन्तकाल (१०६) हिन्दी भाषाकाल
(१०६) सतयुग आदिकाल (१११) वेदपूर्व और
आर्यपूर्वकालीन महाभारतकाल (११४)।

प्रकरण-५. देवाधिदेव ऋषभ-शिव का दिव्य जन्म (११६)
प्रकरणसार (११६) वृषभाङ्क का रहस्य (१२०)
वृषभ (बैल) ब्रह्मा का प्रतीक है (१२२) वृषभ,
ऋषभशिव का प्रतीक नहीं (१२४) दो हैं साथी,
ब्रह्मा रथी, शिव सारथी (१२७) रथी-सारथी (१२८)
शरीररूपी रथ (१२९) सिंधु का रथ (१३१) अगम्य
जन्मा के दिव्य जन्म का अर्थ चमत्कार नहीं (१३२)
दिव्यजन्मा ब्रह्मा से ही ब्राह्मणोत्पत्ति (१४१) मातृ-
कुल (१४४) परकाय प्रवेश के कुछ अन्य प्रमाण
चतुर्मुखी ब्रह्मा (१४५) शिवरादी ब्रह्मा (१४७)
पतित अर्थात् विकारी मानवीय शरीर में प्रवेश (१५१)
ब्रह्मा मनुष्य था, देवता नहीं (१५१) वृद्ध ब्रह्मा
(१५२)।

प्रकरण- ६. भरत ने हिंसक युद्ध द्वारा दिग्विजय नहीं की (१५५) अनादि सृष्टि रूपी विश्वनाटक में भरत का चक्ररत्न है (१५८) पुरुषोत्तम संगम युग (१६३) सृष्टिचक्र की हूबहू पुनरावृत्ति (१६५) सदामुक्ति नहीं होती (१६८) दण्डरत्न और सेनापतिरत्न (१६६) चर्मरत्न और मणिरत्न (१७१) यज्ञोपवीत का रहस्य (१७३) अन्यान्य रत्न (१७४) ज्ञानलाभ (१७७) अज्ञान अन्धकार रूपिणी तमिस्रा गुफा (कलियुगान्त में) (१८१) भावुक भरत हिंसक नहीं थे (१८६)।

प्रकरण- ७. मरुदेवा श्रेयांसादि के स्वप्न और दान का रहस्य (१९१) मरुदेवा के स्वप्नों का रहस्य (१९१) श्रेयांसादि के स्वप्न (१९७) ऋषभशिव ने इक्षुरस रूपी विषय-रस का दान माँगा था (१९६)।

प्रकरण- ८. ऋषभाभिषेक और बलिउत्क्षेप का रहस्य (२०६) पानी की गंगा और तैलगंगा (२०६) ऋग्वेदवर्णित जलदेवता ज्ञान का प्रतीक है (२०८) ज्ञानयुक्त स्तुतियों द्वारा ही ऋषभदेव का (ज्ञान) अभिषेक होता है (२११) स्नान, पूजा, बलिउत्क्षेप और उसकी शास्त्रीय विधि (२१८) योग की (संक्षिप्त) विधि (२१६)।

प्रकरण- ९. आठ, १०८, १६१०८ और १००८ की संख्या का रहस्य (२२३), आठ की संख्या का महत्त्व (२२३), आठ और नौ का भेद (२२७) १०८ मनकों की माला का रहस्य (२२८) १००८ और १६१०८ की संख्या का रहस्य (२३०) ६ लाख का महत्त्व (२३२)।

प्रकरण-१०. सांवत्सरिक दान (२३३), महाभिनिष्क्रमण (२३५), सर्वार्थसिद्ध विमान (२३८), सृष्टि रूपी अशोकवृक्ष (२३६), कायोत्सर्ग अवस्था का रहस्य (२४६)

चित्र-सूची

पृ.सं.

(१) सर्वधर्मों में एक निराकार परमपिता परमात्मा (पृ.क्र.)
(२) त्रिपदीय ज्ञान (त्रिमूर्ति अथवा त्रिशूल) (२३)
(३) त्रिलोक (पारलोक, अन्तरिक्ष व पृथ्वी) (६८क)
(४) सुदर्शन-चक्र (सृष्टि-चक्र) (१६१)(क)
(५) अशोक वृक्ष (सृष्टि वृक्ष, न्यग्रोध) (२४०)(क)
(६) ८४ जन्मों की सीढ़ी (२५१)(क)
(७) विष्णु रूप विराट में चतुर्वर्ण (२६८)(क)

संकेतसूची

कुछ प्रमुख संकेत :- (अकारादिक्रम से)

ऋग्वेद	ऋ.
ऋषभदेव एक परिशीलन	परि.
त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र	त्रि.
देखिए, पृष्ठ, पादटिप्पण,	दे. पृ. पादटि
महापुराण (जिनसेन)	महापु.
महाभारत	महाभा.
शैवमत	शै.
हजारीमलस्मृतिग्रंथ	ह. ग्रन्थ

सामान्य संकेत :-

अग्निपुराण	अग्नि
अथर्ववेद	अथर्व
आवश्यकचूर्णि	आ. चू.
आवश्यकनिर्युक्ति	आनि.
ईशावास्योपनिषद्	ईश.
उत्तराध्ययनसूत्र	उ. सू.
उपनिषदों की भूमिका	उप. भूमिका
उपनिषद्वाक्यकोश	उप. कोश
कठोपनिषद्	कठ
केनोपनिषद्	केन
कूर्मपुराण	कूर्म
पद्मपुराण	पद्म
पातञ्जलयोगदर्शन	पा. योग
पुराण विमर्श	पु. विमर्श
मनुस्मृति	मनु.
भगवद्गीता	गीता
भागवतमहापुराण	भाग.
मत्स्यपुराण	मत्स्य
महाभारत शान्तिपर्व	शान्ति
" वनपर्व	वन
" द्रोणपर्व	द्रोण
" हरिवंशपुराण	हरि.
" अनुशासनपर्व	अनु.
" भविष्य पर्व	भविष्य
महापुराण पुष्पदन्त	महापु पु.
मार्कण्डेय पुराण	मार्के.
मुण्डकोपनिषद्	मुण्डक
यजुर्वेद	यजु.
लिङ्गपुराण	लिङ्ग
वायुपुराण	वायु
विष्णुपुराण	विष्णु
शब्दरत्नमहोदधि	शब्दरत्न
श्वेताश्वतरोपनिषद्	श्वेता.
शिवमहापुराण	शिवपु.
शिवरहस्यम्	शिवर.
सामवेद	साम
सृष्टिवाद अने ईश्वर	सृष्टिवाद

प्रकरण-११. ब्रह्मा (भरत) अर्थात मनु के चौरासी मानवीय जन्मों के उत्पान-पतन का संक्षिप्त भारतीय इतिहास (२५७) प्रकरणसार (२५७) मनुष्य का जन्म मनुष्य योनि में ही होता है, चौरासी लाख योनियों में नहीं (२५४) अवशिष्ट प्रमाण-चौरासी मानवीय जन्म (२५८) तीन लोक और ८४ लाखों की कल्पना का आधार (२६३) चारों युगों में मानवीय आयु (२६४) युगों में रंग, धर्म और गुणों का वितरण (२६५) वर्ण-व्यवस्था का रहस्य (२६७) द्वापर में वेदशास्त्रों का निर्माण (२७०)।

प्रकरण-१२. ऋषभकालीन आध्यात्मिक परम्पराओं का बिगड़ा हुआ स्वरूप (२७४) - हिंसक युद्ध, निन्दो या टीका, यज्ञोपवीत, केशलोंच, नंगा रहना (२७६) अन्नदान और भिक्षावृत्ति, कलश-कमण्डलधारण, दण्डधारण रात्रिभोजन-त्याग, व्रत और उपवास, गंगास्नान और मेले (२७८) यज्ञप्रथा, गुरुडम, घरगृहस्थत्याग (२७८) तीर्थयात्रा, रथयात्रा, गालाजाप, पुरुषोत्तम मास (२७९) महाशिवरात्रि, होली, रक्षाबन्धन, कृष्ण-राधा रामादि की जयन्ती (२८०) नवरात्रि, दशहरा, दीपावली, भ्रातृद्वितीया (२८१) मन्दिर पूजा, शास्त्रपठन पाठन (२८२)

उपसंहार (आदीश्वर-रहस्य का) ——→ (२८२)

द्वितीय विभाग

प्रकरण-१. आदिनाथ महाकाव्य की मूलकथा का संक्षेप (२८६)

प्रकरण-२. कविकृत कृतियों के नामोल्लेखपूर्वक कवि विनयचन्द्र सूरि का उपलब्ध परिचय और उनका कालनिर्णय (२९६)

तृतीय विभाग

मूलग्रंथ (आदिनाथ महाकाव्य) पृ. ~~२९९~~ से ३५२

आधारग्रन्थसूची ——→

प्रथम विभाग – आदीश्वर-रहस्य

प्रकरण- १ ऋषभ-रुद्र-अग्नि और सूर्य ← एक ही व्यक्तित्व

देवाधिदेव श्री ऋषभदेव इस सृष्टिरूपी रंगमंच के ऐसे प्रधान संचालक थे जिन्होंने इस संसारचक्र (कालचक्र) के आंशिक काल में ही संपूर्ण सृष्टि की उत्कृष्टतम व्यवस्था की थी। जैन परम्परा में वर्णित इसी उत्कृष्टतम व्यक्तित्व का वैदिकपरम्परा में शिव-रुद्र-अग्नि-सूर्य आदि अनेकों नामों और अनेक रूपों में विविध प्रकार से वर्णन किया गया है। ऋग्वेद में कहा गया है — 'पक्षी एक है परन्तु क्रान्तदर्शी विद्वान् उसको अनेक प्रकार से कल्पना करते हैं।'[1] आगरा विश्वविद्यालय के संस्कृतविभागाध्यक्ष डा० राजकुमार जैन का मन्तव्य[2] है — 'वृषभ ऋषभ का स्पष्ट उल्लेख करने वाले सूक्तों और मन्त्रों के अतिरिक्त ऋक्, यजु और साम तीनों ही संहिताओं के प्रायः सभी छन्द जिनमें — हिरण्यगर्भ, जातवेदस, अग्नि, विश्वकर्मा, रुद्र, पुरुष, सूर्य, आदित्य, अर्क, रवि विवस्वत्, नाक्पति, ब्रह्मणस्पति, बृहस्पति आदि संज्ञाओं और विशेषणों से स्तुति की गई है वे सब भगवान् ऋषभ की ओर ही संकेत करते हैं।'

अज्ञानान्धकार में डूबी हुई जर्जरीभूत सृष्टि के उसी आदि विधाता को अथर्ववेद के एक सूक्त में 'अध्यात्मम्' देवता का नाम दे कर कहा है →

---

① सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।
(ऋ० १०, ११४, ५)

② ह० ग्रन्थ पृ० ६१६

"वही विधाता, वही धाता, वायु और उच्छ्वसित आकाश है। वही अर्यमा, वही वरुण, वही रुद्र और वही महादेव हैं। वही अग्नि, वही सूर्य और वही महान यम है।"①

वृषभ जिनका प्रसिद्ध चिन्ह है ऐसे उस पुराण पुरुष ऋषभदेव को ही महाभारत②में रुद्र, शिव, अग्नि, ईशान, सूर्य, वरुण, यम आदि अनेक नामों का धारणकर्ता बताया गया है।

(क) ऋषभ ही रुद्र अर्थात् शिव हैं —

आदि पुरुष :— जैन परम्परा ऋषभ देव को आदिपुरुष और संस्कृति के आद्यनिर्माता के रूप में प्रस्तुत करती है। जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति③ प्रभृति जैनग्रन्थों में स्पष्ट कहा गया है कि उन्होंने ही सर्वप्रथम, पारिवारिक प्रथा, सामाजिक व्यवस्था, शासन-पद्धति, राजनीति की स्थापना की थी।

---

③ (क) एत्थणं उसहेणामं अरहा कोसीलए पढम-राया, पढमजिणे, पढमकेवली, पढमतित्थयरे, पढमधम्मवर-चक्कवट्टी समुप्पज्जित्था (जम्बूद्वीप; परिशीलन पृ. ५४ से)

(ख) —— (कल्पसूत्र पुण्यविजय सू. १६४)

② यत्तु गोवृषमाङ्केन मुनिमभ्य समुदाहृतम् ।--
स वै रुद्रः स वै शिवः सोऽग्निः सर्वः स सर्वजित् ।---
स चन्द्रमा स चेशानः स सूर्यो वरुणश्च सः ।
स कालः सोऽन्तको मृत्युः स यमो रात्र्यहानि च ॥
(महाभा. अनु. १६०, ३८ से ४०)

⑦ स धाता स विधर्ता स वायुर्नभ उच्छ्रितम् ।
रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः ॥
सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः महादेवः ।---
सोऽग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः ।
(अथर्व. १३, ४, ४, ३ से ५)

दिगम्बराचार्य जिनसेन ने भी उन्हें (ऋषभ) वैदिक ग्रन्थों मे वर्णित पुराण पुरुष (कविं पुराणमनुशासितारं – गीता ८,९) माना है।① वे जगज्ज्येष्ठ हैं।② प्रजा उन्हें विधाता, विश्वकर्मा, स्रष्टा आदि अनेक नामों से पुकारती थी।③ वे सुरों और असुरों दोनो के गुरु थे।④

आधुनिक जैनजगत् के माननीय विद्वान् देवेन्द्र मुनि लिखते हैं— 'ऋषभदेव श्रमणसंस्कृति और ब्राह्मणसंस्कृति के आदिपुरुष हैं। भारतीय संस्कृति के ही नहीं मानव-संस्कृति के आद्यनिर्माता है।'⑤

जैन संस्कृति मे आदिपुरुष ऋषभ की भाँति वैदिक परम्परा शिव को आदिपुरुष मानती है। वे ब्रह्मा-विष्णु-शंकर तीनों देवों के रचयिता हैं।⑥ डा० यदुवंशी के अनुसार — 'सौर, लिङ्ग, अग्नि, ब्रह्म मत्स्य आदि ~~सभी~~ पुराणग्रन्थों में⑦ उन्हें आदिकारण बताया गया है।⑧ ~~भागवत मे ऋषभ~~ महाभारत मे उन्हें सब देवों मे बड़ा माना गया है। सारे देवता उनकी शरण मे जाते हैं।

---

⑧ महाभा० अनु० २२, १४४-५ (~~शैवमत~~ पृ० ६६)

⑦ सौर ७, ३१; ३८, १; ३८, ६०; लिङ्ग २१, १६; अग्नि ८८, ७; ब्रह्म १, २६; मत्स्य १३२, २७; वायु ५४, १०० (शैवमत पृ० ६७ पा०टि० १)

⑥ त्रिदेवजनकं ब्रह्म सच्चिदानन्दविग्रहः (शिवपु० ६, १२, ४)

⑤ परिशीलन पृ० १६३

④ इत्थं सुरासुरगुरुर्गुरु -- (महापु० १६, २७० पृ० ३७०)

③ विधाता विश्वकर्मा च स्रष्टा चेत्यादिनामभिः।
प्रजास्तं व्याहरन्ति स्म जगतां पतिमच्युतम् ॥
(महापु० १६, २६७)

② वृषभोऽयं जगज्ज्येष्ठो -- (महापु० १४, १६० पृ० ३१६)

① त्वामामनन्ति योगीन्द्राः पुराणपुरुषं पुरुम्।
कविं पुराणमित्यादि पठन्तः स्तवविस्तरम् ॥ महापु० १४४०

बौधायन गृह्यसूत्र मे शिव को आदिपुरुष और विश्वसृष्टा कहा गया है[1]। कौशीतकी ब्राह्मण मे शिव को देवाधिपति शब्द से विभूषित किया गया है[2]। मार्कण्डेय पुराण[3] में कहा है कि वह जगद्योनि निर्गुण होते हुए भी प्रगट होकर रजोगुण के अवलम्ब से ब्रह्मा के रूप मे आविर्भूत होकर सृष्टि के उद्यम में लगते हैं। वह देवों के आदि एक प्रकार से अनादिरहित है[4]।

गीता का भगवान्→ श्रीमद्भगवद्गीता मे उसी आदिपुरुष[5] (ऋषभशिव) की स्तुति की गई है— "मैं उस आदि पुरुष को प्रणाम करता हूँ जिससे इस संसार-वृक्ष की आदि प्रवृत्ति हुई है" (गीता १५,४)। गीता का वह आदि पुरुष स्वयं बता रहा है— "मैं ही देवों और महर्षियों सबका आदि हूँ[6]। उसी ने प्राचीन काल मे कर्मयोग की वह प्रसिद्ध निष्ठा प्रचलित की थी जिसके कारण भारत को जैनपरम्परानुसार भी कर्मभूमि की संज्ञा मिली है[7] (गीता ३,३)।

यहाँ ध्यान रहे कि गीता का ज्ञान श्रीकृष्ण ने नहीं दिया था; अपितु उसी आदि पुरुष (ऋषभशिव) ने गृहस्थधर्म की शिक्षा के लिए गृहस्थ अर्जुन को सहज राजयोग सिखाने के हेतु दिया। इसबारे में अधिक

---

⑦ निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ---कर्मयोगेन योगिनाम्।

⑥ अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः (गीता १०,२)

⑤ तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।

④ हिरण्यगर्भो देवादिरनादिरुपचारतः॥ मार्कण्डेय ३८,२१

③ उत्पन्नः स जगद्योनिरगुणोऽपि रजोगुणम्।
भुञ्जन् प्रवर्तते सर्गे ब्रह्मत्वं समुपाश्रितः॥ मार्क० ३८,१३

② कौशीतकी ब्रा० २३,३ (शैवमत पृ २०)

① बौधायन गृह्यसूत्र ३,२,१६,३६ (शैवमत पृ० ५८)

विस्तार में न जाकर प्रकरणवश कुछ प्रसिद्ध इतिहासकारों के उद्धरण प्रस्तुत करते हैं →

होपकिन्स[1] का विचार है– '(गीता का) जब तक जो कृष्णाप्रधान रूप मिलता है वह पहले कोई विष्णु प्रधान कविता थी और इससे भी पहले वह कोई एक निस्सम्प्रदाय रचना थी।' रिलीजियस लिटरेचर ऑफ इण्डिया (१९२०) पृ० १२-१४ पर फर्कुहार ने लिखा है– 'यह (गीता) एक पुरानी पद्य उपनिषद् है जो संभवतः श्वेताश्वतरोपनिषद् के बाद लिखी गई है और जिसे किसी कवि ने कृष्णावाद के समर्थन के लिए ई० सन् के बाद वर्तमान रूप मे ढाल दिया है[2]।' गर्वे के अनुसार– 'भगवद्गीता पहले एक सांख्य-योग सम्बन्धी ग्रंथ था जिसमें बाद में कृष्णावासुदेव पूजा पद्धति आ मिली और ई० पूर्व तीसरी शताब्दी में इसका मेलमिलाप कृष्ण को विष्णु का रूप मान कर वैदिक परम्परा के साथ बिठा दिया गया। मूल रचना ईस्वी पूर्व २०० में लिखी गई थी और इसका वर्तमान रूप ईसा की दूसरी शताब्दी में किसी वेदान्त के अनुयायी द्वारा तैयार किया गया है[2]।' होल्टजमैन गीता को एक सर्वेश्वरवादी कविता का बाद में विष्णु प्रधान बनाया गया रूप मानता है[2]। कीथ का भी विश्वास है कि मूलतः गीता श्वेताश्वतर के ढंग की उपनिषद थी[2]; परन्तु बाद मे उसे कृष्णापूजा के अनुकूल ढाल दिया गया।

② राधाकृष्णान् 'गीता' की भूमिका पृ० १७ से उद्धृत
① रिलीजन्स ऑफ इण्डिया (१९०८) पृ० ३८८ (गीता रा० पृ० १७)

ऋषभ-शिव ब्रह्मा के भी पिता हैं :—

भागवत मे ऋषभदेव को ब्रह्मा का भी पिता कहा गया है। वहाँ ऋषभदेव स्वयं ही कहते हैं — 'ब्रह्मा जी मुझसे उत्पन्न हुए हैं और मेरी उपासना करते हैं, अतः मै उनसे श्रेष्ठ[1] हूँ।' इसी प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद्[2] में शिव को ब्रह्मा का पिता बताते हुए कहा है — 'जो परमेश्वर निश्चय ही सबसे पहले (ऋषभ के ज्येष्ठ पुत्र भरत की की भाँति) ब्रह्मा को उत्पन्न करता है और निश्चय ही ब्रह्मा को समस्त शास्त्रों का ज्ञान प्रदान करता है' (श्वे० ६,१८)। शिवमहापुराण मे ब्रह्मा जी स्वयं कहते हैं — 'जो शिव मुझे सबसे पहले पुत्र रूप मे उत्पन्न कर के ज्ञान देते हैं उन्हीं की प्रसन्नता से मैंने यह प्रजापति पद प्राप्त किया[3] है (जैसे भरत ने)। मुण्डकोपनिषद् ३,१,३ मे भी उन्हें ब्रह्मा का आदिकारण कहा है।

गृहस्थधर्म के आदर्श :—

गीता मे जिस श्रेष्ठ गृहस्थ धर्म की शिक्षा अर्जुन को दी गई है उसका उपदेश भी गृहस्थधर्म का आदर्शतम व्यक्ति ही दे सकता है। जैन और जैनेतर साहित्य मे ऋषभ-शिव को ही गृहस्थधर्म के आदर्शरूप में प्रस्तुत किया गया है। भागवत ५,४,८ के अनुसार ऋषभदेव ने अजनाभखण्ड को कर्मभूमि मान कर लोकसंग्रह के लिए (लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्—गीता ३,२०) तथा लोगों को गृहस्थधर्म की शिक्षा देने के लिए शास्त्रोपदिष्ट कर्मों का आचरण करते हुए देवराज इन्द्र की कन्याजयन्ती

---

③ योऽग्रे मां विदधे पुत्रं ज्ञानं च प्रहिणोति मे।
तत्प्रसादान्मया लब्धं प्राजापत्यमिदं पदम्॥ शिवपु० ७,२,५

② यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।

① भवः परः सोऽधिरिञ्चवीर्यः स मत्परोऽहम् (भाग ५,५,२२)

से विवाह किया[1]। उन्होंने मोक्ष का संग्रह करते हुए गृहस्थाश्रम में लोगों को नियमित किया[2]। ऋषभदेव की तरह वैदिक साहित्य में शिव और पार्वती को विवाहित प्रेम का आदर्शतम माना गया है[3]। तुलसीकृत रामायण में पार्वती ने शिव को कामवासना से रहित सर्वथा निर्विकारी योगी ही बताया है — 'हमरे जान सदा शिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी॥'

योगाचार्य शिव का ऋषभावतार :—

वैदिक ग्रन्थों में शिव को योगेश्वर और योगाचार्य के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। वायुपु० ११अ० और सौरपु० अ० १२ में माहेश्वर योग तथा पाशुपति योग का वर्णन है। शिव पुराण में शिव के कई रूपों पर योगाचार्य रूप में २८ अवतार गिनाए गए हैं जिनमें एक ऋषभ का अवतार भी है[4]। प्रभासपुराण[5] में भी शिव का ऋषभ-अवतार कहा गया है। कूर्मपुराण में वैवस्वत मन्वन्तर कलियुग के अन्त में २८ अवतार

---

(५) कैलाशे विमले रम्ये वृषभोऽयं जिनेश्वरः।
चकार स्वावतारं च सर्वज्ञः सर्वगः शिवः॥
(प्रभासपु० ७६; परि० पृ० १५८ ह० ग्रन्थ पृ० ६२४)

(४)(क) इत्थं प्रभाव ऋषभोऽवतारः शंकरस्य मे।
सतां गतिर्दीनबन्धुर्नवमः कथितस्तव॥
(शिवपु० ५, ४८ च; ह० ग्रन्थ पृ० ६२४ से)

(ख) अष्टाविंशति संख्याता योगाचार्या युगक्रमात् (४, ६)
(ग) शिवपु० ७, २, ६ भी द्रष्टव्य; (शिवपु० वायुसं० उ० भा०)

(३) द्रोणपर्व, महाभारत, ७८, २५ (शां० ७ नी० से)

(२) अमृतावरोधेन गृहेषु लोकं नियमयत (भाग० ५, ४, ६)

(१) अथ ह भगवान् ऋषभदेवः स्ववर्षं कर्मक्षेत्रमनुमन्यमानः गृहमेधिनां धर्मानिनुशिक्षमाणो जयन्त्यामिन्द्रदत्तायामुभयलक्षण--।

गिनाए गए हैं जिनमें उनका[1] एक अवतार ऋषभदेव का बताया गया है।[2] नाट्यशास्त्र में शिव को महान योगाचार्य माना गया है और कहा गया है कि उन्हों ने भरतपुत्रों को सिद्धि सिखाई। जैनग्रन्थों में भी वर्णन है कि ऋषभदेव ने भरत के पू०० पुत्रों व ७०० पौत्रों को दीक्षा दी।[3]

मोहनजोदड़ो में योगमुद्रा में मिली मूर्तियों का सम्बन्ध विद्वानों ने योगी ऋषभ से जोड़ा है। यह सम्भावना है कि ये मूर्तियां योगाचार्य शिव की साकार प्रतिमाएं भी रही हों। रामधारीसिंह दिनकर[4] के शब्दों में — 'मोहनजोदड़ो की खुदाई में योग के प्रमाण मिलते हैं और योग तथा वैराग्य की परम्परा ऋषभ से उसी प्रकार लिपटी है जैसे शक्ति कालान्तर में शिव के साथ समन्वित हो गई।' भागवत में ऋषभदेव के योगिक प्रभाव का वर्णन करते हुए लिखा है — 'एकबार इन्द्र ने ईर्ष्यावश उनके राज्य में जल नहीं बरसाया, तब योगेश्वर भगवान ऋषभ ने इन्द्र की मूर्खता पर हंसते हुए अपनी योगमाया से अजनाभखण्ड में खूब[5] वर्षा की।

---

(५) तस्य हेन्द्रः स्पर्धमानो भगवान वर्षन्न ववर्ष, तदवधार्य भगवान्ऋषभदेवो योगेश्वर प्रहस्यात्मयोग-मायया स्ववर्षमजनाभं नामाभ्यवर्षत (भाग० ५, ४, ३)

(४) 'आजकल' मार्च १९६२ पृ० ८ (जै० मौ० इतिहास पृ० ६०)

(३) पंच य पुत्त सयाइं, भरहस्स य सत्त नत्तु असयाइं।
(क) सयं रज्जं पव्वइया तम्मि कुमारा समोसरणे॥ (आ० नि० गाथा ३४५)
(ख) आ० चू० पृ० १६२ (१२२), महापु० २४, १७५

(२) नाट्यशास्त्र १, ६० (शैवमत पृ० ६० से उद्धृत)

(१) वैवस्वतेऽन्तरे शम्भोरवतारास्त्रयोदिताः।
अष्टाविंशतिराख्याता ह्यन्ते कलियुगे प्रभोः॥ ---
अष्टमे दधिवाहःस्यान्नवमे ऋषभः प्रभुः। (कूर्म ५३, ६१०

वैदिक परम्परा मे जैसे शिव को अमोघ वीर्यवान् योगी माना गया है वैसे ही जैनसाहित्य मे हेमचंद्र ने इन्द्र की स्तुति में ऋषभदेव को 'कामदेव रूपी अंधकार के नाशक और अखण्डित ब्रह्मचर्य रूपी महातेजस्वी सूर्य के समान'[1] बताया है। शिव की कामदहनकथा का उल्लेख अनेकशः वैदिक ग्रन्थों मे मिलता ही है। जिनसेनाचार्य ने ऋषभदेव को 'कामहा' और 'कामारि' उपाधियाँ अनेक स्थलो पर दी है।[2] इन्हें योगाचार्य और योगेश्वर की[3] उपाधियाँ भी दी हैं। भागवत के अनुसार तो इन्हों ने योगियों को देहत्याग की विधि सिखलाने के लिए ही अपना शरीर त्याग किया था।[4]

वातरशना श्रमण और जटाधारी ऋषभ-शिव :—

भागवत मे ऋषभदेव के प्राकट्य का हेतु ऊर्ध्वरेता वातरशना श्रमण ऋषियों का धर्मप्राकट्य[5] बताया है। इन्हीं वातरशना मुनियों का उल्लेख ऋग्वेद मे भी आया है — 'वातरशना मुनि (जर्म रूपी) मल धारण करते हैं जिससे वे पिङ्गल वर्ण दिखाई देते हैं।

---

(५) धर्मान्दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां तनुवावतारः। (भाग० ५, ४, २०)

(४) योगिनां साम्परायनिधिमनुशिक्षयन् स्वकलेवरं जिहासुः (भागवत ५, ६, ६)

(३) सर्वयोगीश्वरोऽचिन्त्यः श्रुतात्मा विष्वक्सेनो।
(क) दान्तात्मा दमतीर्थेशो योगात्मा ज्ञानसर्वगः॥१६४महापु०
(ख) महायोगीश्वरः शमी॥१६॥ (महापु० अ० २५)

(२) अजितो जितकामारि (महापु० २५, १६२; २, १६ कामहा)

(१) अखण्डितब्रह्मचर्यमहातेजो विवस्वते।
भगवन्मन्मथध्वान्त मथनाय नमोऽस्तु ते।
(त्रि० ३, २६)

जब वे वायु की गति प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं तब वे अपने तप की महिमा से दीप्त हो कर देवत्व को प्राप्त हो जाते हैं।[1] वे मुनि बताते हैं—'हमने समस्त लौकिक व्यवहार को त्याग दिया है। हम मौनवृत्ति से उन्मत्तवत् अशरीरी ध्यानवृत्ति को प्राप्त होते हैं। तुम साधारण लोग हमारे बाह्य शरीर मात्र को देख पाते हो।'[2] आ० राजकुमार जैन का कहना है[3]—"वातरशना मुनियों के वर्णन के प्रारम्भ में केशी की निम्न स्तुति है जो इस तथ्य की अभिव्यञ्जिका है कि केशी इन वातरशना मुनियों के प्रधान थे।—'केशी अग्नि जल स्वर्ग तथा पृथ्वी को धारण करता है। केशी विश्व के समस्त तत्त्वों का दर्शन कराता है और केशी ही प्रकाशमान ज्योति है।'[4]---सामान्यतः केशी का अर्थ केशधारी होता है, परन्तु सायणाचार्य ने 'केशस्थानीय रश्मियों को धारण करने वाला' किया है और उसका अर्थ सूर्य निकाला है; परन्तु प्रस्तुत सूक्त में जिन वातरशना साधुओं की साधनाओं का उल्लेख है उनसे इस अर्थ की कोई संगति नहीं बैठती। केशी स्पष्टतः वातरशना मुनियों के अधिनायक हैं जिनकी साधना में मलधारण मौनवृत्ति और उन्मादभाव का विशेष उल्लेख है। सूक्त में आगे उन्हें देवदेवों के मुनि

---

④ केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते ॥ऋ०१०,१३६,१

③ हजारीमल स्मृतिग्रन्थ पृ०६१० से उद्धृत

② उन्मादिता मौने येन वातां आ तस्थिमा वयम्।
शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभि पश्यथ॥ऋ० १०,१३६,३

① मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षतः॥
(ऋ० १०,१३६,२)

उपकारी तथा हितकारी सखा बताया गया है[1]। भागवत में उल्लेख है — 'ऋषभ भगवान के शरीर मात्र परिग्रह शेष रह गया था। वे उन्मत्त के समान दिगम्बर वेष धारी, बिखरे हुए केशों सहित, आहवनीय अग्नि को अपने धारण किए हुए ब्रह्मावर्त देश से प्रव्रजित हुए। वे जड़, मूक, अन्ध, बधिर, पिशाचोन्मादयुक्त जैसे अवधूत वेष में लोगों के बुलाने पर भी मौनवृत्ति धारण किए हुए शान्त रहते थे[2]। — 'सब ओर लटकते हुए अपने कुटिल, जटिल, कपिश केशों के भार सहित अवधूत और मलिन शरीर के साथ वे ऐसे दिखाई देते थे मानो उन्हें कोई भूत लगा हो[3]।' - - - - - - - - भगवान ऋषभदेव के कुटिल केशों का अंकन जैन मूर्तिकला की एक प्राचीनतम परम्परा है जो आज तक बराबर अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है। यथार्थतः समस्त तीर्थङ्करों में केवल ऋषभदेव की ही मूर्तियों के शिर पर कुटिल केशों का रूप दिखलाया जाता है। यही उनका प्राचीन विशेष लक्षण भी माना जाता है। (भगवान् ऋषभदेव के दीक्षा लेने के उपरान्त तथा आहार लेने के पूर्व एक वर्ष के साधक जीवन में उनके केश बहुत बढ़ गए थे ← ऐसा महापुराणकार जिनसेन ने भी लिखा है[4]) ऋषभदेव के 'केशरियानाथ' नामान्तर में भी यही रहस्य

---

④ संस्कारविरहात् केशा जटीभूतास्तदाबिभो।
नूनं तेऽपि तमःक्लेशमनुसोढुं तथा स्थिताः॥
मुनेर्मूर्ध्निजटा दूरं प्रसस्रुः पवनोद्धता।
ध्यानाग्निनेव तप्तस्य जीवस्वर्णस्य कालिका॥ महापु० १८, ७५-६

③ परागलम्बमानकुटिलजटिलकपिशकेशभरि-
भारोऽवधूतमलिननिजशरीरेण। (भाग० ५, ५, ३१)

② भागवत ५, ५, २८ और २६

① मुनिर्देवस्य देवस्य सौमित्र्याय सखा हितः (ऋ० १०, १३६, ४)

निहित मालूम देता है (राजस्थान के उदयपुर जिले का एक तीर्थ केशरियातीर्थ के नाम से प्रसिद्ध है जो दिगम्बर, श्वेताम्बर एवं वैष्णवादि सम्प्रदाय वालों को समान रूप से मान्य एवं पूजनीय है तथा जिसमें भगवान् ऋषभ देव की एक अत्यन्त प्राचीन सातिशय मूर्ति प्रतिष्ठित है) केश(केश) और जटा तीनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। जिस प्रकार सिंह अपने केशों के कारण केशरी कहलाता है, उसी प्रकार केशी और केशरियानाथ या ऋषभनाथ के वाचक प्रतीत होते हैं। इस प्रकार ऋग्वेद के केशी और वातरशना मुनि एवं भगवान के ऋषभ तथा वातरशना श्रमण ऋषि एवं केशरियानाथ ऋषभतीर्थङ्कर तथा उनका निर्ग्रंथ सम्प्रदाय एक ही सिद्ध होते हैं। ऋग्वेद की एक ऋचा[१] से केशी और ऋषभ के एकत्व का समर्थन होता है →---

"मुद्गल ऋषि के सारथी केशी वृषभ जो शत्रुओं का विनाश करने के लिए नियुक्त थे, उनकी वाणी निकली जिसके फलस्वरूप जो मुद्गल ऋषि की गौएं (इन्द्रियां) जुते हुए दुर्धर रथ (शरीर) के साथ दौड़ रही थीं वे निश्चल होकर मुद्गलानी (स्वात्मवृत्ति) की ओर लौट पड़ीं। तात्पर्य है कि ऋषि की जो पराङ्मुखी इन्द्रियां थीं वे उनके योगयुक्त ज्ञानी नेता केशी वृषभ के धर्मोपदेश को सुन कर अन्तर्मुखी हो गईं।"

ऋषभदेव की ही भांति शिव को भी वैदिक ग्रन्थों में जटाजूटधारी बताया गया है। ऋग्वेद यजुर्वेद[२] में उनको 'कपर्दिन' कहा है जिसका अर्थ है जटाजूटधारी।

---

[२] ऋग्वेद १,१४४,१ और ५; यजु० १६, ५१

[१] ककर्दवे वृषभो युक्त आसीदवावचीत्सारथिरस्य केशी।
दुर्धर्युक्तस्य द्रवतः सहानस ऋच्छन्तिष्मा निष्पदो मुद्गलानीम्॥
(ऋ० १०, १०२, ६)

वायुपुराण में भी शिव को सुन्दर केशों वाला बताया गया है।[१] इसके अतिरिक्त शिव की जटाओं से गंगावतरण की कथा का तो अनेकशः उल्लेख है ही। उनकी सभी साकार प्रतिमाएं भी जटाजूट सहित प्राप्त होती हैं।

<u>ऋषभ-शिव द्वारा (ज्ञान-) गंगावतरण</u> :— ※

वैदिक मान्यतानुसार जब गङ्गा आकाश से अवतरित हुई तो <u>दीर्घकालतक</u> शिव जी के <u>जटाजूट में</u> भ्रमण करती रही, फिर बाद में भूतलपर अवतरित हुई। इस रूपक का वास्तविक रहस्य यह है कि पहले तो ज्ञानगंगा अप्रत्यक्ष रीति से उनके मस्तिष्क में प्रवाहित होती रही, बाद में दिव्य वाणी द्वारा प्रस्फुटित हो कर संसार का उद्धार करने के लिए प्रत्यक्ष हो गई।

जैन मान्यतानुसार गंगानदी (अत्यधिक ऊंचाई के द्योतक) हिमवान् पर्वत के <u>पद्म</u>[२] नामक सरोवर से और वहाँ से पूर्व दिशा की ओर बहते हुए भूतल पर अवतीर्ण होती है जहाँ नीचे गंगाकूट पर एक विस्तृत चबूतरे पर आदि जिनेन्द्र ऋषभ की जटाजूट वाली अनेक प्रतिमाएं हैं, जहाँ पर हिमवान पर्वत के ऊपर से गंगा की धारा गिरती है। जैनाचार्य यतिवृषभ[३] ने प्रस्तुत गंगावतरण का इस प्रकार वर्णन किया है।— "गंगा कूट के ऊपर आदि जिनेन्द्र वृषभ की जटारूप मुकुट से शोभित प्रतीमाएं हैं; प्रतीत होता है कि उन प्रतिमाओं का अभिषेक करने की अभिलाषा से ही गंगा उनके ऊपर गिरती है।' जैन

---

③ आदिजिणप्पडिमाओ ताओ जड-मउड-सेहरुल्लाओ।
पडिमोवरिमिव गंगा अभिसित्तुमणा व सा पडदि॥ त्रिलोकप्रज्ञप्ति (४, २३०)

② ऋषभदेव का ही एक नाम पद्म है। जैन कवि अमरचन्द्र सूरि ने "पद्मानन्द" महाकाव्य में ऋषभ के चरित्र का ही वर्णन किया है।

※ गंगावतरण के विचार इ. ग्रन्थ ६२८ से लिए गए हैं।

① सुचारु रुचास्यकेशाय ऊर्ध्वचक्षुः शिवाय च (वायु २४, १०६)

आचार्य नेमिचन्द्र ने गंगावतरण का वर्णन इस प्रकार किया है — "देवी के गृह के शीर्ष पर स्थित कमल की कर्णिका के ऊपर सिंहासन पर विराजमान जो जटासप मुकुट वाली जिनमूर्ति है उसका अभिषेक करने के लिए ही मानों गंगा उस मूर्ति के मस्तक पर हिमवान से अवतीर्ण हुई है"[1]।

कैलासवासी ऋषभनशिव :—

वैदिक मान्यतानुसार शिव कैलास पर्वत पर निवास करते हैं, तो जैनमान्यता में ऋषभ को अष्टापद पर्वत से विशेष सम्बन्धित किया गया है क्यों कि उनके जीवन से सम्बन्धित सभी महोत्सव अष्टापद पर्वत पर ही मनाए गए हैं। वहीं उन्हो ने धर्मदेशना दी, योगनिरोध किया और शिवगति भी वहीं प्राप्त की।

कैलास, अष्टापद, मेरु, हराद्रि, और शत्रुञ्जय एक ही पर्वत के नाम हैं :—

जिनसेनाचार्य के अनुसार ऋषभ सुमेरु[2] पर्वत को प्राप्त हुए थे इससे उन्हें ऋषभ (ऋक्ष् अर्थात पर्वत) कहा गया है। महापुराण मे जिनसेन ने अष्टापद पर्वत के स्थान पर हर जगह मेरु पर्वत का ही उल्लेख किया है जिससे सिद्ध होता है कि मेरु और अष्टापद एक ही हैं।

हेमचन्द्र ने शत्रुञ्जय[3] पर्वत को भी ऊँचाई अष्टापद की ही भांति ८ योजन बताई है जिस पर ऋषभ को आरूढ बताया है। सम्भव है कि क्रोधादिक कषायों

---

(३) (क) प्रापदष्टापदमहाचलम् -- अष्टयोजनमानेनोच्छ्रायेण। (त्रि. ६, ८८४१०१)
(ख) शत्रुञ्जयं ययौ -- तमष्टयोजनोत्सेधमारुरोह। (त्रि. ६, ४१६)

(२) मेरुमृष्टवानृषभोऽध्यसि ॥ (महापु. २४, ७०)

(१) सिरिगिहसीसट्ठियंबुजकण्णियसिंहासणं जगमरलं।
जिणमभिसित्तुमणो वा ओदिण्णा मत्थए गंगा ॥
(त्रिलोकसार गा. ५६०)

पर विजय प्राप्त करने वाले उसी अष्टापद को ही बाद में शत्रुञ्जय नाम दिया गया हो क्यों कि ऋषभदेव की अधिकांश मोहान्धकार नाशक देशना तो अष्टापद पर्वत पर ही बताई गई है।

हेमचन्द्राचार्य ने स्पष्टतः अष्टापद को ही कैलाश, हराद्रि और स्फटिकादि आदि नामों का धारक बताया है[1] जिससे पूर्णतः सिद्ध होता है कि पहले अष्टापद को ही कैलाश पर्वत कहा जाता था। यही कारण है कि शिवपुराण[2] में भी ऋषभ जिनेश्वर के रूप में शिव का अवतार कैलाश पर्वत पर दिखाया गया है।

<u>ऋषभशिव का वास्तविक धाम परमधाम अर्थात् पारलोक है:—</u>

शिवलिङ्ग और ऋषभ की प्रतिमाएं सदा ऊँचे स्थान पर स्थापित की जाती हैं। उदा० शिव के अमरनाथ, केदारनाथ आदि ~~मन्दिर~~ प्राचीन मन्दिर ऊँचे पर्वतों पर ही मिलते हैं। जिनेन्द्रदेव की प्रतिमाएं भी दिलवाड़ा मन्दिर आदि पर्वतीय ऊँचे स्थलों पर ही प्रतिष्ठित की गई हैं। प्राचीन काल में सोमनाथ के मन्दिर में हीरे का शिवलिङ्ग ऊपर आकाश में चुम्बकीय आकर्षण के आधार पर लटकाया गया था। इन सब बातों से सिद्ध होता है कि ऊँचा व्यक्तित्व ऊँचे स्थान का ही अधिकारी होने से स्वशक्ति के अनुसार ही ऊँचा पद ग्रहण कर लेता है। स्पष्ट है कि इस मानवीय ~~सृष्टि श्रेष्ठतम सृष्टि~~ के उत्कृष्टतम पुरुष ऋषभशिव, मूलतः सूरज, चाँद, सितारों की दुनियाँ से भी पार—पारलोक अर्थात् लोकाग्र के वासी हैं जहां से वे स्वयं ही अवतरित हो

---

② उद्धरण दे० पृ० ७ पा० टि० ५

① ततः प्रभृति शैलोऽसौ नाम्नाऽष्टापद इत्यभूत्।
लोके हराद्रिः कैलाशः स्फटिकाद्रिश्च कीर्त्यते॥
(त्रि० ६, ६३७)

कर अपने श्रेय से भूले बिसरे मानवों को इस निर्भय आत्मलोक का उपदेश दिया करते हैं[1]। यही कारण है जैन और जैनेतर शास्त्रों में ऋषभ[2]-शिव[3] को परमेष्ठी, (उच्चतमस्थान मे स्थित) परमधामवासी, त्रिलोकाग्र व्योममूर्ति, हेमगर्भ, शिखामणि, सर्वलोकातिग आदि नामों से अनेकशः पुकारा गया है। गीता मे कहा है- 'उस परमपद को न सूर्य प्रकाशित करता है, न चन्द्रमा न अग्नि। जहाँ जाकर (प्राणी) फिर नहीं लौटते, वही मेरा परमधाम[3] है।' महाभारत के अनुसार ऋषि, देव और गन्धर्व शिव[4] के ऊर्ध्वलोक स्थित लिंगविग्रह[5] की पूजा करते हैं। कुरानशरीफ मे भी कहा है- 'तो ईश्वर जो सच्चा महाराजा है, ऊँचे से ऊँचा है, उसके सिवाय कोई पूज्य नहीं, वही ऊँचे आकाश का स्वामी है।'

---

(५) कुरान २३, ११६

(४) ऋषयश्चैव देवाश्च गन्धर्वाप्सरसस्तथा।
(क) लिङ्गमस्यार्चयन्ति स्म तच्चाप्यूर्ध्वं समास्थितम्॥ १२५
(ख) योगं योगेश्वरं सर्वं वरिष्ठं परमेष्ठिनम्॥ १५
महाभा० द्रोणपर्व २०२, १२५क१५

(३) न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ गीता १५,६

(२) (क) त्रिलोकाग्रशिखामणि -- सर्वलोकातिगः। महापु २५,१६०-१
(ख) दिक्ष्वन्याष्वपि तिसृषु रूपाणि परमेष्ठिनः। त्रि० ६,१३३
(ग) परः परतरः सूक्ष्मः परमेष्ठी १०५॥ परमेष्ठी जिनो। महापु० अ २५ श्लो ११२
(घ) व्योममूर्तिरमूर्तात्मा॥ महापु० २५,१२८

(१) नित्यानुभूतनिजलाभनिवृत्ततृष्णः श्रेयस्तदर्थनयाचिरसुप्तबुद्धेः।
लोकस्य यः करुणयाभयमात्मलोकमाख्यान्नमो भगवते ऋषभाय तस्मै॥
(भाग० ५, ६,१६)

निराकार विश्वव्यापकता → ऋषभशिव :—

जैन और जैनेतर दोनों ही परम्पराओं में ऋषभ शिव के अव्यक्त, अमूर्त ज्योतिर्बिन्दु स्वरूप को स्वीकार किया जाता है। उनका वास्तविक स्वरूप तो अणु से भी अणुतम है जो आँखो से भी न दिखाई देने के कारण निराकार कहा जाता है। वैदिक परम्परा में पूजा करने की सुविधा के लिए ही अतिसूक्ष्मतम ज्योतिर्बिन्दु शिव का बड़ा आकार शिवलिङ्ग बनाया गया है। वेद-पुराण उपनिषदों से लेकर आज तक मन्दिरों मे भी उसी लिङ्ग आकार, अमूर्त (जिसको किसी प्राणी जैसी मूर्ति न हो) शिव की महिमा का सबसे अधिक गायन है क्यों कि यही उनका सच्चास्वरूप है। सिन्धुनदी की घाटी मे भी लिङ्ग-मूर्तियों की ही संख्या सबसे अधिक पाई गई है। वाल्मीकि रामायण की भाँति महाभारत में भी शिवमन्दिरों का कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं है किन्तु कुछ लिङ्ग-मूर्तियों की चर्चा अवश्य की गई है[१]। महाभारत के उत्तरी संस्करण मे भी इनका वर्णन है। इसके अतिरिक्त सभी पुराणों[२] में भी शिवलिङ्ग की ही महिमा का अधिक वर्णन है। लिङ्गपु। तो समूचा निराकार शिव के स्मृति-चिन्ह—लिङ्ग की महिमा का वर्णन करने के लिए ही लिखा गया है।

महापुराण मे ऋषभदेव को भी अव्यक्त मूर्त स्वरूप मे प्रस्तुत किया गया है। उदा०—वे प्रभु साकार[३] होकर भी निराकार हैं।' x 'आप इन्द्रियो से

---

③ स साकारोऽप्यनाकारो (महापु० २१, ११८)

② उदा० — निष्कलसूक्ष्माव्यक्तः (वायु २५, ७०)

① महाभा० अनु० १४, १६; २२, ६८; द्रोण २२; सौप्तिक पर्व १८ वन १८८, ५० आदि (शां. पृ. ७२)

रहित और ~~इन्द्रियों और~~ अगोचर हैं।[1] आप माता के पवित्र गृह में (निर्लिप्त) कमल रूपी दिव्य आसन पर अपनी उत्कृष्ट शक्ति स्थापन कर उत्पन्न हुए हो (प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया— गीता ४,६) इसलिए वास्तव में आप शरीर-रहित हैं।[2] यद्यपि वे सूक्ष्म हैं तथापि उनके (लिङ्गादि) लक्षण प्रगट हैं; यद्यपि वे भगवान् अमूर्त और अशरीरी हैं, तथापि योगी लोगों के ध्यान के विषय हैं।[3] परमाणु से भी सूक्ष्म होने के कारण अणोऽणीयान् हैं।[4] यद्यपि (सूक्ष्म होने से) आपका प्रत्यक्ष रूप मेघावृत सूर्य की भांति दिखाई नहीं देता तथापि आप के ज्येष्ठ वचनों से आप के प्रत्यक्ष रूप का अस्तित्व सूचित होता है।[5]

गीता[6] भी इसी पुराणपुरुष ऋषभशिव के वास्तविक अणोरणीयान् सूक्ष्म स्वरूप को ही योगियों के ध्यान का विषय बताती है। समूची मानवसंस्कृति के आद्य-निर्माता ऋषभशिव के इस अमूर्त स्वरूप को आज भी विश्व के सभी धर्मावलम्बी मानते हैं;— बाइबल के अनुसार 'God is light' अर्थात् ईश्वर ज्योतिस्वरूप है।[7] अतः भारत

---

(७) बाइबल १ यौहान १,५ ('ख्रिस्तधर्मसार' विनोबाका गुज॰ अनु॰)

(६) कविं पुराणमनुशासितामणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः (गीता ८,९)

(५) रविः पयोधरोत्सङ्गसुप्तरश्मिर्विकासिभिः ।
सूच्यतेऽब्जैर्यथा तद्वद् उद्भैर्नाभिवभवैर्भवान् ॥ महापु॰ १३,१३८

(४) महापु॰ २५,१७६

(३) युक्तोऽसौ योगिनां गम्यः सूक्ष्मोऽपि व्यक्तलक्षणः ॥
अमूर्तो निष्कलोऽप्येष योगिनां ध्यानगोचरः ।
किञ्चिन्न्यूनान्त्यदेहानुकारी जीवघनाकृतिः ॥ मनु॰ २१,११५

(२) गर्भगेहे शुचौ मातुः त्वं दिव्ये पद्मविष्टरे ।
निधाय स्वां परां शक्तिं उद्भूतो निष्कलोऽस्यतः ॥ महापु॰ १५,५८

(१) नमस्तेऽतीन्द्रियज्ञानसुखायानिन्द्रियात्मने (महापु॰ २५,९०)

(१६/एक)

सर्व धर्मों में एक निराकार परमपिता परमात्मा

मे भी शिवलिङ्ग को ज्योतिर्लिङ्गम् (मठ) कहा जाता है। यहूदी लोग उसे 'यहोवाह' नामक अग्नि मानते हैं जिसका साक्षात्कार मूसा को हुआ था। गुरु नानक (जो सिक्खों के गुरु थे) ने 'ऊ निरङ्कार', 'सतगुरु अकाल बहुनाम', 'अकालमूर्त' कह कर उसी निराकार के स्वरूप का संकेत दिया है। जापान मे कुछ बौद्ध लोग आज भी गोल चिकने चमकीले पत्थर को दृष्टि के सम्मुख कर अपना चित्त स्थिर करते हैं।

रात्रि मे[1] च्यवन अथवा अवतरण करने वाले उस देवाधिदेव ऋषभशिव के लिए ही मुस्लिमों की धर्मपुस्तक कुरान मे भी कहा गया है → 'और हे पैगम्बर, तुमक्या समझे कि रात को आने वाला क्या है, वह चमकता हुआ तारा है।' आज भी मुसलमान लोग जब हज करने जाते हैं तब काबा के गोलकाले पत्थर (संग-ए-असवद) का चुम्बन किए बिना उनको हज (यात्रा) पूरी नहीं मानी जाती।

डा० यदुवंशी ने पुरातात्त्विक प्रमाणों के आधार पर[2] प्राचीनतम सभ्य संसार मे भी लिङ्गोपासना के अत्यधिक विश्वव्यापी प्रचार के वर्णनप्रसङ्ग मे लिखा है — 'एक ओर मिस्र मे उन (लिंगों) की उपासना होती थी, जहाँ विशाल और यथार्थ रूपी लिंगो के खुले आम और बड़े समारोह से जुलूस निकाले जाते थे और यन्त्रों द्वारा उनको गति भी दी जाती थी। दूसरी ओर जापान मे भी वे पूजे जाते थे। साधारणतया लिङ्गमूर्तियां अलग कर ली जातीं थी तथा पूजा के लिए सड़कों के किनारे उनको स्थापित कर दिया जाता था। परन्तु लिङ्गोपासना का मुख्य

---

(२) शैवमत पृ० २६-२८ से उद्धृत

(१) (अ) तंत्रावतारयामिन्यां वासागारे प्रसुप्तया (त्रि० २, २१२)
(ब) कुरान ८६, २

केन्द्र था — पश्चिम एशिया, जहाँ बेबीलोन और असीरियन लोगों की महान सभ्यताओं की उत्पत्ति हुई और जहाँ वे फूली फलीं। इस प्रदेश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक किसी न किसी देवता की उपासना के सम्बन्ध में लिङ्ग प्रतीकों की उपासना ~~के साथ~~ होती थी।--- ग्रीक लोगों ने भी यह लिंगमूर्ति, इस देवता की समस्त उपासना के साथ पश्चिम एशिया से ही ली।--- लिंग पूजा समेत इश्तर की उपासना का प्रचार दक्षिण और दक्षिणपूर्व में अरब तथा ईरान में भी फैला हुआ था।'

उपर्युक्त प्रमाणों की व्यापकता के आधार पर पूर्णतः सिद्ध होता है कि ऋषभशिव का यह निराकारी स्वरूप ही यथार्थ होने से प्राचीन काल से लेकर आज तक सर्वत्र स्वीकरणीय रहा है।

अगम्य ऋषभशिव: भगवान् के इस गूढ अव्यक्त स्वरूप को ले कर जहाँ जिनसेनाचार्य[1] ने ऋषभदेव को अनेकों स्थलों पर 'गुह्य', 'गूढात्मा', 'अग्राह्य' आदि अनेक नाम दिये हैं, वहाँ गीता में भी कहा गया है कि 'मानव-शरीर का आश्रय लेने वाले मेरे वास्तविक स्वरूप को मूढ पुरुष नहीं पहचान[2] पाते।' इसका मूल कारण यही है कि वह निराकार आँखों का विषय नहीं है, बुद्धि का विषय है। भागवत में ऋषभदेव स्वयं कहते हैं — 'मेरे इस अवतार शरीर का रहस्य साधारण जनों के लिए बुद्धिगम्य नहीं है।[3] × 'नाम-रूप की महिमा से प्राणियों की बुद्धि विमूढ हो रही है, अतः वे अनेक दर्शन-शास्त्रों द्वारा महिमा तो भगवान की करते हैं किन्तु उनके

---

③ इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यं (भाग० ५, ५, १६)

② अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो ममभूतमहेश्वरम् ॥ (गीता ९, ११)

① महापु० पृ० १५६ से १२६

वास्तविक स्वरूप को नहीं पहचान पाते हैं।[1] महाभारत में भी कहा है कि शिवके वास्तविक स्वरूप को पहचानना अति दुरूह है।[2]

आर्य और अनार्य दोनों के ही पूज्य :—

देवाधिदेव ऋषभशिव किसी वर्गविशेष अथवा सम्प्रदाय विशेष के काल्पनिक आराध्यदेव नहीं थे अपितु यथार्थरूपेण मानवमात्र के आराधनीय विश्व-पिता थे। हेमाचार्य[3] के अनुसार— 'परोपकारिणी पवन-गति' भाँति आर्य और अनार्य दोनों पर उनको समान प्रीति थी। 'जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि' की मान्यतानुसार म्लेच्छ देशों में रहने वाले अनार्य[4] प्राणियों को भी (यौगिक) दृष्टि मात्र से आर्य बनाने वाले प्रभु ऋषभदेव ने उन यवना-इम्बा प्रभृति पिछड़े हुए देशो में लम्बा समय भी क्षणमात्र के समान बिताया था 'क्यों कि पिता अपने अबोध बच्चों पर भी वात्सल्य रखता ही है। यही कारण है कि त्रिषष्टि में एक ही ऋषभदेव को सारे जलाशय के जल में रहने वाले चन्द्रबिम्बा के समान सारे जगत के लोगों के चित्त मे निवास करने वाला बताया है।[5]

---

(५) स्वामिंस्त्वमेको जगतां समं चेतस्सु वर्तसे।
पीयूष दीधितिः सर्वजलाशयजलेष्विव ॥त्रि०४,च१३

(४) यवन्नाडम्ब इत्यादि म्लेच्छदेशेषु मौनभाक्।
अनार्यान् भद्रकीकुर्वन् दर्शनेनापि देहिनः॥त्रि०३,३च७

(३) अप्यार्यामनार्याणां प्रीतये विहरश्चिरम्।
गतिः परोपकाराय भवतः पवनस्य च ॥त्रि० ६, ६४८

(२) ज्ञानज्ञेयं सुदुर्विदम् (महाभा० शांति २०२,१८)

(१) स्तूयमानो जनैरेभिर्भायया नामरूपया।
विमोहितात्मभिर्नानादर्शनैर्न च दृश्यते ॥ भाग०८,१४,१०

वैदिक मान्यतानुसार भी देवता और मानव ही शिव की उपासना नहीं करते अपितु उनसे शत्रुता रखने वाले ~~x~~ दानव भी करते हैं। उदा० जब एक बार ~~विद्युत्केश~~ राक्षस का अभिमान टूट गया तो वह भी शिव का भक्त हो गया[1]। विद्युत्केश दानव को भी शिव ने अमरत्व प्रदान किया था[2]। विष्णु ने कभी किसी दानव को प्रसन्न हो कर वर नहीं दिया और न किसी दानव ने ही विष्णु की उपासना की है क्यों कि वे सदा देवों के पक्षपाती रहे हैं। जब कि शिव का (आर्य-अनार्य) दोनों से ही समान सम्बन्ध रहा है[1]। तात्पर्य है कि सर्वथा और सर्वदा राग-द्वेष रहित भगवान ऋषभशिव ही ऐसे पुरुष हैं जिन्हें सृष्टि के सुर-असुर → आर्य-अनार्य सभी पूजते थे। यही कारण है कि वही एक मात्र विश्ववात्सल्य के अधिकारी विश्वपिता के रूप में जैन और जैनेतर परम्पराओं में समान रूप से प्रस्तुत किए गए हैं।

<u>त्रिशूलाङ्कित ऋषभशिव</u> :—

जैन और वैदिक दोनो ही परम्पराओं में ऋषभशिव को त्रिशूलधारी दिखाया है। त्रिशूलाङ्कित शिवमूर्तियां भी उपलब्ध होती हैं। त्रिशूल में तीन बाण दिखाए जाते हैं जो ऋषभशिव के <u>तीन कर्तव्यों का ज्ञान</u> कराते हैं क्यों कि बाण ज्ञान का ही प्रतीक है।—

(१) नई मानवीय संस्कृति की स्थापना (उत्पत्ति)
(२) जर्जरीभूत बेढंगी संस्कृति का विनाश (व्यय)
(३) नव स्थापित नवयुगी सभ्यता की पालना (ध्रौव्य)

इन तीन बातों के ज्ञान में उनके सर्वाङ्गीण जीवन के रहस्यों और कर्तव्यों का सार समाया हुआ है।

---

[1] वाल्मी० रामायण उ० का० १६, ३४ और ४, २६; शि० पृ० ६३

त्रिशूलाङ्कित त्रिमूर्ति शिव का त्रिपदीय ज्ञान

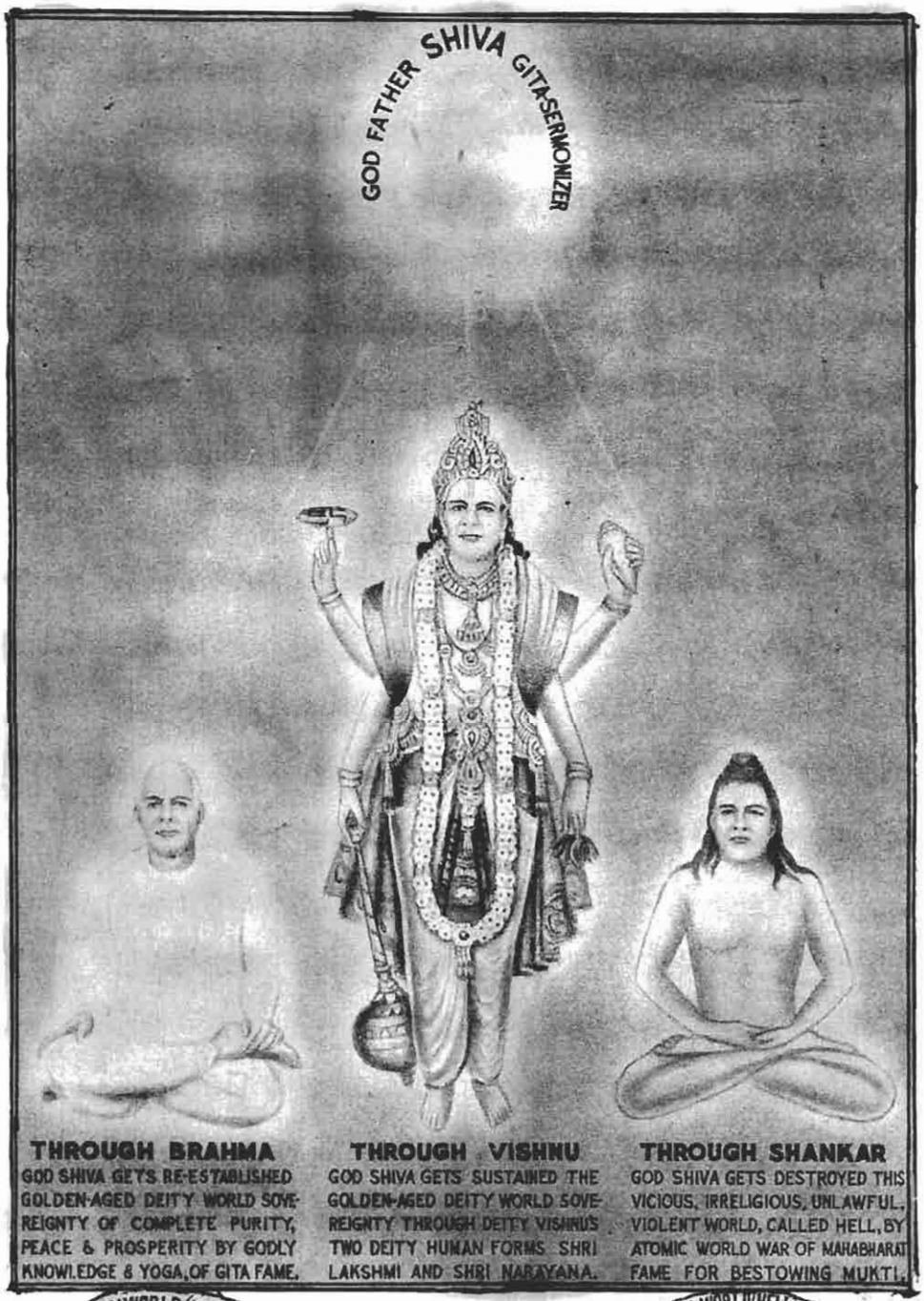

हेमचन्द्र ने ऋषभदेव के इस सारयुक्त त्रिपदीय ज्ञान की तुलना शब्दानुशासन में कहे गए संज्ञासूत्र[१] से की है। अन्य स्थल पर कहा है—जिसमें सर्व शास्त्रों का सार समाया हुआ है ऐसी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य नामक त्रिपदी का ऋषभदेव ने उपदेश दिया था।[२] वैदिक परम्परा में भी यह प्रसिद्ध है कि धर्मग्लानि होने पर परमात्मा ही निगमागम का भेद खोलने के लिए सर्व शास्त्रों का सार सुनाते हैं।

इस प्रकार ऋषभदेव के 'उत्पाद-विगम-ध्रौव्य' वाले इस त्रिपदीय ज्ञान का तात्पर्य सृष्टि के आदि-मध्य-अन्त के ज्ञान से है। पुराने जीर्ण-क्षीण दुःखदायी सृष्टि रूपी मकान को जब तक मकान का स्वामी गिराए गा नहीं, नए मकान का निर्माण असम्भव है। इसीप्रकार नए मकान की सामग्री (ज्ञान-योग की भट्ठी में पकाई गई आत्मा रूपी ईंटें) जब तक तैयार न हो जावें, तबतक पुराने मकान को कोई मकानमालिक गिराता भी नहीं है। इसतरह पहले स्थापना फिर विनाश कार्य जैसे अवश्यंभावी और अरस-परस हैं वैसे ही नवनिर्मित सृष्टि रूपी मकान को धारण करने की शक्ति भी कालक्रमानुसार आवश्यक है जिसे पालना या पोषण भी कहते हैं। जैन[३] दर्शन में इस क्रम को अर्थात् उत्पाद-व्यय-और ध्रौव्य— इन तीनों से युक्त को ही सत् कहा गया है।' अतः जैन परम्परा

---

③ ~~शब्दानु~~ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् । तत्वार्थ सू. ५, २९

② उत्पादो विगमो ध्रौव्यमिति पुण्यां पदत्रयीम् ।
उद्दिदेश जगन्नाथः सर्वविद्यामयातृकाम् ॥ त्रि. ३, ६६१

① शब्दानुशासनव्यापि संज्ञासूत्रोपमा प्रभो ।
जन्म-व्यय-ध्रौव्यमयी जयति त्रिपदी तव ॥ त्रि. ४, ७८३

में इसी क्रमिक सिद्धान्त के कारण सृष्टि सत् कही गई है; वेदान्त दर्शन की भांति असत् और मिथ्या नहीं। अतः स्पष्ट है कि स्थापना के बाद विनाश भी अवश्यम्भावी है, वरना यदि पुरानी मान्यताएं, परम्पराएं वा रूढियां बनी रहें तो ऋषभदेव को नवयुग प्रवर्तक कहना ही मिथ्या हो जाए।

इस त्रिपदीय ज्ञान को सूचित करने के लिए अर्हन्तमूर्तियों को त्रिशूलाङ्कित दिखाया गया है। त्रिशूलाङ्कित जैनमूर्तियों का उल्लेख ग० हीरालाल[1] जैन ने इस प्रकार किया है :— "(सिंधघाटी की त्रिशृङ्गयुक्त) मूर्ति के सिर पर स्थापित त्रिशूल उस त्रिशूल से तुलनीय है जो अतिप्राचीन जैनतीर्थङ्कर मूर्तियों के हस्त व चरण तलों पर पाया जाता है जिस पर धर्मचक्र स्थापित देखा जाता है और विशेषतः जो राजा गुम्फा के एक तोरण[2] के ऊपर चित्रित है।" ग० राजकुमार जैन के शब्दों में— "सिन्धु उपत्यिका से प्राप्त मुद्राओं पर भी कुछ ऐसे योगियों की मूर्तियां अङ्कित हैं जो दिगम्बर हैं जिनके सिरपर त्रिशूल हैं और कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानावस्थित हैं, कुछ मूर्तियाँ वृषभाङ्कित हैं। मूर्तियों के ये दोनो रूप महान्योगी वृषभदेव से सम्बन्धित हैं। इसके अतिरिक्त खण्डगिरि की जैनगुफाओं (ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी) में तथा मथुरा के कुषाणकालीन जैन आयागपट्ट आदि में भी त्रिशूल चिन्ह का उल्लेख मिलता है[3]। डा० राव ने इस त्रिशूल चिन्ह

---

[3] Smith Jain Stupa and other Antiquities of Mathura Aryegapatta tablets pls. IX, X & XI

[2] हजारी मल स्मृति ग्रन्थ पृ० ६२८

[1] जैनधर्म का योगदान पृ० ३५३

तथा मोहनजोदड़ो की मुद्राओं पर अंकित त्रिशूल में आत्यन्तिक सादृश्य बताया है।'

वैदिक ग्रन्थों मे भी अनेकशः त्रिदेव के रचयिता त्रिमूर्ति शिव का वर्णन उपलब्ध होता है। वहाँ उन्हे ब्रह्मा पद के द्वारा सृष्टि की स्थापना, विष्णु पद द्वारा पालना और शंकर द्वारा विनाश कराने का मूल कारण बताया गया है। उदा० लिङ्ग-पुराण[1] में त्रिमूर्ति शिव के इस रहस्य का वर्णन करते हुए कहा है— 'वह महेश्वर प्रधान प्रकृति का आधार लेते हैं (प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य गीता ९,८) और पुरुष में प्रवेश करते हैं (मानुषीं तनुमाश्रितम् गीता ९,११) तभी महेश्वर से तीन देवता (ब्रह्मा-विष्णु-शंकर) उत्पन्न हुए जिनसे इस सृष्टि के कार्यों का सम्पादन हुआ।'

आशय यह है कि वह निराकार ज्योतिबिन्दु ऋषभशिव जो सदाशिव होने और कर्मबन्धन मुक्त होने कारण कभी देह के बन्धन में नहीं बँधते वे दिव्य[2] जन्मा किसी साधारण पुरुष तन में प्रवेश कर के उसके मुख द्वारा ज्ञान और दृष्टि द्वारा योग सिखाने का केवल सत्त्व गुणी कार्य करते हैं। जिस मानव शरीर में प्रवेश करते हैं उसका नाम आदिदेव ब्रह्मा रखते हैं जिनके मुख से ज्ञान द्वारा द्विजन्मा ब्राह्मणों की सृष्टि होती है जो मानसी सृष्टि कही जाती है। ऐसे नहीं कि मशीन की भांति ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण निकल पड़े थे। यही ब्रह्मा जब ज्ञानयोग की भट्ठी मे मनुष्यात्माओं को-

---

(२) क- त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यां आविवेश। (ऋ० ४,५८,३)
ख- जन्म कर्म च मे दिव्यं (गीता ४,९)
ग- स्वयंज्योतिरजोऽजन्मा ब्रह्मयोनिरयोनिजः। महापु० २५,१०६

① प्रधानं पुरुषं चैव प्रविश्य स महेश्वरः॥
महेश्वरात्रयो देवा जज्ञिरे जगदीश्वरात्। (लिङ्ग० ५०,७६-७)

पक्का कर ले अर्थात् धर्मकर्मश्रेष्ठ ब्राह्मण बना कर दैवीय गुण-कर्म-स्वभाव की स्थापना कर देते है तब शंकर का रूप धारण कर बाकी अभव्य देहधारियों का आसुरी संस्कारों सहित (आणविक शक्ति तथा भूकम्पादि प्राकृतिक आपदाओं द्वारा) विनाश कराने के निमित्त माने जाते हैं क्यों कि सब तो सुधरने वाले हैं नहीं, सिताय भव्यजीवों के (अर्थात् ३३ करोड़ देवात्माएं) । बीज स्वरूप थोड़े मनुष्यों के शेष रहने पर फिर वही ब्रह्मा (और उनकी ज्ञानपुत्री सरस्वती—ब्राह्मी) अगले जन्म मे लक्ष्मी-नारायण के रूप में नई सुखी सृष्टि की श्रेष्ठतम पालना करने के निमित्त बनते हैं। इसी लिए वैदिक ग्रन्थों में विष्णु चतुर्भुज द्वारा पालना का कार्य दिखाया गया है जो गृहस्थ आश्रम मे मिल-जुल कर रहने का प्रतीक मात्र है (वास्तव मे चार हाथ का कोई व्यक्ति होता नहीं है) इन्ही विष्णु द्वारा प्रजा के भरण-पोषण का कार्य मानव इतिहास मे इतना श्रेष्ठतम है कि आज भी इनके अपर नाम भरत (भरण-पोषणकर्ता) के आधार पर हमारे देश का नाम भारतवर्ष है।

इस प्रकार ब्रह्मा-विष्णु-शंकर नाम के ये तीन पद ऋषभशिव की 'त्रिपदी' के तीन महान कर्तव्यों के निमित्त मात्र सूचक हैं और मात्र समझने तथा समझाने के लिए हैं। इन देवों के साम्य और ऐक्य की बात वैदिक ग्रन्थों में ही नहीं जैन ग्रन्थों मे भी है।[1][2]

---

② त्वामामनन्ति मुनयः पुरुष पुराणम् (ब्रह्मा)।
त्वांग्राहुरच्युतमृषीश्वरमक्षयर्द्धिम् (विष्णु)।
तस्माद्भवान्तक (शंकर)॥ महापु० २३, १५८

① → यो वै ब्रह्मा स वै विष्णुः यो विष्णुः स शंकरः।
एक मूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णु शंकराः॥ (संज्ञात)

ऋषभशिव ही माता-पिता और सच्चे सद्गुरु हैं :—

कर्तव्य के आधार पर त्रिपदी या त्रिशूल का एक विशेष अर्थ यह भी है कि वे प्रभु इस दुःखी मृत्युलोक में आकर माता[१]-पिता और सद्गुरु[२] का पद ग्रहण करते हैं। आज भी लौकिक व्यवहार में इन तीन पदों को सदा कल्याणकारी माना जाता है, क्योंकि यह तीनोंही पद ऐसे हैं जो सदा बालक को अपने से भी ऊँचा और सुखी देखना चाहते हैं। ऋषभदेव भी पिताश्री के रूप में द्विजन्मा ब्राह्मणवत्स बनाते हैं, माताश्री के रूप में ज्ञान और योग रूपी खुराक देकर हम निर्बल आत्माओं को पालना करते हैं और सद्गुरु के रूप में गतिसद्गतिदाता बन कर वापस घर (लोकाग्र) ले जाते हैं। त्रिषष्टि[३] के अनुसार तो — 'जैसा हित (लौकिक) माँ-बाप-गुरु-स्वामी भी नहीं करते वैसा अकेला होनेपर भी अनेक रूप होकर आप करते हैं।' इन तीन सर्वोत्तम कल्याणकारी पदों का कर्तव्य-पालन करने के कारण ऋषभदेव का ही अन्य ज्येष्ठतम नाम है 'शिव' अर्थात् कल्याणकारी। इसी लिए तो शिव[४] पुराण में कहा है — 'सम्पूर्ण कल्याण-गुण के घन ईश्वर को ही शिवतत्त्ववेत्ताओं ने 'शिव' कहा है। यहीं उनके नित्य

---

④ अथवाऽशेषकल्याणगुणैकघन ईश्वरः।
शिव इत्युच्यते सद्भिः शिवतत्त्वार्थविद्भिः॥ शिवपु० वायु ६, ३०

③ पिता-माता गुरुः स्वामी यत्सर्वेऽपि न कुर्वते।
एकोऽत्यनेकीभूयेव त्वं हितं विदधासि तत्॥ त्रि० ६, २६६

② पूर्वेषामपि गुरुः (योगदर्शन, पातञ्जल, १, २६)

① पिताहि लोकस्य चराचरस्य। गीता ११, ४३

① पिताऽहमस्य जगतः माता धाता पितामहः। गीता ६, १७

प्रतिपादक प्रमुख आठ नाम गिनाए हैं जिनमें शिव पहला है और उन्हें 'पितामह' भी कहा गया है।[1]

श्वेतवस्त्रधारी और नग्न ऋषभशिव :—

श्री यदुवंशी ने महाभारत से प्रमाण देते हुए कहा है कि शिव साधारणतया श्वेतवस्त्रधारी ही थे।[2] यह उनका प्राथमिक सौम्य स्वरूप है जो पहले पहल ब्रह्मा के रूप में स्नेह और वात्सल्य का सूचक है। श्वेताम्बर जैन परम्परानुसार ऋषभदेव भी श्वेतवस्त्रधारी थे। हेमचन्द्राचार्य ने लिखा भी है — 'श्रमणमुनि निष्कषाय होने से श्वेतवस्त्र धारण करते हैं।'[3] यहाँ तक कि सुन्दरी और श्रुति-काएं भी श्वेतवस्त्र धारण करती हैं।[4] स्वयं प्रभु ऋषभदेव के सिरहाने शक्र ने नदी कूल पर रहने वाली साफ-सुन्दर हंसमाला के विलास को धारण करने वाले श्वेत वस्त्र[5] रखे जिससे स्पष्ट होता है कि ऋषभदेव तो पहले से ही निष्कषाय होने के कारण श्वेतवस्त्र धारण करते थे। परन्तु भागवत में उल्लेख है — 'ऋषभदेव वस्त्र[6] त्याग कर सर्वथा दिगम्बर हो गए थे, जिसका वास्तविक अर्थ जिनसेनाचार्य के अनुसार यह है — 'भगवान ऋषभदेव आत्मा को शरीर (सवीवस्त्र) से भिन्न देखते थे --- इसतरह शरीर में निस्पृह रहने वाले भगवान् व्युत्सर्ग नामक

---

[6] उन्मत्त इव गगनपरिधानः (भाग० ५, ५, २८)

[5] कूलिनीकूललालित हंसमालाविलासमृत्—।
एकं दुकूलं युगलमुच्छ्वासेवोर्ध्व सोऽमुचत्प्रभोः॥ त्रि० २, ६१६

[4] 'सुन्दरी शीलसुन्दरी॥ कर्पूरधूलिधवलैर्वाससो भिरूपशोभिनी।' (त्रि० ४, ७६५)

[3] → श्वेतवस्त्रधरा सेते ---। त्रि० ६, २१

[2] महाभा० अनु० १५१, ३ (शां० पृ० ७१)

[1] शिवपु० वायुसंहिता ६, २३

तप का अच्छी तरह पालन करते थे।[1] वैदिक परम्परा में शिव को नग्ननटराज—रौद्ररूप की मूर्तियां व चित्र आदि भी मिलते हैं। इस तरह श्वेताम्बर-दिगम्बर का यह भेद का रहस्य वास्तव में प्रतीकात्मक है, वास्तविक नहीं; क्यों कि समूचे भारतीय आध्यात्मिक वाङ्मय में वस्त्र शरीर (रूपी चोले) का प्रतीक है। उदा० गीता में कहा है—'शरीर रूपी पुराने वस्त्र[2] को त्याग कर आत्मा नया वस्त्र धारण करता है' (२,२२)।

इस प्रकार स्पष्ट है कि ऋषभशिव ने पहले पहल सौम्य रूप धारण कर प्यार और स्नेह पूर्वक नवीन मानवीय संस्कृति की स्थापना का कार्य पूरा किया था। इसतरह श्रेष्ठ भव्य जीवों के सुधर जाने पर बाद में जब वे शरीर रूपी वस्त्र को भी त्याग कर नंगे अर्थात् वास्तविक सूक्ष्म ज्योतिबिन्दु स्वरूप में आ गए, तब जैसे पुराने वृक्ष को जड़ों से नया झाड़ निकल आने पर अर्थहीन पुराना झाड़ ~~नष्ट हो~~ स्वयं ही कुछ समय बाद नष्ट हो जाता है और नया झाड़ बच जाता है उसी प्रकार सृष्टि के कष्टदायी, विकारी, अभव्य देहधारियों का स्वतः ही कालक्रमानुसार भूकम्पादि प्राकृतिक प्रकोपों तथा आणविक शस्त्रादि द्वारा विनाश हो जाता है और योगबल सम्पन्न भव्य दैवी स्वभाव वाले (quality, not quantity) थोड़ी निर्विकारी जनसंख्या सुखी सृष्टि पर रह जाती है और इस तरह स्वर्णिम नवीन युग का

---

[2] वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि अन्यानि संयाति नवानि देही॥

[1] देहाद् विविक्तमात्मानं पश्यन् गुप्तित्रयीं श्रितः।
व्युत्सर्गं स तपो भेजे स्वामिन् गोत्रेऽपि निस्पृहः॥ भाग० २,७।१

आगमन हो जाता है। इस प्रकार यद्यपि कल्याणकारी ऋषभशिव स्वयं विनाशकार्य नहीं करते, फिर भी अभव्य जनों को आत्मा में यही दुर्विचार का संस्कार जम जाता है कि शरीर रूपी चोले का त्याग करने वाले शिव ने ही यह विनाश कराया क्यों कि उनके व्यक्त रूप में रहते तो ऐसा अनर्थ हुआ ही न था, बाद मे ही क्यों हुआ। यही कारण है कि शिव के नग्न, विनाशकारी रौद्र स्वरूप का चित्रण वैदिक साहित्य मे भी किया गया है जिसके वास्तविक रहस्य को न जान कर, अंधानुकरण करते हुए लोगों ने पञ्चभौतिक शरीर को ही असभ्यता-पूर्वक नंगा रखना आरम्भ कर दिया।

चतुर्मुखी ऋषभशिव :—

जैन और वैदिक दोनो ही परम्पराओं मे ऋषभशिव को चतुर्मुखी दिखाया गया है। भारत में आज भी अनेक प्राचीन मन्दिरों मे चतुर्मुखी शिवलिङ्ग (मुखलिङ्ग) की स्थापना पाई जाती है। 'प्रथम-द्वितीय सदी के दुविष्क के सिक्के मे भी शिव को चतुर्मुखी दिखाया गया है जिसका तिलोत्तमा प्रसंग मे वर्णन है।'[1]

महापुराण[2] में वृषभदेव को चतुरानन, चतुर्वक्त्र, चतुरास्य, चतुर्मुख उपाधियों से विभूषित किया गया है। चैत्य वर्णन प्रसंग में (शिव की ही भाँति) जगत की सृष्टि और संहार के मुख्य कारण देवाधिदेव वृषभ को चारों ओर से घेरने वाले चार[3] मुखों की शोभा से युक्त हैं।

---

② सुकृती धातुरित्यर्थाद्दः सुयजनश्चतुराननः।
जगन्निवासश्चतुर्वक्त्रश्चतुरास्यश्चतुर्मुखः॥ महापु० २५, १६५

③ चतुर्वक्त्रशोभं -- जगत्सृष्टिसंहारयोर्हेतुमाद्यम्। महापु० २३, ६२

① शैवमत पृ० ६२ (कलकत्ता म्युज़ियम कैटालॉग आर्कियोलॉजी)

इसी प्रसंग में हेमचन्द्र ने भी लिखा है — 'प्रभु के सिंहासन पर आ विराजने के उपरान्त तत्काल ही शेष तीनों दिशाओं के सिंहासनों पर व्यन्तर देवों ने भगवान के तीन रूप बना कर रखे।' X 'प्रभु के हरेक मस्तक के फिरने से जो भामण्डल (सूर्यचक्र) प्रगट हुए उनके सामने सूर्य-जुगनू सा मालूम होने लगा।'

आज भी इन्हीं त्रिमूर्ति अथवा चतुर्मुखी ऋषभशिव को यादगार में भारतीय राजकीय स्टाम्पों, नोटों, पत्रों आदि पर पुरुषों (आत्माओं) के सिंह स्वरूप ऋषभ के ही इन मुखों के प्रतीक ३ या ४ शेरों की मुखाकृति, 'अशोक की लाट' और 'चक्र' नामक चिह्न द्वारा प्रदर्शित की जाती है जो इस बात की सूचक है कि महाराजा अशोक ने इनका निर्माण उसी पुराणपुरुष की महिमा में कराया था।

जगत्पिता ऋषभशिव और जगदम्बा :—

जैसे वैदिक परम्परा में शिव के साथ एक स्त्री देवता को शिवशक्ति के रूप में ग्रहण किया गया है वैसे ही जैन परम्परा में आदिदेव ऋषभ के साथ आदिदेवी को जगदम्बा के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ज० यदुवंशी ने[2] लिखा है कि "सिन्धघाटी में जिन जिन स्थानों पर भी खुदाई की गई है वहाँ हर जगह आँवे में पकाई हुई मिट्टी की छोटी-छोटी स्त्री

---

② शैवमत पृ० २८

(क) आविर्बभूवानुशिरः कायभामण्डलं विभोः ।
रवद्योतपोतवद्यस्य पुरोमार्तण्डमण्डलम् ॥ ३, ४६६ त्रि०

(ख) दिक्ष्वन्यास्वपि त्रिसृषु रत्नानि परमेष्ठिनः ।
रत्नसिंहासनस्थानि विचक्रुर्व्यन्तरामराः ॥ त्रि० ६, १३३
(दृष्टव्य त्रि० ३, ४६४ भी)

मूर्तियाँ भी मिली हैं जो सम्भवतः देवी अम्बिका की मूर्तियाँ हैं। उन्हीं स्थानों पर अनेक पत्थर के लिङ्ग प्रतीक भी मिले हैं। वहीं मिट्टी की गुरु और चौकोर टिकियों पर पुरुष देवता के भी चित्र मिले हैं। सिन्धु घाटी की भाँति इजियन समुद्र के तट पर पश्चिम एशिया में भी देवी की छोटी-छोटी मूर्तियां और लिंग प्रतीक मिले हैं। सर ओरलस्टाइन को बलोरिस्तान में भी विभिन्न स्थलों पर देवी की पकी हुई मिट्टी की छोटी-छोटी मूर्तियां मिली हैं। उस प्रदेश की भी वृषभ मूर्तियाँ सिन्धुघाटी के ही समान पाई गई हैं।

ऋग्वेद में एक स्त्री देवता[1] का उल्लेख है जो वाक् (बादमें वागीश्वरी सरस्वती) नाम से है। उसकी कल्पना प्रायः रुद्रगणों (देवों) की शक्ति के रूप में की गई है और उसको देवों के कार्यों पर नियन्त्रण करने वाला बताया गया है। तैत्तरीय[2] संहिता के त्र्यम्बक होम प्रकरण में रुद्र के साथ-साथ एक स्त्री देवता का भी उल्लेख है जिसका नाम अम्बिका है और उसे रुद्र की बहन कहा गया है।

ऊपर तैत्तरीय संहिता में जहाँ अम्बिका स्त्री देवता को रुद्र (शिव) की बहन कहा गया है वहाँ जैनग्रन्थों में देवपूज्या ब्राह्मी को ऋषभ की पुत्री कहा गया है। जिनसेनाचार्य के अनुसार — 'भरत की छोटी बहन ब्राह्मी भी गुरुदेव ऋषभ की कृपासे दीक्षित हो कर आर्यिकों के बीच में गणिनी-स्वामिनी के पद को प्राप्त हुई। वह ब्राह्मी सब देवों के द्वारा

---

[2] यजुर्वेद तैत्तरीय संहिता १, ८, ६ (श्लो० १५)

[1] ऋग्वेद १०, १२५ वाँ सूक्त

पूजित[1] हुई। एक अन्य स्थल पर जिनसेनाचार्य ने ऋषभदेव को वाक्देवी (सरस्वती) का स्वामी[2] बताया है जिससे उन्हें समस्त शास्त्र प्रत्यक्ष थे और वे सम्पूर्ण विश्व के गुरु बन गए थे। हेमचन्द्राचार्य ने ऋषभ प्रभु के तीर्थ में सदा उनके पास रहने वाली एक प्रतिचक्रा यक्षेश्वरी नाम की शासन देवी का उल्लेख त्रिषष्टि शलाकापुरुष में किया है[3]। जैन तीर्थ-आबू पर्वत के प्रसिद्ध जैनमन्दिर—दिलवाड़ा में आज भी आदिनाथ वृषभ की भव्य काली मूर्ति के बाजू में ही जगदम्बा की प्रतिष्ठापना है।

ऋषभशिवप्रदत्त ब्राह्मी लिपि और माहेश्वर सूत्र :—

भरत की प्राचीनतम लिपि ब्राह्मी है। व्याकरण शास्त्र के आधार पर 'ब्रह्मण: आगता ब्राह्मी' व्युत्पत्ति के आधार पर डा० राजकुमार जैन का मंतव्य है कि ब्रह्मा से आई हुई लिपि ब्राह्मी[4] कही गई है। जैन परम्परानुसार ऋषभदेव ने भरतादि पुत्रों को सम्पूर्ण कलाओं में पारंगत करने के साथ ही अपनी पुत्री ब्राह्मी को लिपिविद्या[5] सिखाई थी। दूसरी ओर पाणिनि ने सूत्रबद्ध वर्णमाला को माहेश्वर सूत्र बताया है जिसका अर्थ है महेश्वर से आए हुए[6]। वैदिक ग्रन्थों में शिव को

---

(४) अष्टादशलिपीर्ब्राह्म्या अपसव्येन पाणिना। (त्रि०२,६६३) #लिपीर्यामास।

(३) नाम्ना तो प्रतिचक्रेति हेमाभागरुडासना।
तत्तीर्थभूरभूत् पार्श्वे भर्तु: शासनदेवता॥ त्रि०३,६८६

(२) वाङ्मयं सकलं तस्य प्रत्यक्षं वाक्प्रभोरभूत्।
येन विश्वस्य लोकस्य वाचस्पत्यादभूद् गुरु:॥ महापु० १४,१८१

(१) भरतस्यानुजा ब्राह्मी दीक्षित्वा गुर्वनुग्रहात्।
गणिनी पदमार्याणां सा भेजे पूजितामरै:॥
(महापु० २४,१७५)

में महेश्वर[1] कहा गया है। जैन परम्परा भी ऋषभदेव को महादेव स्वीकार करती है। इस प्रकार ऋषभपुत्री ब्राह्मी को सिखाई गई ब्राह्मी लिपि को अक्षरविद्या और माहेश्वर सूत्रों को वर्णमाला का स्वरूपतः ऐक्य दोनों के प्रवर्तक सम्बन्धी ऐक्य को और इंगित करता है।

मुक्तेश्वर ऋषभशिव :— जैसे वैदिक परम्परा में शिव को जन्म-जरा-मरण के दुःख से मुक्त करने वाला माना जाता है जिसके कारण आज भी भारत में गढ़मुक्तेश्वर, कालेश्वर, पापकटेश्वर, दुःखभंजन आदि-आदि नामों से अनेक प्राचीन शिवमन्दिर बने हुए हैं; वैसे ही जैन (परम्परा) ऋषभदेव का जन्म विश्वजन्तुओं को जन्मादिक दुःखों से मुक्त[2] कराने के लिए ही मानती है। महापुराण में भी कहा गया है— 'बड़े-बड़े दुःख रूपी फलों को देने वाली और जन्म-मृत्यु तथा बुढ़ापा रूपी फलों से व्याप्त संसार रूपी लता को ऋषभदेव ने उखाड़ कर फेंक दिया[3]।' भागवतकार के अनुसार भी ऋषभ ने कहा था— 'मैं स्वर्ग-मोक्ष आदि देने की सामर्थ्य[4] रखता हूँ।

अष्टमूर्ति ऋषभशिव :— वैदिक ग्रन्थों में अनेकशः शिव की प्रतीकात्मक अष्टमूर्तियों का उल्लेख मिलता है। कालिदास ने मालविकाग्निमित्र और शाकुन्तल के नान्दियों में शिव के प्रत्यक्ष आठ

---

[3] त्वमिमां संसृतिवल्लरीं आमिमां मतितमामुरुदुःखफलप्रदाम्।
जननमृत्युजराकुसुमाचितां शमकरैर्भगवन्नुदपीपटः॥ (महापु० २३,१२५)

[2] अपुनर्जन्मनोजन्मदुःखाच्छुद्धिर्विश्वजन्मिनाम् (त्रि०२,६०३)

[4] 'मत्तोऽप्यनन्तात्परतः परस्मात्स्वर्गापवर्गाधिपतेर्न किञ्चित्' भाग० (५,६,२५)

[1] 'शिवो महेश्वरश्चैव' (शिवपु० वायुसं० ६,२३)
[अथर्व० १६,४२,४; १६,४३ सू०; यजु० ४०,६६
ऋग्वेद ४,५८] (हि० ग्रन्थ पृ० ६२८)

रूपों का उल्लेख किया है। तदनन्तर शिव की अष्ट मूर्तियों का उल्लेख लौकिक और धार्मिक साहित्य में अनेकशः हुआ है। वे अष्टमूर्तियाँ हैं पञ्चमहाभूत चन्द्र सूर्य और स्वयं यजमान। दिगम्बर जैनाचार्य जिनसेन ने भी 'ऋषभ को पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, चन्द्र, सूर्य और याजक इन आठमूर्तियों का धारणकर्ता'[1] बताया है। इसी तरह जैनमहाकवि पुष्पदन्त[2] ने इन्द्रस्तुति मे जिनेन्द को इन्हीं आकाशादि आठ शरीरों से युक्त महेश्वर कहा है।

वृषभाङ्कित ऋषभशिव :—

जैन और वैदिक दोनो ही परम्पराओं मे ऋषभशिव को वृषभ (बैल) चिन्ह से अङ्कित किया गया है। माता मरुदेवी को प्रथम स्वप्न मे श्रेष्ठ वृषभ का साक्षात्कार हुआ और शिशु के (भारवाही) उरुप्रदेश पर भी वृषभचिन्ह था जिससे उनका नाम वृषभ रखा गया था।[3] × "(सौधर्मकल्प के) इन्द्र ने जगत्पति ऋषभ के चारों ओर स्फटिक मणि के (चतुर्मुखी ऋषभ सूचक) चार बैल[4] बनाए।' × "तीर्थ पैदा होते हैं गोमुख

(४) चत्वारि स्फटिकोत्तुङ्गवृषरूपाणि निर्ममे (त्रि॰२,५८७)

(३) उरुप्रदेशे ऋषभो लाञ्छनं यज्जगत्पतेः।

(क) ऋषभः प्रथमं यत्र स्वप्ने मात्रा निरीक्षितः॥त्रि॰२,६४८

(ख) आदौ वृषः सितः पीनस्कन्धो दीर्घजुवालीधः (त्रि॰२,२१३)

(ग) स्वर्गावतरणे दृष्टः स्वप्नेऽस्य वृषभो सितः।
जनन्यां तदयं देवैः आहूतो वृषभाख्यया॥ महापु॰१४,१६२

(२) जय गयण हुयासण चंदरवि जीवहि साहि मारुय सीलत,
अट्ठंगमहेसर जय सयल पवरवालिट्ठ कलिमलकलिल।
(पुष्पदन्त महापु॰१०,५)

(१) तीर्थकृद्भाविने तुभ्यं क्षितिमूर्त्यादिमूर्तये।
(महापु॰ १५,४८)

नाम का एक यक्ष सदा प्रभु के पास रहने वाला अधिष्ठायक हुआ।[1] सिन्धुघाटी में प्राप्त वृषभाङ्कित मूर्तियुक्त मुद्राएं तथा वैदिक मन्त्र भी वृषभाङ्कित ऋषभदेव के अस्तित्व के सूचक हैं। दो सौ-तीन सौ शताब्दी पूर्व शुंग पुष्यमित्रकालीन कुछ सिक्के मिले हैं जिनमें वृषभाङ्कित सिक्के कई बार पाए जाते हैं।[2] यह वृषभ चिन्ह उसी समय के हिन्दयूनानी राजाओं के कुछ सिक्कों पर भी मिलता है। जैनमन्दिरों में आज भी ऋषभदेव की मूर्तियों को बैल के चिन्ह से चिन्हित किया जाता है और उनके आसन तथा भारवाही उरु प्रदेश पर भी बैल का चिन्ह दिया जाता है।

जैनपरम्परानुसार ही शिवमन्दिरों में भी गोमुख और बैल शिवलिङ्ग के पास ही दिखाया जाता है। जैन परम्परा में जहां बैलों के[3] सींगों से गगन में जलधारा दिखाई गई है वहाँ वैदिक परम्परा में शिव के मन्दिरों वा गंगा के उद्गमस्थान गंगोत्री में गोमुख से जलधारा दिखाई जाती है। अ० यदुवंशी[4] ने वैदिक प्रमाण देते हुए लिखा है — "बैल शिव का नियत रूप से वाहन माना जाता है।" x "ऋग्वेद में रुद्र की वृषभ उपाधि अर्थपूर्ण है, इसका साधारण अर्थ बैल या सांड किया जाता है परन्तु ऋग्वेद में इसका शाब्दिक

---

(1) महाभा० अनु० ११३, ३२ और आगे (शै० पृ० ७०)

(2) उत्तुङ्गशृङ्गसंचिरा वृषभास्ते चकासिरे।
--अङ्गेभ्योऽष्टभ्य उत्पेतुर्वारिधारा नभस्तले॥ त्रि०२, ५७८

(3) दे० शैवमत पृ० ८५

(4) तीर्थे तत्र समुत्पन्ने गोमुखो नाम गुह्यकः।
--हेमवर्णोगजरथः पार्श्वस्थोऽभूत्तदा विभोः॥
(त्रि०३, ६८३, ६८४)

(अर्थ) अनुवाद साधारणतया वर्षयिता (ज्ञानवर्षिक) है।[1] दूसरा अर्थ है अत्यधिक प्रजननशक्ति वाला, अतः पुरुषत्वपूर्ण या बलिष्ठ। वृषभ भी अपनी प्रजनन शक्ति और बल के लिए विख्यात है। बाल्मीकि रामायण[2] में शिव को पुष्पमतः नई उपाधि 'वृषध्वज' दी गई है। डा० यदुवंशी[3] ने लिखा है — 'संहिता को--- उत्तर वैदिक साहित्य में भी यह शब्द रुद्र की उपाधि मात्र ही रहा और रुद्र के सम्बन्ध में इसका शाब्दिक अर्थ वर्षयिता अर्थात् वर्षा करने वाला किया जाता था। परन्तु धीरे-धीरे ऐसा प्रतीत होता है कि इस शब्द का यह अर्थ लोग भूल गए, और इसके व्यवहारिक अर्थ को ही ले कर उन्होंने वृषभ को शिव का वाहन मान कर इस उपाधि का समाधान किया। तदनन्तर शिव के मन्दिरों पर जो पताकाएँ फहराई जाती थीं, उन पर सम्भवतः इस वृषभ के चित्र बनने लगे, और इस प्रकार शिव को 'वृषध्वज' की नई उपाधि मिली।' बौद्धमतावलम्बी अश्वघोष, जो ईसा की प्रथम सदी में हुए थे, ने अपने बुद्धचरित[3] नामक काव्य में शिव को वृषध्वज कहा है। नाट्यशास्त्र[4] के प्रारम्भ में ब्रह्मा के साथ शिव का आवाहन किया गया है तथा अन्य स्थलों पर उन्हें वृषाङ्क की उपाधियाँ भी दी गई हैं।

बैल का नाद गम्भीरता का सूचक है। वृषभ शिव की वाणी भी अतिगम्भीर, रहस्यमयी थी जो

---

[4] नाट्यशास्त्र | प्रणम्य शिरसा देवौ पितामहपरमेश्वरौ।
नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि ब्रह्मणा यदुदाहृतम् ॥१,१

[3] बुद्धचरित १०, ३ (शौ. पृ. ८८)

[2] बाल्मीकि रामायण युद्ध कां० ११७, ३; उ० कां० ~~१५, ३५~~ ८७, १२ (शौ. पृ. ६३)

[1] ऋ० २, ३३, ६ भ ८ (दे० शौ. पृ. ३-४)

निगमागम का भेद खोलने वाली होने से वैदिक व जैन परम्परा में आज तक प्रख्यात है। त्रिषष्टि के अनुसार — 'ऋषभ की जिह्वा द्वादशाङ्ग आगम के अर्थ को प्रसव करने वाली थी।[1]' वायुपुराण में स्पष्टतः शिव को 'नाग्वृषाय'[2] कह कर 'गोवृषेन्द्र-ध्वज' की उपाधि दी गई है जिससे निश्चयपूर्वक सिद्ध होता है कि वृष शब्द ज्ञानवर्षा का भी सूचक है।

ऋषभशिव का उपाधि साम्य :—

जैन ग्रन्थों में ऋषभ की सारी उपाधियाँ वही दी गई हैं जो वैदिक ग्रन्थों में शिव के लिए प्रयुक्त हुई हैं। जिनसेनाचार्य ने 'शिवसहस्र नाम' ~~नाम~~ की ही भाँति ऋषभदेव के उन्हीं १००८ उपाधियों का संकलन महापुराण के २५ वें अध्याय में किया है जो प्रायः वैदिक ग्रन्थों में यत्र तत्र शिव के लिए प्रयुक्त की गई हैं। इसी प्रकार महाकवि पुष्पदन्त ने अपने महापुराण में ऋषभदेव के लिए रुद्र की ब्रह्मा-विष्णु-महेश रूपी त्रिमूर्ति से सम्बंधित अनेक विशेषणों का प्रयोग किया है। आचार्य वीरसेन स्वामी ने धवला टीका में अर्हन्तों का पौराणिक शिव के रूप में ~~वर्णन~~ किया है[3]। विमलसूरि के 'पउमचरिउ' के मङ्गलाचरण के ~~नि~~ प्रसंग में एक जिनेन्द्राष्टक का उल्लेख हुआ है जिसमें जिनेन्द्र का रुद्र रूप में स्तवन है। बताया गया है कि जिनेन्द्र रुद्र पाप रूपी अन्धकासुर

---

③ धवला टीका १ पृ. सं. ४५-४६ (ह. ग्रन्थ पृ. ६२४)

② नाग्वृषाय नमस्तुभ्यं पुराणवृषभाय च ।१०५॥
सुचारुचारुकेशाय ऊर्ध्वचक्षुः शिवाय च ।
नमः पशूनां पतये गोवृषेन्द्रध्वजाय च ॥वायु:२४,१०६

① प्रभोर्जिह्वा नाडतिस्थूला द्वादशाङ्गागमार्थसूः।
(त्रि. २, ७२०)

के विनाशक हैं, काम लोभ एवं मोह रूपी त्रिपुर के दाहक हैं। उनका शरीर तप रूपी भस्म से विभूषित है। संयम रूपी वृषभ पर आरूढ़ हैं। संसार रूपी हाथी को विदीर्ण करने वाले हैं। निर्मल मन बुद्धि रूपी चन्द्रलेखा से अलंकृत हैं। शुद्ध भाव रूपी कपाल से अलङ्कृत हैं। व्रत रूपी स्थिर पर्वत पर निवास करने वाले हैं। गुणगण रूपी मानवमुण्डों के मालाधारी हैं। दशधर्मरूपी खट्वांग से युक्त हैं। तपःकीर्ति रूपी गौरी से मण्डित हैं। सातभय रूपी उद्दाम डमरू को बजाने वाले हैं। नित्यसत्य रूपी विकट जटा कलाप से मण्डित हैं तथा ॐकार मात्र से भय का विनाश करने वाले हैं।(१)

देवाधिदेव ऋषभशिव का रात्रि अवतरण (महाशिवरात्रि):-

वैदिक परम्परा में चतुर्दशी या त्रयोदशी के दिन शिवरात्रि का उल्लेख मिलता है। चतुर्दशी और त्रयोदशी को तिथिवैषम्य का कारण यह है कि कहीं तो सूर्योदय से और कहीं अर्धरात्रि से तिथि का आरम्भ माना जाता है। ईशानसंहिता में लिखा है — 'माघकृष्णा चतुर्दशी को महानिशा में कोटिसूर्यप्रभोपम भगवान आदिदेव शिव-

---

(१) घोरान्धकनिर्णाशं मकरध्वजलोभ-मोहपुरदहनम्,
तपोभस्ममूषिताङ्गम्, जिनेन्द्रमुद्रं सदावंदे॥
संयमवृषभारूढं तपउग्रमहत तीक्ष्णशूलधरं, संसारकरिवदारम् " "॥२।
विमलमतिचन्द्ररेखं विरचितसिलशुद्धभावकपालं व्रताचलशैलनिलयम् " "।३।
गुणगणनरशिरमालं दशधर्मजोद्भूतविदितखट्वाङ्गं, तपःकीर्तिगौरिरचितं " "।४।
सप्तभयडाम डमरूकवाद्यं अनवरतप्रकटसंदोहं, मनोबद्धसर्पपरिकरं " "।५।
अनवरतसत्यवाचा विकटजटामुकुट कृतशोभं, हुंकारभयविनाशं " "।६।
ईशानशेखरचितं जिनेन्द्रसद्भक्तकंललितं मे भावं च,
यः पठति भावशुद्धस्तस्य भवेज्जगति संसिद्धिः ॥७॥
(हः ग्रन्थ पृ. ६२५ से उद्धृत)

लिङ्ग' नामक विग्रह से प्रगट हुए, उसी रात्रि को 'महाशिवरात्रि' रूप मे ग्रहण कर लिया गया[1]।

जैन परम्परा मे भी इसी रात्रि को ऋषभ देव को शिवगति प्राप्त होने का वर्णन है अर्थात् वे उसी रात्रि को नाशवान देह का त्याग कर अपनी वास्तविक सूक्ष्मविन्दु ज्योतिस्वरूपावस्था मे प्रगट हुए थे। महापुराण में लिखा है — 'उत्कृष्ट केवल-ज्ञान को प्राप्त होने वाले ऐसे जिनेन्द्रदेव चौदहवें गुण स्थान के बाद लेपरहित, शरीररहित, सूक्ष्म, अव्यक्त होते हुए लोक के अन्त भाग में निवास करते हैं। आत्मा के अतिशय शुद्ध हो जाने के कारण तथा ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने के कारण वे एक समय मे ही लोक के अन्त भाग को प्राप्त हो जाते हैं और वहाँ रत्न की भाँति चमकते हैं[2]।' श्वेताम्बर जैनमुनि देवेन्द्र लिखते हैं — 'विज्ञों का मन्तव्य है कि उस दिन ऋषभ ने शिवगति प्राप्त भगवान की संस्मृति मे दिन मे उपवास रखा और रात्रि मे जागरण किया अतः वह तिथि शिवरात्रि नाम से प्रसिद्ध है[3]।' श्वेताम्बर जैनग्रन्थानुसार ऋषभ

③ परिशीलन पृ. १५८

② निर्लेपो निष्कलः शुद्धो निर्व्याबाधो निरामयः।
सूक्ष्मोऽव्यक्तस्तस्याऽव्यक्तो मुक्तो लोकान्तमावसन्॥
ऊर्ध्वं व्रज्यास्वभावात् समयेनैव नीरजाः।
लोकान्तं प्राप्य शुद्धात्मा सिद्धश्चूडामणीयते॥
(महापु. २१, १२१-२००)

① माघे कृष्णाचतुर्दश्यामादिदेवो महानिशि।
शिवलिङ्गतयोद्भूतः कोटिसूर्यसमप्रभः।
तत्कालव्यापिनी ग्राह्या शिवरात्रिव्रते तिथिः।
(ईशान संहिता; परि. पृ. १५८; ह. ग्रंथ ६२६)

देव को निर्वाणतिथि माघकृष्णा त्रयोदशी[1] है जब कि दिगम्बर परम्परा में चतुर्दशी[2] है।

इसके अतिरिक्त जैनपरम्परा में ऋषभदेव का अवतरण भी रात्रि में ही हुआ था। हेमचन्द्राचार्य ने लिखा है — 'जिस रात्रि को च्यवन[3] कर प्रभु माता के गर्भ में आए उस रात्रि को मरुदेवा निवासभवन में सो रही थी।' यही नहीं उनका जन्म (प्राकट्य) भी अर्धरात्रि[4] को दिखाया गया है।

उत्तर भारत के जैनेतर वर्ग में यह पर्व फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी को मनाया जाता है। उत्तर तथा दक्षिण भारत के पञ्चांगों का मौलिक भेद ही इस मासवैषम्य का मूलकारण है क्योंकि उत्तर में मास का आरम्भ कृष्ण पक्ष से माना जाता है और दक्षिण में शुक्ल पक्ष से। कालमाधवीय नागरखण्ड में प्रस्तुत मासवैषम्य का समाधान करते हुए कहा है — 'दक्षिणात्यजन के माघमास के शेष या अन्तिम पक्ष को और उत्तर प्रान्त के फाल्गुन के प्रथम मास को कृष्णा-चतुर्दशी

---

(4) अर्धरात्रिनिशाक्षणे --- सुस्वेन सुषुवे देवी (त्रि॰ २, २६४-५)

(3) तत्रावतार यामिन्यां वासागारे प्रसुप्तया (त्रि॰ २, २१२)

(2) (क) --- घणतुहिण कणाउलिमाहमासि। सूरग्गमिकसण-चउद्दसीहि णिव्वुइ तित्थंकरि पुरिससीहि॥ पु॰ महापु॰ ३७, ३

(ख) माघस्य किण्हि चोद्दसि पुव्वण्हे णियय जम्मणक्खत्ते।
अट्ठावयम्मि उसहो अजुदेण समं गओ जोणिं॥
(तिलोयपण्णत्ति; ह॰ ग्रन्थ ६२६)

(1) माघाभिधानमासस्य कृष्णात्रयोदशी तिथौ।
(क) --- प्रभुः स्वभावादृजुना प्रधालोकाग्रमासदत्॥ त्रि॰ ६, ४८४-९०
(ख) तस्सणं माहबहुलस्स तेरसी (जम्बूद्वीप सू॰ ४८, पृ॰ ६१)
(ग) कल्पसूत्र गाथा १९९

शिवरात्रि[1] कही गई है।

उपर्युक्त अकाट्य प्रमाणों से जैन परम्परा के ऋषभदेव तीर्थङ्कर और वैदिक परम्परा के शिव अथवा रुद्र की ऐक्य भलीभाँति सिद्ध हो जाता है। प्राचीन काल में एक ही विश्वमान्य देवाधिदेव ऋषभ शिव, निराकार भगवान को उपासना बिना किसी भेदभाव के हुआ करती थी। यहाँ तक कि कालक्रमानुसार नाम-रूप की महिमा में बद्ध परवर्ती काल में भी भेदभावरहित एकेश्वर भगवान की उपासना के प्रमाण उपलब्ध हो रहे हैं →

च ६१ ई० के ककराज सुवर्णवर्ष के सूरत वाले ताम्रपत्र में पहले भगवान जिन की स्तुति की गई है, यह समस्त लेख किसी जैनधर्मावलम्बी का ही है फिर भी उसी के दूसरे श्लोक में शिव से भी कल्याणार्थ प्रार्थना की गई है[2]।

रलजुरा[3] शिलालेख नं० ५ (११ वीं शताब्दी) में भगवान शिव को एकेश्वर माना गया है और भगवान जिन को उन्हीं का अवतार कहा गया है।

---

(3) अन्ये तत् शिवमेव बुद्धम् अमलं त्वन्ये जिनं वामनम्।
तस्मै सर्वमयैक्यकारणपते: शर्वाय नित्यं नमः॥
(E.I.I, P. 148; शैवमत पृ० ३१७)

(2) जिनेन्द्र स्तुति के उपरान्त → [E.I. XXI, P. 142]
सा वोऽव्याद्देवधिसाधाम यन्नाभिकमलालंकृतम्,
हरश्च यस्य कान्तेन्दुकलया कमलं कृतम् (शै. पृ. ३१६)

(1) माघमासस्य शेषे या पपमे फाल्गुनस्य च।
कृष्णा चतुर्दशी सा तु शिवरात्रिः प्रकीर्तिता॥
(कालमाधवीय नागरखण्ड; ह० ग्रन्थ ६२७)

[ख] देवाधिदेव ऋषभशिव ही वेदवर्णित अग्निदेव हैं—

जैन और वैदिक दोनों ही परम्पराओं में अग्निपूजा अतिप्राचीन काल से ही होती चली आ रही है क्योंकि 'अग्नि' तत्त्व ऋषभशिव का ही प्रतीक है जिसका सादृश्य उनके वास्तविक निराकारी अव्यक्त ज्योतिस्वरूप का सूचक है। जिनसेन महापुराण में कहा गया है → "अग्नि में स्वयं पवित्रता नहीं है और न यह देवता रूप ही है किन्तु जिनमूर्ति की पूजा के सम्बन्ध से वह अग्नि पवित्र मानी जाती है - - - अतः ब्राह्मणों को व्यवहार नय की अपेक्षा से अग्निपूजा इष्ट है[1]। ऋग्वेद में कहा है → 'अग्नि दो प्रकार[2] के हैं।' × 'मांस भोजनकर्ता और चिता वाले अग्नि तुम्हारे घर में बैठते हैं, उन्हें मैं दूर करता हूँ। दूसरे ज्ञानी अग्नि को मैं ग्रहण करता[3] हूँ।' स्पष्ट है कि ऋषि का अभिप्राय ज्योतिरूप चेतन पुरुष—ऋषभशिव से है, जड़ तत्त्व→अग्नि से नहीं क्योंकि वह तो मात्र सादृश्य के कारण प्रतीक है। अतः जिनसेनाचार्य ने कहा है — 'ऋषभदेव कर्म रूपी ईंधन को जलाने वाले हैं, आप कुछ लालिमा लिए हुए पीतवर्ण और पुष्ट हैं और आप का ध्यान रूपी तेज सदा प्रदीप्त रहता है, इस लिए अग्निरूप[4] को धारण करने वाले हैं।'

---

[4] कर्मेन्धनदहे तुभ्यं नमः पावकमूर्तये।
पिशङ्गजटिलाङ्गाय समिद्धध्यानतेजसे॥ महापु. १४,४४

[3] योऽग्निः क्रव्यात्प्रविवेश नो गृहीमं पश्यन्नितरं जातवेदसम्।
तं हरामि पितृयज्ञाय देवं स धर्ममिन्वात्परमे सधस्थे॥ ऋ. १०,१६,१०

[2] ८,६०,११ ऋग्वेद

[1] न स्वतोऽग्नेः पवित्रत्वं देवतारूपमेव वा।
किन्तु अर्हद्दिव्यमूर्तीज्यासम्बन्धात् पावनोऽनलः॥
-- व्यवहारनयापेक्षा तस्येष्टा पूज्यता द्विजे॥ महापु. ४०,८८-९०

डा० राजकुमार जैन[1] के शब्दों में — "ऋषभ देव ने विनश्वर शरीर का त्याग कर के सिद्धलोक को प्रस्थान किया तो उनके परम प्रशान्त रूप को आत्मसात् करने वाली अन्त्येष्टि अग्नि ही तत्कालीन जन के लिए उनके वीतराग रूप की एकमात्र संस्मारक बन गई। जनता अब अग्नि दर्शन से ही अपने आराध्य के दर्शन पाने लगी। उस समय मूर्तिकला का विकास नहीं हुआ था, अतः यह सप्तजिह्वा अग्नि ही उस महामानव का प्रतीक बन गई। उपलब्ध प्राचीन अनुश्रुतियों से ज्ञात होता है कि भगवान के प्रति जन-जन के हृदयों में स्वभावतः उद्दीप्त होने वाले भक्तिभाव को सन्तुष्ट एवं संतृप्त करने के लिए उनके ज्येष्ठ गणधर (मानसपुत्र) ने इस भौतिक अग्नि द्वारा आदि ब्रह्मा वृषभदेव की उपासना अर्घ इज्या, पूजा, एवं अर्चना का मार्ग निकाला था। वह याज्ञिक प्रक्रिया के प्रथम विधायक थे।[2] उन्हों ने ही लोकमङ्गल के लिए अभीष्टसिद्धि, अनिष्टपरिहार एवं रोगनिवृत्तिकर आदि अनेक उपयोगी मन्त्र-तन्त्र विद्याओं का सर्वप्रथम प्रकाश किया था। वह वैदिक परम्परा में ज्येष्ठ अथर्वन और जैन परम्परा में ज्येष्ठ गणधर के नाम से प्रसिद्ध हैं। जैन परम्परा के अनुसार यह भगवान ऋषभदेव के पुत्र वृषभसेन थे। भगवान ने इन्हें ही समस्त विद्याओं में प्रधान विद्या देकर लोक

(अ) सत्यव्रत सामश्रमी निरक्तालोचन वि.सं. १९५३ पृ. १५५
(आ) A.C. Das — Rigvedic Culture p.p. 113-115
(इ) Dr. Winternitz — History of India Literature Vol. I, 1927, P. 120
(ई) "अग्निर्जातो अथर्वणाः ॥ ऋ. १०, २१, ५
[1] हजारीमल स्मृति ग्रन्थ पृ. ६१५ से उद्धृत

में अपना उत्तराधिकारी बनाया था।[१]

इनके द्वारा तथा अन्य अथर्वनों (गणधरों) द्वारा प्रतिपादित अनेक तान्त्रिक विधानों तथा वृषभ के हिरण्यगर्भ, जातवेदस् जन्य, उग्र तपस्या, सर्वज्ञता देशना, सिद्धलोक-प्राप्तसम्बन्धी अनेकरहस्यपूर्ण वार्ताओं तथा यति व्रात्य श्रमणों की आध्यात्मिक चर्चा का संकलन चौथे वेद में हुआ है। अतः इसकी प्रसिद्धि अथर्ववेद के नाम से हुई।

अथर्वन द्वारा प्रतिपादित प्रक्रिया के अनुसार अग्नि में हव्य द्रव्य की आहुति देकर सर्वप्रथम वृषभ की पूजा उनके ज्येष्ठ पुत्र तथा भारत के आदि-चक्रवर्ती भरत महाराज, जो मनु के नाम से भी प्रसिद्ध थे, ने की थी। इसके पश्चात् उनका अनुकरण करते हुए समस्त प्रजाजन भगवान् वृषभदेव के प्रतीक रूप में अग्नि की पूजा में प्रवृत्त हुए।[२]"

उक्त प्रक्रिया के अनुसार यह पूजा प्रातः, मध्यान्ह और सायं तीनों काल होती थी। अथर्ववेद के अनड्वान सूक्त में इस पूजा का फल बताते हुए कहा है कि जो इस प्रकार प्रतिदिन तीनो समय भगवान् वृषभ की पूजा करते हैं वे उन्हीं के समान अविनाशी अमर पद के अधिकारी हो जाते हैं।[३]"

---

(३) तन्नोप ब्रूत यो वेद तद् वा अनड्वाहो व्रतम्।
दुहे सायं दुहे प्रातर्दुहे मध्यन्दिनं परि ॥अथर्व ४,३,११,१२

(२) मनुर्ह वा अग्रे यज्ञे नेजे तदनुकृत्येमा प्रजा यजन्ते।
(अ) → (शतपथ ब्राह्मण १५,१,७)
(आ) जिनसेन आदिपुराण पर्व ४८, ३२२ और ३५१

(१) ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
(अ) स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥ (मुण्डक १,१)
(आ) स्वर्वतीर्नयाय गातं विन्दत (ऋ० १,६६,४)

ऋग्वेद मे भी कश्यपगोत्री मरीचिपुत्र ने अग्नि देव के प्रतीक रूप में ऋषभ की स्तुति की है जो बड़ी महत्त्वपूर्ण है → 'जो संसार का मित्र है, जो ध्यान द्वारा साध्य है, जो पुरातन है, जो स्वयंभू है, जो निरन्तर काव्यस्तोत्रों को धारण करता है अर्थात जिसकी सभी मानव स्तुति करते हैं, देवों ने उस द्रव्य-दाता अग्नि को धारण कर लिया[1]।' --- 'तुम उसकी स्तुति करो जो सर्वप्रथम मोक्ष का साधक है, सर्वपूज्य अर्हन्त है, जिसने स्वर्ग शरण मे आने वाली प्रजा को बल से समृद्ध कर के अपने पुत्र भरत को सौंप दिया[2]।' अग्निपुत्र भरत का वर्णन अन्य स्थल पर इस प्रकार आया है → 'ये अग्नि सूर्य की तरह विशाल प्रतापशाली हो कर प्रकाशित होते हैं तब वे (पुत्र) भरत द्वारा प्रसिद्ध होते है[3]।' यहाँ पुनः 'Son shower father' की कहावत अनुसार भरत → अग्नि के पुत्र सिद्ध होते हैं। अथर्ववेद मे भी कहा है — "इन्द्राकार अग्निरूप वृ अनड्वान् वृषभ प्रजापति ब्रह्मा के समान[4] है" क्यों कि पिता-पुत्र मे समानता होना स्वाभाविक है (यहाँ पीछे पृ. ६ पर प्रमाणित किया जा चुका है कि ऋषभ शिव (अग्नि) ब्रह्मा के भी पिता हैं)।

---

[4] इन्द्रो रूपेणाग्निर्वहेन प्रजापतिः परमेष्ठी ... अनुड्वान्कृषभत। (अथर्व. ४,३,११,७)

[3] प्रप्रायमग्निर्भरतस्य शृण्वे वियत्सूर्यो न रोचते बृहद्भाः। (ऋ. ७,८,४)

[2] तमीडिते महासाधं अर्हतं आरीविशः उर्जः भृज्ञसानम्। पुत्रं भरतं सम्प्रदानुं --- ॥(ऋ. १,६,३)

[1] अपश्च मित्रं धिषणा च साधन, पुन्नथा सहसा जायमानः। सद्यः काव्यानि बडधन्त विश्वा, देवो अग्निं धारयन् द्रविणोदाम्। (ऋ. १,६,१)

जैन परम्परा गत सुधीर प्रभृति कलंक वर्जित पवित्र जन्मा, (त्रि० २, २६७) स्वयम्भू, आदि देव ऋषभदेव की भाँति ऋग्वेद में भी अग्नि को 'पवित्र हो कर जन्म ग्रहण करने वाला'[1], स्वयंभू (ऋ० ३, १५, २) और 'देवों में आदिदेव'[2] कहा गया है। तैत्तरीय में कहा गया है- 'प्रजापति ने (पूजाहेतु) देवताओं का निर्माण करते हुए अग्नि का ही देवताओं में सर्वप्रथम सृजन किया।'[3] यजुर्वेद में भी अग्नि को ही 'संसार का महान कारण'[4] बताया है। वे पृथ्वी के रक्षक भी हैं।'

ऋग्वेद के अनुसार ऋषभदेव की ही भांति 'अग्नि प्राचीन और अकेले ही हैं परन्तु मानवों और देवों के भी ईश्वर हैं।'[5] X 'आत्मशोधक मोक्षदाता अग्नि' से प्रार्थना की गई है 'इस व्यक्ति का जो अंश (आत्मा) जन्मरहित है, सदा रहने वाला है, हे अग्नि! तुम उसी अंश को अपने ताप से (योगाग्नि से) उत्तप्त करो। तुम अपनी कल्याणमई मूर्तियों द्वारा इसे पुण्यलोक को प्राप्त कराओ।'[6] यहाँ अग्नि के मुक्तेश्वर तथा योगाचार्य स्वरूप की सूचना मिलती है। एक स्थान पर उन्हें 'पापनाशक'[7] भी कहा गया है।

---

(७) ऋ० ४, ११, ५

(६) अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः।
यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम्॥ ऋ० १०, १६, ४

(५) त्वं नो अग्न आयुषु त्वं देवेषु पूर्व्य वस्व एक इरज्यसि। ऋ० ८, ३६, १०

(४) अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽअयम्।
अपा रेताꣳसि जिन्वति॥ यजु० ३, १२ और १५, २०

(३) प्रजापतिः देवतानः सृज्यमान अग्निमेव देवानाँ प्रथममसृजत (तैत्तरीय २१, ६, ४)

(२) त्वामग्ने प्रथमं देवयन्तो (ऋ० ४, ११, ५)

(१) त्वे अग्ने --- जजिरे शुचिः (ऋ० २, १, १४)

आदिदेव ऋषभ की ही भाँति 'अग्नि देव मेधावी और ओजस्वी वक्ता[1] हैं।' × 'वे सहस्र शृङ्ग[2] (किरण रूप आत्माएं) धारण करने वाले वृषभ हैं।' एक अन्य स्थल पर भी 'अग्नि वृषभ के समान अपने शृंग[3] को वर्धित करते हुए मस्तक झुकाते हैं।' × 'तै स्तयं ही वृषभ[4] और गौ हैं तथा हम सबसे पूर्व जन्मा हैं।' यहाँ अर्धनारीश्वर शिव की ओर संकेत है। (धर्म) युद्धकाल में वे अग्नि[5] (ज्ञान में) मदमाते बैल की भांति शब्द करते हैं।' ऋषभदेव की ही भाँति 'अग्नि ने जन्मते ही महत्त्व लाभ किया; अतः उनके जन्म लेते ही देवता लोग उन्हें[6] देखने के लिए गए।' जहाँ ऋषभदेव के जन्मादि उत्सवों में देवाह्वानार्थ (ज्ञान) घण्टियों के बजने[7] का उल्लेख है वहाँ देवों के बुलाने के समय अग्नि वृषभ[8] के समान शब्द करते हैं।' सामवेद में भी यह ऋचा ज्यों की त्यों दी गई है (साम० १, ७, ६)। ऋषभ की तरह 'अग्नि सभी स्थानों में द्रुत गति से विचरण (विहार) करते हैं।[9]' जैसे ऋषभशिव की अष्टमूर्तियों में एक प्रसिद्ध मूर्ति 'याजक' बताई गई है वैसे ही 'अग्नि प्रशास्ता, अध्वर्यु और ब्रह्मा का कार्य करने वाले हैं, वे

---

[6] ऋ० ऋ० १०१ का पाटि० ३

[7] मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निः - - - यत्तूर्णिश्चरति प्रजानन्। (ऋ० १०, ८८, ६)

[8] प्रकेतुना बृहता यात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति (ऋ० १५८, १)

[9] अच्छा ह्यग्ने मह्ना निषद्या सद्यो जज्ञानो हव्यो बभूथ।
तं ते देवासो अनु केतमायन् - - | ऋ० १०, ६, ७

[1] अभिक्रन्दन्वृषायसे वि वो मदे (ऋ० १०, २१, ८)

[2] अग्निर्ह नः प्रथमजा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषभश्च धेनुः (ऋ० १०, ५, ७)

[3] शिशानो वृषभो यथाग्निः शृङ्गे दविध्वत् (ऋ० ८, ४८, १३)

[4] सहस्रशृङ्गो वृषभो यः (ऋ० ७, ५५, ७)

[5] विप्रं न युक्षवचसं सुवृक्तिभिर्हव्यवाहमरतिं देवमृञ्जसे | ऋ० ६, १५, ५

हम सब (वसुधैव कुटुम्बकम्) के गृहपति है।[1] वे देवों और मनुष्यों दोनों के बीच निवास करने वाले है[2] (जैसे ऋषभदेव)। ऋषभशिव की त्रिमूर्ति (ब्रह्मा-विष्णु-शंकर) की भांति 'अग्नि के तीन[3] प्रकार के शरीर देवों द्वारा अभिलषित है।' अग्नि के त्रिमूर्ति स्वरूप का अथर्व. मे भी उल्लेख है → 'अग्नि अनड्वान् विराट रूप प्रजापति[4] तीनों वैश्वानरादि अग्नियों में तादात्म्य रूपसे प्रविष्ट हो गए।' ऋषभशिव की ही तरह 'अग्नि ने त्रिपुरासुर (देहअभिमान) के तीनों पुरों (काम-क्रोध-मोह) को भग्न किया है[5]।' शिव द्वारा उस त्रिपुर ध्वंस का वर्णन वैदिक ऋतियों ने अनेकशः किया है। श्वेतवस्त्रधारी ऋषभशिव की तरह 'गोवत्स के समान चञ्चल श्वेतवर्ण अग्नि[6] संसार मे निरोधक को नहीं पाते।' × 'वे अभीष्टवर्षक अग्नि अंधेरी[7] रात्रि (महाशिवरात्रि) मे दीप्तिमान होते हैं।' ऋषभशिव का जन्मोदय भी रात्रि में बताया गया है। × 'वे अग्नि उषः कालों के[8] पहले ही आते हैं। वे परस्पर रात्रि और दिन (संगम या संधिकाल) के दीप्तिकर्ता हैं।' × 'वे (अग्नि) अन्धकार से निकल

[2] उभउषो हि वसो अग्रमेषि त्वं यमयोरभवो विभावा। (ऋ. १०, ८, ५)
[3] कृष्णात्स्वग्ने अरुषो वि भाहि (ऋ. ३, १५, ३)
[6] चरन्वत्सो रुशन्निह नियातारं न विन्दते (ऋ. ८, ६८(७३), ५)
[5] अग्ने पुरो रुरोजिथ (ऋ. ६, १६, ३६)
[4] अग्निर्वहेन प्रजापतिः परमेष्ठी विराट् --- वैश्वानरे अक्रमतान्नड्वक्रमत (अथर्ववेद ४, ३, ११, ६)
[3] तिस्र उ ते तन्वो देवतास्ताभिर्नः पाहि (ऋ. ३, २०, २)
[2] द्विता यो भूदमृतो मर्त्येष्वा (ऋ. ८, ६०(७१), ११)
[1] तव प्रशस्त्यं त्वमध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे। (ऋ. १०, ६१, १०)

कर अपने तेज से उषाकाल के आहवनीय रूप में आते हैं। कर्म करने के लिए उत्पन्न अग्नि यज्ञगृहों को पूरते हैं।'(1) जैन परम्परा में ऋषभदेव का जन्म भी कर्मभूमि की स्थापना के लिए ही माना जाता है। साम-वेद के अनुसार भी यज्ञ की सिद्धि के निमित्त अग्नि निश-काल(2) में प्राप्त होते हैं।'

लोकाग्रवासी अग्नि :- ऋषभशिव की भाँति अग्नि को भी लोकाग्रवासी कहा गया है — 'वे सबको लाँघ कर रहते हैं, वे अन्तरिक्ष को भी लाँघ(3) कर रहते हैं।' × 'वे सर्व समयों में दिव्यलोक(4) से अवतीर्ण होते हैं।' × 'वे (अग्नि) परमधाम(5) के आश्रित, सूर्यमण्डल में स्थित हैं।' × 'वे वृषभ अग्नि द्युलोक (परमधाम) के समीप(6) वाजना के प्रदेशों में रहते हैं।' × 'वे अग्नि द्युलोक(7) और पृथ्वी दोनों में उत्पन्न होने वाले हैं।' परमाकाशदेश(8) में स्थित अव्यक्त अग्नि :- 'सृष्टि रचना से पूर्व जो अव्यक्त थे वे बाद में व्यक्त हुए।' × 'जैसे सिर सबसे ऊपर होता है वैसे ही यह अपने तेज से आकाश के सर्वोच्च स्थान सूर्य मण्डल के ऊपर रहते हैं। यह स्वर्ग की मूर्धा के समान प्रमुख है। जैसे बैल का कंधा ऊँचा होता है वैसे

---

(1) द्यावा यमग्निं पृथिवी जनिष्टाम् -- (ऋ॰ १०, ४६, ६)

(2) यात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति। दिवश्चिदन्ताँ उपमाँ (ऋ॰ १०, ८, १)

(3) असच्च सच्च परमे व्योमन् -- अग्निर्ह। (ऋ॰ १०, ५, ७)

(4) वेतीदिवो जनुषा जोषिद्धा (ऋ॰ ६, १५, १)

(5) (ऋ॰ ८, ७२, ५) जाम्यतीतपे ~~असुह~~ धनुर्वयोधा असुहवनम्।

(6) बृहता सिक्त्नीमेति रुशतीमपाजन् (साम॰ १५, २, १ (५))

(7) अगे बृहन्नुषसामूर्ध्वो अस्थान्निर्जगन्वान्तमसो ज्योतिषागात्।
अग्निर्भानुना रुशता स्वङ्ग आजातो विश्वा सदान्यप्राः॥
(ऋ॰ १०, १, १)

ही अग्नि ने ऊँचा स्थान पाया है।[1]

डा० यदुवंशी ने लिखा है[2] "ऋग्वेदीय सूक्तों में रुद्र का अग्नि से गहरा साम्य है, अग्नि को अनेक बार रुद्र कहा गया है।[3] -- एक स्थल पर रुद्र को 'मेघापति'[4] की उपाधि दी गई है इससे भी रुद्र और अग्नि का तादात्म्य झलकता है। --- उत्तर-कालीन वैदिक साहित्य में इस तादात्म्य को स्पष्ट रूप से माना गया है और फलस्वरूप 'सायणाचार्य' ने निरन्तर दोनों को एक ही माना है।" डा० यदुवंशी ने एक अन्य स्थान[5] पर भी लिखा है — "ब्राह्मणों ने रुद्र और अग्नि के पुराने तादात्म्य पर जोर दिया था। इसका संकेत हमें यजुर्वेद[6] में ही मिल जाता है, जहाँ अग्नि द्वारा देवताओं की सम्पत्ति का अपहरण किए जाने की कथा में रुद्र और अग्नि का तादात्म्य किया गया है।"

शुक्ल यजुर्वेद[7] में भी अग्नि के भव शर्व, ईशान, उग्र, पशुपति आदि रुद्र के ही अपर नाम गिनाए गए हैं। अथर्ववेद[8] में रुद्र को अग्नि कहकर नमन किया गया है।

---

(1) तस्मै रुद्राय नमोऽस्त्वग्नये (अथर्व ७, ८७)

(2) अग्निꣳ हृदयेनाशनिꣳ हृदयाग्रेण पशुपतिं कृत्स्न-हृदयेन भवं यक्ना। शर्वं मतस्नाभ्यामीशानं मन्युना महादेवमन्तः पर्शव्येनोग्रं (यजु० ३६, ८)

(3) यजुर्वेद (तैत्तरीय संहिता) १, ५, १

(4) शैवमत पृ० २० से उद्धृत

(5) ऋ० १, ४३, ४; [शैवमत पृ० ५ से उद्धृत]

(6) त्वमग्ने रुद्रो ऋ० २, १, ६ और दे० ऋ० ३, २, ५ भी

(7) यजु ३, १२ और १५, २० (दे० पृ० ५८ पा० टि० ४)

(8) ~~अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या ऽ अयम्।~~

(१) शतपथ ब्राह्मण में 'अग्नि ही रुद्र है', 'जो रुद्र है वही अग्नि है', 'पशुओं के पति रुद्र अग्नि हैं', कह कर मरुद्गणों ने अग्नि को रुद्र संज्ञा से (२) स्तुति की है। वहाँ 'अग्नि स्वरूप नौ कुमार हैं' — ऐसा कह कर रुद्र, शर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव, ईशान और कुमार ये नौ नाम (३) गिनाए हैं।

(१) ह. ग्रन्थों (४) आ. राजकुमार जैन ने शतपथ आदि के कई प्रमाण देते हुए लिखा है — "समस्त प्राचीन श्रुतियों के आधार पर स्तुत्य अग्नि शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए ब्राह्मण ऋषियों ने यह व्यक्त किया है कि उपास्य देवों में अग्र में उत्पन्न होने के कारण वह (ऋषभशिव) अग्रि अथवा अग्नि संज्ञा से प्रसिद्ध हुए।"

(१) पुराण विमर्श में बलदेव उपाध्याय ने भी लिखा है — "वस्तुतः अग्नि रुद्र के ही प्रतीक हैं। अग्नि के दृश्य भौतिक आधार पर रुद्र की कल्पना खड़ी की गई है। अग्नि की शिखा ऊपर उठती है अतः रुद्र के ऊर्ध्व लिंग की कल्पना हुई।"

(अ) सर्वस्यै दस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्रिरग्रिर्ह तमग्निरित्याचक्षते परोक्षम् (शतपथ ब्रा. ६,१,१,११)

(आ) अग्रे वा एनमेतदग्रे देवानां अजनयत तस्मादग्निरग्रिर्ह वै नामैतद्यदग्निरिति (शतपथ ब्रा. २,२,४,२)

(इ) ईस्वी पूर्व दूसरी सदी के खारवेल शिलालेख में भी ऋषभ का उल्लेख अग्गजिन के रूप में हुआ है (नन्दराजनीतान अग्गजिनस)

(ई) प्रजापतिः देवतानः सृज्यमानु अग्निमेव देवानां अग्रमसृजत। (तैत्तिरीय ब्रा. २१,६,५)

(उ) 'अग्निर्व सर्वादाम' (ताण्ड्य ब्राह्मण ५,६,३)

(ऊ) अग्निरस्याणि कुमारो नवम् (शतपथ ३,१,३,१८)

(ऋ) (क) अग्नि वै रुद्रः (३,१,३) शतपथ ब्रा.
(ख) यो वै रुद्रः सोऽग्निः (शतपथ ५,२,५,१३)

(१) शतपथ के सभी उद्धरण ह. ग्रन्थ पृ. ६१२ और पुराणविमर्श पृ. ४७३-४ से लिए गए हैं।

[ज] देवाधिदेव ऋषभशिव ही वेदवर्णित सूर्यदेव हैं—

जिस प्रकार अग्नि को समूचे प्राचीन भारतीय वाङ्मय में ऋषभशिव के प्रतीक रूप में ग्रहण किया गया है वैसे ही प्रकाश का साधन भौतिक सूर्य भी ऋषभशिव की अष्टमूर्तियों में से एक प्रतीक ही है। कवियों की वाणी सदैव साम्य के आधार पर ही प्रतीकों का ग्रहण करती है। जैसे अग्नि और ऋषभशिव में प्रमुखतः ज्योतिसाम्य है और अग्नि इस ज्योति का प्रतीक है वैसे सूर्य प्रमुखतः ज्ञान का प्रतीक है। कहावत भी है— 'ज्ञानसूर्य प्रगटा अज्ञान अँधेर विनाश'।

अव्यक्त ज्योतिर्बिन्दु, ऋषभशिव के रूपसाम्य के लिए सीमित, सूक्ष्म आत्मा को दृष्टि में रख कर जहाँ अग्नि को प्रतीक रूप में लिया गया है वहाँ उनके गुणसाम्य के लिए सीमाहीन ज्ञान और गुणों के भंडार को दृष्टि में रख कर सूर्य को प्रतीक रूप में ग्रहण किया गया है। ज्ञानसूर्य स्वयं कभी संकुचित नहीं होता अपितु लोकाग्र की लालिमा के बीच ओझल हो जाता है और अज्ञानरात्रि के अन्त में उसी लालिमा के बीच से लोक समस्त पर स्वयं प्रगट हो जाता है। अनादि सृष्टि का यही क्रम अनादि काल से अविराम चलता आ रहा है।

अग्नि-सूर्य ऐक्य: ऋग्वेद में कहा है— 'अग्नि (अज्ञान) रात्रि के समय सब प्राणियों के शीर्ष रूप (उच्चस्थानीय लोकाग्रवासी) होते हैं और प्रातःकाल सूर्य रूप से प्रगट हो जाते हैं।'[1] × 'जो अदृतिन प्रदेश में आदित्य

[1] मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्योजायते प्रातरुद्यन्।
(ऋ. १०, ८८, ६)

का स्थान जानते है वे अमृतत्व पाते है' (ऋ॰ १,१६४,२३)। यजुर्वेद मे भी कहा है — 'सविता देव की दीप्ति आकाश मे सबसे ऊपर (१) प्रतिष्ठित है।' × 'वे (अग्नि) परमाकाश में सूर्य (२) रूप से जन्मे हैं।' अथर्ववेद मे भी अग्नि, मित्र, वरुण, सूर्य आदि मे स्पष्टतः ऐक्यस्थापित किया गया है — 'तत्त्व को जानने वाले विद्वान अग्नि मित्र, वरुण को अग्नि ही बताते हैं और द्युलोक मे जो सुन्दर पर्णयुक्त सूर्य है, इन्हें भी अग्नि ही कहते हैं। इस एक ही अग्नि को आत्मस्वरूप से देखने वाले विद्वान इन्हें मातरिश्वा यम, अग्नि आदि अनेक नामों से पुकारते हैं।' यह ऋचा (३) ऋग्वेद मे भी उपलब्ध है ऋग्वेद मे इसीप्रकार यत्रतत्र कई स्थलों पर ~~सूर्य को~~ अग्नि को सूर्य कहा है — 'अग्नि, तुम्हीं (४) सूर्य या स्वामी हो।' × 'अग्नि! तुम (ज्ञान-) यज्ञ के लिए आदित्य (५) हो कर आते हो। तुम (ज्ञान-) चक्षुरक्षक, चक्षु के समान दर्शनशक्ति से समान्न करने वाले हो।' यजुर्वेद मे स्पष्टतः अग्नि को उपमा भौतिक सूर्य से दी गई है — 'वैश्वानर अग्नि ज्ञानाग्नि द्वारा उत्पन्न हुए विश्व को देखते हुए सूर्य से स्पर्धा करते है और सूर्य के समान (६) दीप्तिमान हो कर (ज्ञान-) वृष्टि आदि कार्यों को करते हैं।'

---

(६) इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण (यजु॰ २६,७)

(५) भुवश्चक्षुर्महऋतस्य गोपा भुतो वरुणो यदवतायवेषि। (ऋ॰ १०,८,५)

(४) --सहस्वोऽग्ने --प्रपयन्त्सूर्यो नृन् (ऋ॰ ३,१८,४)

(३) इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गुरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
(अथर्व॰ ९,५,१०,२८; ऋ॰ १,१६५,४६)

(२) परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे। अग्निर्ह-- (ऋ॰ १०,५,७)

(१) अध्वा यस्यामतिर्भा ऽअतिद्युतत् (यजु॰ ४,२५)

सूर्य दुहिता वाक्देवी हो ब्राह्मी है :— ब्रह्मा स्वरूप ऋषभ की पुत्री ब्राह्मी (सरस्वती) जैसे बाहुबली आदि के प्रति सदा परोक्ष मीठी वाणी का विकास करती है वैसे ही ऋग्वेद में 'सूर्य की दुहिता वाग्देवी देवों के निकट प्रत्यक्ष रहित अमृत रूप अन्न (वाणी) का विकास करती है।'[1] (तात्पर्य है कि ब्राह्मी ने बाहुबली से कटुवाणी से सीधा यह नहीं कहा कि तुम अहंकारी हो अपितु परोक्ष रीति से यह कहा था कि हाथी पर आरूढ व्यक्ति को केवलज्ञान[2] नहीं होता; क्योंकि देवतायें भी सदा परोक्षप्रिय होते हैं।

केशी वृषभशिव की भाँति 'सविता देव सूर्य (भी) उज्ज्वल केश वाले हैं। वे पूर्व (पूर्वीयदेश भारत) को और क्रमागत आलोक का उदय करते हैं। उनका जन्म होने पर पूषा (भरण-पोषण करती भरत) अग्रसर होते हैं। वे ज्ञानी हैं। संसार को देखते और (पतन से)[3] बचाते हैं।' यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है ऋषभशिव की ही भाँति उनके पुत्र (ब्रह्मा-भरत) का 'पूषा' नाम भी गुणवाचक और कर्तव्य वाचक है।

परवर्ती वैदिक ग्रन्थों में शिव को (विषय-)विषपान कथा के उल्लेख की भाँति ऋग्वेद में सूर्य द्वारा विषों के विनाश (या सोखने) का वर्णन है — 'सूर्य बड़ी संख्या में विषों का विनाश[4] करते हुए उदित होते हैं; वे अदितिपुत्र

---

④ उदपप्तदसौ सूर्यः पुरुविश्वानि जूर्वन्।
आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा॥ ऋ.१,१६१,६

③ सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात्सविता ज्योतिरुदयाँ अजस्रम्।
तस्य पूषा प्रसवे यात्यविद्वान्त्सम्परयन्विश्वा भुवनानि गोपाः॥
(ऋ.१०,१३९,१)

② हस्तिस्कन्धाधिरूढानामुत्पद्यते न केवलम् (त्रि.५,७८)

① आ सूर्यस्य दुहिता ततान श्रवो देवेष्वमृतमजुर्यम्।
(ऋ.३,५३,१५)

आदित्य प्राणियों के मङ्गलार्थ पर्वतों (ऊँचे स्थान) से उत्पन्न होते है।' मङ्गलकारी होने से सूर्य का ही अपर नाम 'शिव' है। ध्यान रहे कि ऋषभशिव को विषपान-कथा का उल्लेख जैन-ग्रन्थों में भी प्रकारान्तर से किया गया है।①

यजुर्वेद मे (विषय-) विषपान का उल्लेख करते हुए रुद्र की स्तुति सूर्य रूप से की गई है—'यह रुद्र सूर्य रूप से प्रत्यक्ष, उदयकाल मे अत्यन्त लाल और अस्तकाल मे अत्यन्त अरुण वर्ण वाले हैं। यह मध्यान्ह काल मे पिङ्गलवर्ण रहते हैं। उदयकाल मे प्राणियों के कर्मों का विस्तार (ऋषभदेव की भाँति कर्मभूमि की व्यवस्था) करते हैं। --- इन रुद्र की ग्रीवा विषधारण से नीली हो गई थी। यह आदित्य रूप से उदय-अस्त करते है।②' सूर्योपनिषद् मे भी—'यह रुद्र ही भास्कर③ हैं।'

लन्दन विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत महानिबन्ध→'शैवमत'④ में डा० यादुवंशी लिखते हैं→ "रुद्र = अग्नि, इस साम्य को एक बार मान लेने पर इसको बड़ी सुगमता से रुद्र = अग्नि, सूर्य तक बढ़ाया जा सकता है, और कुछ ऋग्वेदीय सूक्तों से ही प्रतीत होता है कि उस समय भी रुद्र और सूर्य के इस तादात्म्य को ऋषियों ने पहचान लिया था।"

---

④ 'शैव मत' (हिन्दी अनु० पृ० ५ से उद्धृत)

③ 'रुद्र एष हि भास्करः' (सूर्योपि० पृ० ५५५; पुराणविमर्श पृ० ६६६)

② असौ यस्ताम्रो ऽ अरुण ऽ उत बभ्रुः सुमङ्गलः।
ये चैनं ँ रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशो--।
असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः (यजु० १६, ६-७)

① देखिए प्रकरण ७ मे 'दान का रहस्य'

प्रकरण-२ एक दूसरा व्यक्तित्व → भरत हो ब्रह्मा विष्णु इन्द्र

देवाधिदेव ऋषभशिव के पश्चात् इस सृष्टि रूपी रंगमंच का आत्मिक दृष्टि से दूसरा प्रधान व्यक्ति (पुरुष) है → भरत, जिन्हें वैदिक परम्परा में इन्द्र, पूषा, चन्द्रमा, वायु, मुद्गल, व्रात्य, ब्रह्मा, विष्णु नारायण, अर्जुन आदि नाम दिए गए हैं जिनमें ब्रह्मा अर्जुन, मुद्गल, व्रात्य आदि नाम इनके ऋषभकालीन, पूर्व, पुरुषार्थी जन्म के सूचक हैं और भरत, विष्णु, पूषा, नारायण, इन्द्र आदि नाम इनके सतयुगी प्रारब्धगत ऐश्वर्यवान् जन्म के सूचक हैं।

जैन और जैनेतर दोनों ही परंपराओं मे इन आदिब्रह्मा भरत को ऋषभशिव के सहवर्ती रूप में प्रस्तुत किया गया है। दोनों ही परम्पराओं के विशाल वाङ्मय में जितना विस्तृत वर्णन इन दो का है, उतना किसी तीसरे पुरुष का नहीं। यदि वेदत्रयी मे इन्द्र और अग्नि के सूक्तों की संख्या और महिमा सबसे अधिक है तो वेदोत्तर काल में इनके अपर नाम विष्णु और शिव (रुद्र) के पुराण-उपनिषदादि ग्रन्थों की संख्या ही सर्वाधिक है और उनमें भी वेदत्रयी की भाँति ही (इन्द्रावरुण, अश्विनौ, अश्विद्वय, इन्द्राग्नी आदि रूप से) प्रायः इन दोनों का चरित्रचित्रण साथ ही साथ किया गया है।

इसी प्रकार जैनियों के आगमग्रन्थों से लेकर आगमोत्तर साहित्य तक ऋषभ और भरत का ही चरित्रचित्रण अथवा महिमा जैनियों द्वारा सर्वाधिक की गई है। जैन साहित्य मे भी दोनो का वर्णन साथ ही साथ हुआ है मानो एक के बिना दूसरे का कोई अस्तित्व ही न हो। हेमचन्द्र प्रभृति मूर्धन्य आचार्यों ने

भी समग्र ग्रन्थ का एक नाम (त्रिषष्टि का प्रथम पर्व→) 'आदीश्वर चरित्र' देने पर भी उत्तरार्ध के अधिकांश और पूर्वार्ध के कुछ भाग में भरत के चरित्र का ही विशेष चित्रण किया है। इसी तरह ग्रन्थ के उत्तरार्ध में ~~ऋषभ~~ आदीश्वर ऋषभ और द्वन्द्व की विशेष महिमा की गई है। इससे सिद्ध होता है कि इस कालचक्र में ऋषभ के पश्चात् सम्राट भरत ही आत्मिक दृष्टि से सृष्टिरंग मंच के दूसरे प्रखर पुरुष हैं जिनके नाम पर आज भी हमारे देश का नाम- 'भारत' समस्त भारतीय वाङ्मय में विख्यात है।

---

(२) (निम्न उद्धरणों में से अधिकांश परिशीलन पृ. १४८ से हैं)

(क) 'भरतनाम्नश्चक्रिणो देवाच्च भारतनाम प्रवृत्तं भारतवर्षाच्च' (जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वृत्ति)

(ख) तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायण परायणः।
विख्यातं वर्षमेतद् यन्नाम्ना भारतमद्भुतम् (भाग. ११,२,१७)

(ग) हिमाह्वयं दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत्] वायु ३३,५२
तस्माद् भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः] लिंग ४७,२४

(घ) तन्नाम्ना भारतं वर्षमितिहासीज्जनास्पदम्] महापु.
हिमाद्रेरासमुद्राच्च क्षेत्रं चक्रभृतामिदम्] १५,१५८,३६

(ङ) आसीत् पुरा मुनिश्रेष्ठो भरतो नाम भूपतिः] नारद पु.
आर्षभो यस्य नाम्नेदं भारतं खण्डमुच्यते] ४८,५

(च) ऋषभाद् भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रः शताग्रजः।
ततश्च भारतं वर्षमितल्लोकेषु गीयते ॥ विष्णु. २,१,३२

(छ) सोऽभिषिच्य ऋषभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः।
हिमाह्वयं दक्षिणं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ॥ ब्रह्माण्ड पु. १४,६१

(ज) हिमाह्वयं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः ॥ मार्कण्डेय पु. ६३,४०

(झ) वाराह अ. ७४ (ञ) स्कंध ३७, ५७ (ट) शिव अ. ५२ (ठ) हिन्दी विश्वकोश

(ड) येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीद्येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति (भाग. ५,४,९)

ख्याति अपत्रा महिमा उसी को होती है जिसने जनकल्याण के लिए कोई श्रेष्ठ, सुखदायी कार्य किया हो। भरत ने ही विश्व में एक छत्र सम्राट हो कर प्रजा का ऐसा श्रेष्ठतम भरणपोषण किया था कि विश्व के इतिहास मे आज तक कोई नहीं कर सका। इनके इसी महान पोषण कार्य की स्मृति में वैदिक काल में 'पूषा' (पोषणकर्ता) नाम से इनकी स्तुतियाँ की गई हैं। तत्पश्चात् वेदोत्तर काल में 'सृष्टि-पालनकर्ता विष्णु' नाम से इनकी ख्याति हुई। विष्णु चतुर्भुज, वास्तव में, कोई चार हाथ का व्यक्ति-विशेष नहीं होता; अपितु विष्णु के दो हाथ सतयुगी सम्राट 'नारायण' चक्रवर्ती और दो हाथ 'नारायणी लक्ष्मी' के आदर्श गृहस्थ धर्म के प्रतीक रूप मे ही दिखाए गए हैं।

वैदिक ग्रन्थों में 'भरत' (⊗) की तरह विष्णु को भी चक्रधारी दिखाया जाता है। जैन परम्परानुसार जहाँ ऋषभ को केवलज्ञान उत्पत्ति के साथ (१) ही भरत के शस्त्रागार में चक्र की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है वहाँ वैदिक परम्परा मे विष्णु (कृष्ण) के माँगने पर वह चक्र शिव से (२) प्राप्त होने का उल्लेख है। भरत (३) की भाँति विष्णु भी चक्र के द्वारा शत्रुओं का संहार करते हुए दिखाए जाते हैं। जैन और (४) दोनों ही परम्पराओं मे (५) इस चक्र का नाम 'सुदर्शन' दिया गया है। जिनसेनाचार्य ने लिखा है — 'इन विजयी

---

③ चक्ररत्नमभूज्जिष्णो दिक्चक्राक्रमणक्षमम्।
नाम्ना सुदर्शनं -- (महापु० ३८, १६६)

② सौर पुराण ४१, १४५ और आगे (शैवमत पृ० १३५)

① उत्पन्न केवलस्तात उतश्चक्रमितोऽभवत् (त्रि० ३, ५१५)

⊗ (अर्थात् जैन ग्रन्थों वर्णित भरत चक्रवर्ती)

चक्रवर्ती के 'सुदर्शन' नाम का चक्र था जो समस्त दिशाओं में आक्रमण करने को समर्थ था।'

जैन परम्परा मे जिन्हें ऋषभ के ज्येष्ठ पुत्र भरत कहा गया है, वैदिक परम्परा मे उन्हें शिव के ज्येष्ठ पुत्र 'ब्रह्मा'[1] कहा गया है। वैदिक परम्परा में ब्रह्मा-विष्णु का ऐक्य (यो वै ब्रह्मा स वै विष्णुः) दिखाया गया है क्योंकि पुरुषार्थी और योगी ब्रह्मा ही तो अग्रिम जन्म में 'माया जीते जगत जीत' बन कर विष्णु रूप परमपद का प्रारब्ध पाते हैं। महाभारत मे स्पष्ट कहा है — 'परमपद विष्णु है, अजन्मा ब्रह्मा उस विष्णु संज्ञक निर्द्वन्द एवं परिग्रह शून्य पद को प्राप्त होते है'[2]। भगवद्गीता मे भी 'कृष्ण' (कृष् + णिन् अर्थात् ज्ञानयोग से आत्माओं को आकृष्ट करने वाला) शब्द योगेश्वर ऋषभशिव के लिए आया है और अर्जुन तो नर से नारायण बनने की शिक्षा ले ही रहा है अतः वह विष्णु स्वरूप है। इसीलिए महाभारत में भी कहा है — 'तू अर्जुन को सदा उन्हीं नारायण का अवतार समझ जो तपस्या से नर रूप मे प्रगट हुए हैं'[3]। यहाँ इन नारायण को आदिदेव लोककर्ता ब्रह्मा भी कहा गया है[4]। वाराह पुराण मे जहाँ नारायण द्वारा ॐ शब्द से सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन है वहाँ गोपथ ब्राह्मण

---

④ योऽसौ नारायणो नाम पूर्वेषामपि पूर्वजः।
आदिदेवो जगन्नाथः लोककर्ता स्वयं प्रभुः॥ द्रोण २०१,५७
तस्यैव तपसा जातं नरं नाम महामुनिम्।

③ तुल्यमेतेन देवेन तं जानीह्यर्जुनं सदा॥ द्रोण २०१,८६

② पदं विष्णुरजो ब्रह्मा निर्द्वन्द्वं निष्परिग्रहम् (हरि० १,२३,३३)

① प्रमाण के लिए दे० पृ० ६

में ब्रह्मा भी 'उ' अक्षर का ही सर्वप्रथम दर्शन करते हैं।[1] उपनिषदों[2] में भी ब्रह्मा-विष्णु का ऐक्य इस प्रकार दिखाया गया है — (क) 'यो ब्रह्माविष्णुरीश्वरः' (ख) 'विष्णुरीशानो ब्रह्मा' (ग) 'त्वं ब्रह्मा त्वं च वै विष्णुः' (घ) 'ब्रह्मैव विष्णुः'।

वैदिक कालीन इन्द्र ही वेदोत्तरकाल में ब्रह्मा कहे गए हैं। वेदोत्तरकालीन ब्रह्मा की भाँति वेदवर्णित इन्द्र को दाढ़ी-मूँछ वाला दिखाया गया है। यह इन दोनों की एकता का सबसे बड़ा प्रमाण है क्योंकि अन्य किसी देवता को दाढ़ी-मूँछ नहीं दिखाई जाती। उदा०[3] ऋग्वेद में — 'इन्द्र अपने श्मश्रु को हिलाते हैं' × 'वे सोमरस द्वारा अपनी मूँछ भिगोते हैं -- हिलाते हैं।'[4] अथर्ववेद में भी ब्रह्मा की भाँति 'इन्द्र के केश-दाढ़ी-मूँछ सब शुभ्र रंग के हैं। इनकी सब साजसज्जा शुभ्र (श्वेत) रंग की है।' चतुरानन ब्रह्मा की भाँति 'इन्द्र के चार अहिंसनीय शरीर हैं जिनसे वे अपने बड़े कार्यों को करते हैं।'[5]

(५) चत्वारि ते असुर्याणि -- त्वमङ्ग तानि विश्वानि वित्से येभिः कर्माणि मघवन् (ऋ० १०,५४,४)

(४) हरिश्मश्रुर्हरिकेश आयस्तुरस्पेये यो हरिपा अवर्धत। (अथर्व० २०,३८,२१,३)

(३) (क) इन्द्र --- प्रश्मश्रु दोधुवदूर्ध्वधा (ऋ० १०,२३,१)
(ख) इन्द्र श्मश्रूणि हरितामि प्रुष्णुते -- धूनोति वातो (ऋ० १०,२३,४)

(२) (क) रामोत्तरतपाणि ५ (ख) नृसिंहोत्तरतपाणि उप०
(ग) मैत्री उप० ५,१ (घ) गोपी उप० [उपनिषद्वाक्यकोश]

(१) (क) स (ब्रह्मा) ओमिति एकाक्षरं समपश्यत (गोपथ पू० १,१५) (पुराणदिग्दर्शन पृ० १५५)

(ख) दे० वाराहपु० ६,१ से २५ (सृष्टिवाद पृ० १६५)

पौराणिक ब्रह्मा की भाँति ऋग्वेद के इन्द्र द्वारा सारी सृष्टि-रचना का वर्णनक्रम भी दिया गया है→ 'इन्द्र रूप प्रजापति ने ही विश्वामित्रादि सात ऋषियों को रचा। उनके ही शरीर से बालखिल्यादि आठ उत्पन्न हुए, फिर भृगु आदि नौ हो गए। अंगिरा आदि को मिला कर दस उत्पन्न हुए।'[1] इसी तरह अन्य[2] स्थलों पर भी इन्द्र को सृष्टि का रचयिता कहा गया है। एक स्थान पर इन्द्र स्वयं जोर दे कर कह रहे हैं — 'मैं जो कहता हूँ वह सत्य है, निश्चय जानो मैं सब मनुष्यों और पशुओं का जन्मदाता हूँ।'[3]

पौराणिक ब्रह्मा की भाँति ही ऋग्वेद में इन्द्र को भी सरस्वती से सम्बद्ध किया गया है→ 'सरस्वती! तुम्हारी सहायता से इन्द्र ने देवनिंदकों का संहार किया है -- इन्द्र के समान तुम्हारी भी जो धन के लिए स्तुति करता है।'[4] × 'इन्द्र और वारिराशि द्वारा स्फीत सरस्वती हमारे पास आवें।'[5] × 'इन्द्र! सरस्वती देवी तुम्हारे पास थीं।'[6]

अथर्ववेद में स्पष्टतः 'इन्द्र ही ब्रह्मा हैं क्योंकि वही महान हैं, वे ब्रह्मात्मक इन्द्र हैं।'[7] सामवेद के अनुसार भी आदिदेव ब्रह्मा की भाँति 'न इन्द्र से पूर्व कोई प्रगट हुआ, न कोई उनसे अधिक बली है और न ऐश्वर्य-

(७) इन्द्रो ब्रह्मा ब्रह्मणात् सुष्टुभः (अथर्व. २०, १, २, ३)
(६) सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णाक् (ऋ. १०, १३१, ५)
(५) 'इन्द्रो नेदिष्ठमवसागमिष्ठः सरस्वती' (ऋ. ६, ५२, ६)
(४) सरस्वति देवनिन्दो निबर्हय -- उपब्रूते धने हिते।
इन्द्रं न वृत्रतूर्ये। (ऋ. ६, ६१, ३-५)
(३) अन्नेदु मे मंससे सत्यमुक्तं द्विपाच्च यच्चतुष्पात्संसृजानि।' (ऋ. १०, २८, १०)
(२) दक्षो विश्वायुर्वेदसे (ऋ. १०, १४४, १)
(१) सप्त वीरासो अधरादुदायन्नष्टोत्तरात्तात्समजग्मिरन्ते।
नव पश्चातस्थिवांसमन्त आयन्दश प्राक्सानु वि तिरन्त्यश्नः॥
(ऋ. १०, २८, १५)

मान् (जैसे भरत); उनसे अधिक किसी की स्तुति भी नहीं की जाती (जैसे विष्णु)।' श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी रुद्र द्वारा ज्येष्ठपुत्र ब्रह्मा के स्थान पर इन्द्रादि देवों की उत्पत्ति का ही उल्लेख[2] आया है।

वैदिक परम्परा में उल्लिखित इन्द्र की भाँति जैन परम्परा में 'राजा भरत का शरीर वज्र की हड्डियों के बन्धन और वज्र के ही वेष्ठनों से वेष्ठित' बताया गया है। अर्थात् उनका शरीर भी वज्रवृषभनाराच संहनन का धारक[3] था। त्रिषष्टि में एक स्थान पर कहा है 'इन्द्र दूसरे भरत की तरह भगवान के पास[4] आया।'

जैन परम्परा में वैदिक[5] ब्रह्मा की भाँति भरत के मुख द्वारा भी ब्राह्मणों की उत्पत्ति का उल्लेख है। जिनसेनाचार्य के अनुसार — 'जो ब्रह्मा की सन्तान हैं उन्हें ब्राह्मण[6] कहते हैं।' × 'भरत शास्त्रों का मुख से अध्ययन करते हुए ब्राह्मणों की रचना करेंगे जिनके कार्य होंगे पढ़ना-पढ़ाना-दान और प्रतिग्रह[7]।'

---

(1) मुखतोऽध्यापयन् शास्त्रं भरतः स्रक्ष्यति द्विजान् (महापु० १६, २४६)

(2) ब्रह्मणोऽपत्यमित्येवं ब्राह्मणाः समुदाहृताः (महापु० ३६, १२७)

(3) द्विजा अह प्रथमजा ऋतस्य यं (ऋ० १०, ६१, १६); ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् (ऋ १०, ६०, १२); सर्वशास्त्र मुखजा ब्राह्मणाः (महाभा) २६/६, ४०, ६

(4) अथ वार्षिकदानान्तो वासवश्चलितासनः।
भक्तान्य इव भरतो भगवन्तमुपास्थितः॥ (त्रि० ३, २६)

(5) नन्दनो वृषभेशस्य -- वज्रास्थिबन्धनं वज्रैः वलयैर्वेष्टितं वपुः। वज्रनाराचनिर्भिन्नं (महापु० ३६, २७)

(6) यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च (श्वे० ४, १२; ३, १६ से पूर्व भी)

(7) न ह्याङ्ग पुरा च न जज्ञे वीरतरस्त्वत्।
न को राया नैवया न नन्दना (साम० १४, २, ३(च))

जैन परम्परा में भरत की सैकड़ों सन्तति का उल्लेख वैदिक परम्परा में वर्णित ब्रह्मा की ही भाँति है। फर्क केवल इतना है कि ब्रह्मा द्वारा सहस्रों सन्तानोत्पत्ति का वर्णन है जब कि भरत के अर्धसहस्र पुत्र और पौन सहस्र पौत्रों[1] का उल्लेख किया गया है।

वैदिक ग्रन्थों में जहाँ ब्रह्मा से उत्पन्न हुई पुत्री को सरस्वती कहा है और इसे देवर्षियों द्वारा पूज्य बताया है वहाँ जैन ग्रन्थों में ब्राह्मी (ब्रह्मा से उत्पन्न) को भरत की बहन बताया है और यहाँ भी उन्हें श्रमण संघ के पूज्य गणिनी (स्वामिनी) पद पर बिठाया गया है।[2]

वैदिक परम्परा में वर्णित पञ्चानन ब्रह्मा की भाँति त्रिषष्टि में अनेकशः इन्द्र के ५ रूपों का उल्लेख आया है।[3]

डा० राजकुमार जैन ने ह. ग्रन्थ पृ० ६१४ पर 'भरत-पुत्र ऋषभसेन'[4] को वेदोल्लिखित अथर्वन् सिद्ध किया है और मुण्डकोपनिषद्[5] में अथर्वा को ब्रह्मा का ज्येष्ठ पुत्र कहा गया है; उससे भी सिद्धि होता है कि भरत और ब्रह्मा एक ही व्यक्ति थे।

~~(1) ब्रह्म~~

(५) प्रमाण के लिए दे० पृ० ४६ का पा० टि० १-अ

(४) 'भरतात्मजः ऋषभसेनो (नत्वार्षभसेनो ऋषभस्वामिनं)' (त्रि० ३, ६४४)

(३) (क) विचक्रे पञ्चधात्मानं पूर्ववत् पूर्वदिक्पतिः (त्रि० २, ६१०)
(ख) स चक्रे पञ्चधात्मानं पञ्चशक्रास्ततोऽभवन् (त्रि० २, ४१७)
(ग) विकृत्य पञ्चधात्मानमथ सौधर्मराजवत्---वासवः। (त्रि० २, ५७३)

(२) प्रमाण दे० पृ० ३४ पा० टि० १

(१) (क) 'भरतस्यार्धत्रयोदशैः पञ्चभिः शतैः। पुत्रैः पौत्रसप्तशत्या' (त्रिषष्टि ३, ६५१)

(ख) पंच य पुत्तसयाइं भरहस्स य सत्त नत्तु असयाइं (आवश्यकनि० ३४४) (आवश्यकचूर्णि पृ० १८२)

प्रकरण-३. ऋषभशिव के माता-पिता—एकमानवीयकरण

वेदवर्णित द्युलोक—पिता नाभि :—

जैन और जैनेतर परम्पराओं में अव्यक्त ज्योतिर्बिन्दु स्वरूप ऋषभशिव को त्रिलोकाग्रवासी, व्योम-मूर्ति, परमेष्ठी आदि अर्थों में सर्वोच्च लोक का निवासी बताया गया है।[1] वेदत्रयी में इस सर्वोच्च लोक को दिवि, द्युलोक, द्यावा और कहीं कहीं स्वर्लोक भी कहा गया है। यही द्युलोक (जिसे परवर्ती साहित्य में परमधाम, पार-लोक, ब्रह्मलोक, मुक्तिधाम, लोकाग्र, अलोकाकाशादि कहा गया है) जगत्पिता ऋषभशिव का जन्मदाता पिता कहा गया है। ऋग्वेद में स्पष्ट कहा है—'द्युलोक ने अग्नि (ऋषभशिव) को जन्म दिया। दिव्यलोक की जन्मदानशक्ति कैसी अद्भुत है।'[2] × 'ये वे ही अग्नि हैं जिन्हें द्यावा-पृथिवी ने जन्म दिया है।'[3] × 'माता-पिता (द्यावा-पृथ्वी) के पुत्र सूर्य हैं।'[4] × 'जिस अग्नि को द्युलोक और पृथिवी वर्धित करती है।'[4] × 'वैश्वानर अग्नि, माता-पिता के समान[5] आकाश-पृथिवी के मध्यस्थित अन्तरिक्ष में आए हैं।' × 'अग्नि सर्व समयों में दिविलोक से अवतीर्ण होते हैं।'[6] इत्यादि।

---

⑥ -- वेतीदिवो जनुषा कच्चिदा -- (ऋ॰ ६,१५,१)
⑤ वैश्वानरो नरमा रोदस्योरग्निः ससाद पित्रोरुपस्थम् (ऋ॰ ७,६,६)
④ वन्हि -- दौश्च यं पृथिवी वावृधाते (ऋ॰ ७,६,५); (१,१६०,३)
③ द्यावा यमग्निं पृथिवी जनिष्टाम् (ऋ॰ १०,४६,६)
② अग्निः --- द्यौर्जनयत्सुरेताः (ऋ॰ १०,४५,८)
① प्रमाण के लिए दे॰ पृ॰ १६ पर पा॰टि॰ २, ३, ४ और ५

प्रक्रिया :— वैदिक परम्परा में इस सम्पूर्ण सृष्टि और त्रिलोकी को तुलना विराट् पुरुष से की गई है जिसके नाभिस्थल को ही द्युलोक कहा गया है क्योंकि कल्प के आरम्भ से, द्युलोक रूप नाभि स्थल से ही असंख्य आत्मा रूपी (शक्तिस्वरूपा) नाड़ियाँ निकलती है और कल्पान्त में वहीं समा जाती हैं। इस प्रकार आत्मा रूपी नाड़ियों के जन्मस्थल को 'नाभि' कहा जाता है; अतः ऋग्वेद में कहा है — 'सूर्य तुम दिवि लोक में वास करते हो -- वह मेरा और सूर्य का (जन्मस्थान) नाभि है।'[1] अथर्ववेद में स्पष्टतः कहा गया है — 'नाभि स्वरूप द्यौ ही हमारा पिता और यह पृथिवी हमारी माता है। पिता रूप द्यौ (आत्म-) वृष्टि रूप गर्भ को पृथिवी में स्थापित[2] करता है।'

इस प्रकार यह पारलौकिक ऋषभशिव का ही नहीं अपितु समग्र भूतों का जन्मदाता, ~~निलय~~ निलयस्थल और निवासस्थान है। यजुर्वेद में कहा है- 'सृष्टि के रहस्य को जानने वाला ज्ञानी गुप्तस्थल में निहित उस सत्य रूप ब्रह्म को देखता है जिस परब्रह्म में यह विश्व घोंसले के समान है और यह सभी प्राणी प्रलयकाल में जिस ब्रह्म में लय (अदृश्य) हो जाते हैं तथा सृष्टिकाल में उसी से प्रगट[3] होते हैं।' × 'अन्धकार युक्त इस लोक से परे श्रेष्ठ स्वर्ग लोक को देखते हुए और सूर्य

---

[3] येनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सदयत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्नदं सं च वि चैति सर्वं (यजु० ३२, ८)
(अथर्व ६, ५, १०, १२) --पिता दुहितुर्गर्भमाधात्॥

[2] द्यौर्नः पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्नो माता पृथिवी महीयम्।

[1] सूरिदिति ते धियंधा -- सानो नाभिः परमास्या वा धहं --
(ऋ० १०, ६१, १८)

(६८) (क)

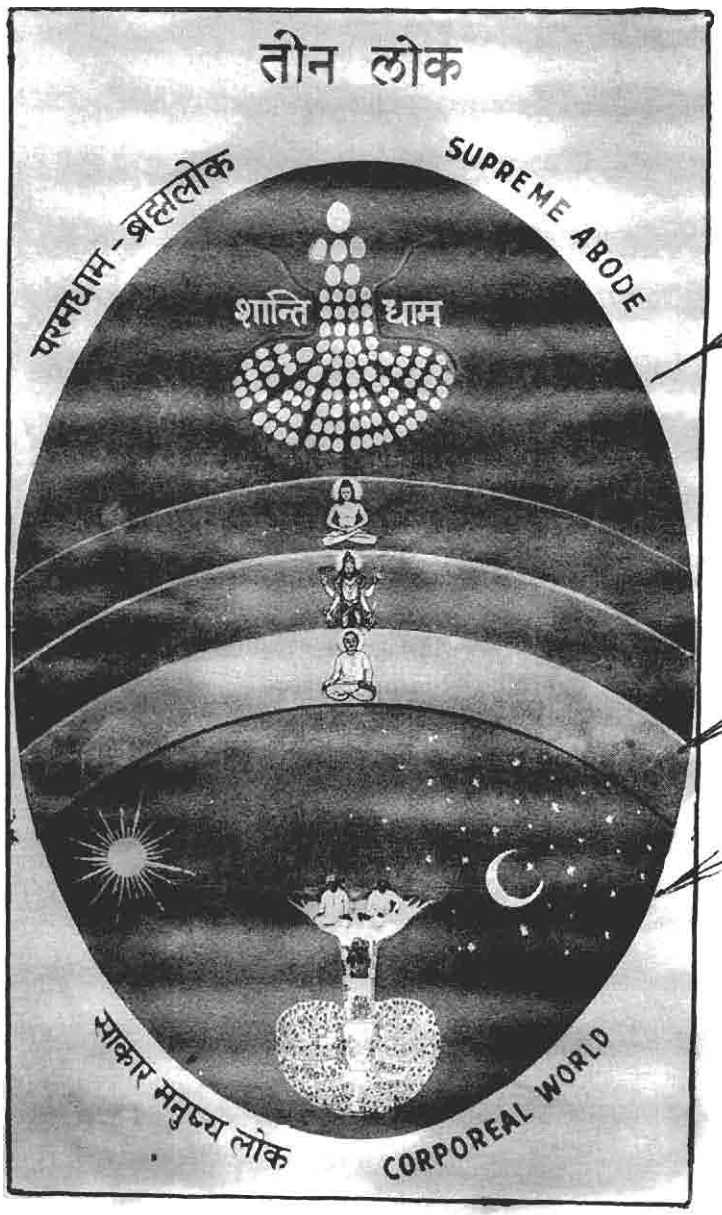

द्युलोक (पिता)

अन्तरिक्ष लोक

पृथ्वीलोक (माता)

लोक मे सूर्य के दर्शन करते हुए हम श्रेष्ठ ज्योति स्वरूप को प्राप्त हुए[1]।' छान्दोग्योपनिषद के अनुसार — 'ये समस्त भूत निस्सन्देह (परम) आकाश से ही उत्पन्न होते हैं और उसी मे विलीन होते है[2]।' कठोपनिषद मे कहा है — 'जहां से सूर्यदेव (अखण्डशिव) उदय होते हैं और जहाँ अस्त भाव को प्राप्त होते हैं, सभी देवता उसी मे समर्पित हैं। उसको कोई नहीं लाँघ सकता[3]।' मार्कण्डेय पुराण मे कहा है — 'भूलोक भुवर्लोक और स्वर्लोक में निवास करने वाले जीव इन लोकों के नष्ट हो जाने पर महर्लोक (परमधाम) मे निवास करते हैं[4]।' वायुपुराण अनुसार — 'मन्वन्तर के परावृत होने पर सब ओर से स्थानों का त्याग कर के (देवतागण) अभयरहित ऊर्ध्व महर्लोक को जाया करते हैं[5]।' इस बात की पुष्टि गीता मे भी की गई है — 'सृष्टि रूपी दिन के आने पर सब व्यक्त प्राणी अव्यक्त से जन्म लेते है और प्रलय रूपी रात्रि के आने पर उसी अव्यक्त में पुनः लीन हो जाते हैं (इस प्रकार) यही भूतसमुदाय बिन

(५) मन्वन्तरे परावृत्ते स्थानान्युत्सृज्य सर्वशः।
मन्त्रैः सहोर्ध्वं गच्छन्ति महर्लोकमनामयम् (वायु ४३,१६६)
तुलनीय :- ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् (अज्ञात)

(४) भूर्लोकोऽपि भुवर्लोकः स्वर्लोकस्तन्निवासिनः।
तदा विनाशमायान्ति महर्लोकश्च तिष्ठति॥ मार्क. १,६८,३६

(३) यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति।
तं देवा सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन॥ कठ २,१,६

(२)(क) छान्दो० १,६,१ (ख) 'आकाश' शब्द परमधाम का वाचक है (दे० ब्रह्मसूत्र १,१,२२ शंकर भाष्य)

(१) उद्वयन्तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥ (यजु० २५,१०)

आने पर पुनः पुनः जन्म लेता है और प्रलय रूपी रात्रि होने पर बरबस ही लीन (अव्यक्त) हो जाता है।[1] X
'सब प्राणी कल्पान्त में मेरे (निराकारी) स्वभाव को प्राप्त होते हैं (और) कल्प के आदि में मैं उन्हे पुनः छोड़ देता हूँ।' 'अपनी प्रकृति का आश्रय ले कर मैं इस सम्पूर्ण भूतसमूह को जो प्रकृति के नियन्त्रण में पराधीन है, पुनः पुनः सृष्टि के लिए उन्मुक्त करता हूँ।'[2]

ऊर्ध्वलोक से भूतोत्पत्ति का संकेत देते हुए हेमचन्द्र ने भी लिखा है — 'जिस तरह जल नीची जमीन की ओर जाता है उसी तरह प्राणी अज्ञानवश बारम्बार इस संसार की ओर जाते है।'[3] अन्त में 'मर्म से रहित होने पर भी जगत पर वात्सल्य रखने वाले ऋषभदेव ही इस विषम दुःख के समुद्र से जगत का उद्धार करते है।'[4] क्यों कि 'पुनर्जन्म से रहित उनका जन्म तो विश्व-जन्तुओं को जन्मादि के दुःख से छुड़ाने के लिए[5] ही होता है।

---

(५) अपुनर्जन्मनो जन्म दुरवच्छिद्विश्वजन्मिनाम् (त्रि० २, ६०३)
(४) निर्ममोऽपि जगन्नाथ जगतोऽप्यसि वत्सलः।
कथं विषमदुःखाब्धेस्तत्समुद्धरसेऽन्यथा ॥ त्रि० ४, ७८६
(३) अज्ञानाज्जन्मिनो भूयो भूयः संसारसन्मुखम्।
तथापि परिसर्पन्ति नीचाभिमुखमंबुवत् ॥ त्रि० ३, ५६८
(२) सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ गीता ९/७-८
(१) अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ गीता अ० ८ १९ ॥

स्वरूप और स्थिति :— बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर, मुण्डक, कठ आदि उपनिषदों में आए हुए एक प्रसिद्ध श्लोक के अनुसार इस परमधाम को सूर्य, चन्द्र और सितारों की दुनियाँ से भी परे एक स्वयंप्रकाशित[1] तत्व बताया गया है जिसका अनुमोदन गीता में भी किया गया है। महाभारत[2] के अनुसार — 'वह परमपद पञ्च प्राण, मन बुद्धि और दस इन्द्रियों के संघात रूप शरीर के संयोग से शून्य है। शब्द और स्पर्श से रहित है। जहाँ कान से सुनाई नहीं देता, आँख से दिखाई नहीं देता, वाणी द्वारा रहित है, वही परमपद या परब्रह्म है (तत्व) है। मनुष्य बुद्धि द्वारा उसका निश्चय करे और उसकी प्राप्ति के लिए निष्कलंक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करे। वायु पुराण में परमधाम को 'जन्म, जरा, मरण, संताप, थकान आदि से[3] रहित' बताया है, 'जहाँ कनकचर्या भूमि विन्यस्त की गई है' अर्थात वह स्वर्णाभ है[4]। x 'वहाँ गति का

(४) भावेन मनसो भूमिर्विन्यस्ता कनकामयी (शिवपुर वर्णन २३५)

(३) (क) न तत्र क्रमते मृत्युर्न तपो न जरा क्षमाः (" " २३५)

(ख) शिव नाम पुरं तत्र शरणं जन्मभीरुणाम् (" " २२३)

(२) लिङ्गसंयोगहीनं यच्छब्दस्पर्शविवर्जितम् ।
श्रोत्रेण श्रवणं चैव चक्षुषा चैव दर्शनम् ॥
वाक्सम्भाषाप्रवृत्तं यत् तन्मनः परिवर्जितम् ।
बुद्ध्या चाध्यवसीयेत ब्रह्मचर्यमकल्मषम् ॥ शांति २१५/२५

(१) (क) न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्त्यकुतोऽयमग्निः
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥
(बृह० ३, ५, १५; श्वेता. ६, १४; मुण्डक २, २, १०; कठ २, २, १५)

(ख) न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
--- तद्धाम परमं मम (गीता १५, ६)

अन्त होता है -- अधिकर्ता ब्रह्म ही वहाँ संज्ञा वाला क्षेत्रज्ञ होता है।[1]' अर्थात् वहाँ ईश्वर के सिवाय सब ही संज्ञाहीन होते हैं। वायुपुराण की भाँति गीता में भी इसे सुखदुःखादि द्वन्द्वों से रहित बताया है।[2]

हेमचन्द्र के अनुसार भी — 'मोक्षधाम में (आत्मा का) शाश्वत रूप और केवलज्ञान रूप सूर्य से अखंडित ज्योति है।[3]' 'जैनसृष्टिवाद' के अनुसार भी — 'आकाश दो हैं १. लोकाकाश २. अलोकाकाश। अलोक लोकाकाश से विस्तृत है अर्थात लोक की तो छहों दिशाओं में सीमा है जब कि अलोक की तो सीमा ही नहीं है।[4]' तत्वार्थसूत्र ४,१५ के विवेचन में पं सुखलाल जी ने लिखा है— 'मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास आदि काल व्यवहार मनुष्यलोक में ही होता है उससे बाहर नहीं।[5]' स्पष्ट है कि पारलोक में काल भी नहीं है।

इस पारलोक में आत्माओं की स्थिति (अवगह) क्रमशः पुरुषार्थ अनुसार होती है। जैन आत्माओं की स्थिति ऊर्ध्व प्रदेश में और अधम की क्रमशः निम्न प्रदेश में होती है। इस प्रकार ऋषभशिव का स्थान वहाँ सर्वोच्च[6] होता है। तत्त्वार्थ सूत्र १०, ६ की व्याख्या में पं. सुखलाल जी ने लिखा है — 'ऊर्ध्वलोक सिद्ध सबसे

---

(१) दे. पृ. ४८ का पा.टि. ४ (व्याख्या पृ. ५२-५१ पर)
(२) तत्त्व तत्त्वार्थसूत्र पृ. १६५
(३) 'सृष्टिवाद अने ईश्वर' पृ. ३६७
(४) रूपं च शाश्वतं ज्योतिः केवलालोकभास्करम् (त्रि. ३,५७६)
(५) द्वन्द्वैर्विमुक्ता सुखदुःखसंज्ञैः -- परमव्ययं तत् (गीता १५,५)
(६) ब्रह्मलोकात् -- गत्यन्तश्च ततः स्मृतम्। -- येभ्योऽधिकर्ता संज्ञज्ञे क्षेत्रज्ञो ब्रह्मसंज्ञितः॥ शिवपुरवर्णन २२२-३

थोड़े होते हैं और अधोलोक ~~सिद्धि~~ सिद्ध उनसे असंख्यात गुणा अधिक होते हैं।[1] उन्होंने लिखा है — 'वर्तमान भाव की दृष्टि से सभी के सिद्ध होने का स्थान एक ही सिद्धक्षेत्र अर्थात् आत्मप्रदेश या आकाश प्रदेश है।'

ऋग्वेद में द्युलोक और पृथिवी के अतिरिक्त इनके मध्यवर्ती स्थल का भी उल्लेख अनेक स्थानों पर किया गया है जिसे[2] अन्तरिक्ष कहा गया है — 'अरिमर्दन इन्द्र (अव्यक्त ब्रह्म) अंतरिक्ष पर रह कर निजभुजबल से लोकरक्षणार्थ भूलोक की सृष्टि करते हैं।' (ऋ॰ १,५२,१२)

पृथिवी पर ही स्वर्ग-नर्क :— कालक्रमानुसार स्वर्गादिक लोक और नरकादि भूमियाँ इसी पृथ्वी पर कालक्रमानुसार अवस्थित हैं। अथर्व वेद के अनुसार 'यह पृथिवी ही स्वर्ग है, इसी पर अन्तरिक्ष, पैदा करने वाली माता, उत्पादक पिता (ऋषभशिव) और उत्पन्न हुआ पुत्र (भरत) है। यहीं सब देव और पञ्चजन हैं। जो कुछ भी उत्पन्न हुआ और हो रहा है वह सब अदिति पृथ्वी पर[3] ही है।' वायुपुराण में भी भयभीत पृथ्वी ने राजा वेन से कहा — 'मुझ पर ये सभी लोक स्थित हैं और मेरे द्वारा सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है।'[4] वायुपुराण खण्ड दो के वैवस्वत मन्वन्तर खण्ड में मरीचि और कश्यप से देवता, ऋषियों और

---

④ मयि लोकाः स्थिताः राजन् मयेदं धार्यते जगत्। वायुः (पृथ्वी दोहन १५४)

③ ऋ॰ १,१६४,२३; ६,५२,१३ आदि।

② अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥ (अथर्व ७,१,६,१)

① तत्त्वार्थ सूत्र पृ॰ ३८६ और ३८६

त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः स्वभूत्योजा अवसे धृषन्मनः।
चकृषे भूमिं प्रतिमानमोजसोऽपः स्वधाभिरनु तस्थुषीर्विभुः॥ (ऋ॰ १,५२,१२)

मनुष्यों की उत्पत्ति का वर्णन जैसे प्रसंग अनेक वैदिक ग्रन्थों मे आए हैं जिनसे सिद्ध होता है कि इस पृथ्वी पर ही आरम्भकाल सतयुग अथवा भोगभूमि में देवताएँ थे जो सर्वथा निर्विकारी होने से आर्य (श्रेष्ठ) कहे जाते थे। बाद मे यही देवतायें कालक्रमानुसार देह के बन्धन मे आते-आते देहाभिमानी हो जाने से विकारी मनुष्य कहे जाने लगे और इस तरह प्रारब्ध युग की समाप्ति हो कर कर्मभूमि का आरम्भ द्वापर से हुआ।

यजुर्वेद के अनुसार[1] आरम्भ मे यह पृथ्वी प्रदेश मात्र थी। इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि आज से लगभग ५५० वर्ष पूर्व अमेरिका और आस्ट्रेलिया जैसे महाद्वीपों का अस्तित्व मानसपटल पर ~~नहीं~~ नहीं था। १४६२ में कोलम्बस की खोज के उपरान्त अमेरिका मे जनसंख्या की वृद्धि होने लगी। इससे पूर्व वहाँ थोड़े से 'रेड इण्डियन्स' थे जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि वे भी अज्ञात अतीत मे भारत से पहुँचे थे। इतिहास की साक्षी अनुसार भी विश्व की जनसंख्या मे सदा वृद्धि ही होती आई है। २००० वर्ष पूर्व क्राइस्ट से पहले ईसाई नहीं थे। २५०० वर्ष पूर्व स्लाम या मुस्लिमों धर्मियों का भी अस्तित्व नहीं था; परन्तु, २५०० वर्ष पूर्व भारतीय सभ्यता के अकाट्य प्रमाण उपलब्ध हो रहे हैं जब कि यहाँ आर्यों का अस्तित्व था। इन बातों से प्रतीत: सिद्ध होता है कि जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ती गई वैसे-वैसे पृथ्वी पर महाद्वीपों का प्राकट्य होने से पृथ्वी का विस्तार भी बढ़ता गया।

---

[1] इयत्यग्र आसीन् --- पृथिव्या: (यजु० ३८,५)

सतयुगी न्यून विस्तार वाली भोगभूमि में थोड़ी जनसंख्या पूर्वकल्पगत प्रारब्ध के अनुसार अति सुखी होती है क्योंकि कलियुगी महाविनाश के पश्चात् परमधाम के ऊर्ध्वतम भाग से श्रेष्ठ सिद्ध आत्माएं ही तो पहले आकर सत्त्वप्रधान सृष्टि का सुख भोगने की अधिकारी होती हैं। तदुपरान्त क्रमिक पुरुषार्थ अनुसार ऊर्ध्वतर, ऊर्ध्व, अधो, अधमतर और अधमतम पारलौकस्थ आत्माएं, जिनकी संख्या निम्नोत्तर क्रम से अधिकाधिक होती जाती है, काल क्रमानुसार मध्य सतयुग से लेकर कलियुग के अन्त तक उतरती ही रहती हैं अर्थात् बीच में पारलोक वापस न जाकर पृथ्वी पर ही जन्ममरण के चक्र में भ्रमण करती हैं। यही कारण है कि पृथ्वी पर मनुष्यों की ही नहीं कीट, पशु पक्षियों की भी संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है जिससे अशान्ति और दुःख भी बढ़ता ही जाता है। इस प्रकार जब सारी जीवात्माएं परमधाम से उतरकर बीज की भाँति पुनः पुनः जन्म लेने से बैटरी की तरह स्खलित हो कर कलियुग के अन्त में क्षीणतम आयु, शरीर, इन्द्रियादि वाली हो जाती हैं, तब महाविनाश के उपरान्त पावरहाउस रूपी परमधाम में पुनः वापस चली जाती हैं। केवल बीज मात्र थोड़े से प्राणी पृथ्वी पर बच जाते हैं जिनके द्वारा क्रमशः नई सतयुगी सृष्टि का आरम्भ होता है।

इस प्रकार यहाँ जगत्पिता ऋषभशिव के भी पिता → द्युलोक का परिचय दिया गया जिसका मानवीयकरण ~~वैदिक~~ ग्रन्थों में 'नाभि' और 'नन्द' (आनन्ददायी मोक्षधाम) के रूप में किया गया है। अब यहाँ 'यशोदा' (यशदायी भारतभूमि), और 'मरुदेवा', 'अदिति' आदि

मानवीयकरण के रूपोमे वर्णित पृथ्वी का संक्षेप में उल्लेख करें मे ।

भारतमाता मरुदेवा- यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि प्राचीन काल मे अविनाशी भूखण्ड भारत ही था, अन्य भूखण्डों का अस्तित्व नहीं था। तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव का जन्म स्थल होने से इस भूखण्ड का सर्वथा लोप नही होने पाता; अतः इसे अविनाशी भारत खण्ड कहा जाता है। अतः सिद्ध होता है कि प्राचीन वैदिक कवियों ने भारत खण्ड को ही प्रधानता, अखण्डता आदि की दृष्टि से पृथिवी कहा है क्योंकि व्युत्पत्ति के अनुसार भी 'पृथ्यते विस्तारमेति' पृथ्वी कही जाती है। अर्थात् प्राचीन भूखण्ड भारत ही विस्तार को पाने पर पृथिवी का रूप धारण कर लेता है। वैदिक ऋचाओं मे इसे 'अदिति' (दा+क्तिन्, न दीयते खण्ड्यते बृहत्वात्) भी कहा गया है। वेदोत्तर काल में 'अदिति' शब्द देवताओं की माता के लिए प्रयुक्त हुआ है जिससे भी सिद्ध होता है कि भारत ही देवताओं की भी जन्म भूमि होने से स्वर्ग अथवा भोगभूमि थी। जो भारतभूमि कभी श्रेष्ठाचारी स्वर्ग थी वही कालक्रमानुसार भ्रष्टाचारी नर्क बन जाती है तब इसे ही कवियों की कल्पना में दुःखदायी मरुभूमि अर्थात् 'मरुदेवा' कहा जाता है। मरु का अर्थ है मरुस्थल जहाँ भूखप्यास से दुःखी हो कर लोग मरने लगते हैं, दुःखी और अशान्त तो हो जाते हैं। अकाल मृत्यु होने लगती है। इस प्रकार अमृतत्व (दीर्घायु) प्रदान करने वाली भारतभूमि जन्ममृत्यु की दरें बढ़ने से सतयुग से कलियुग में मृत्युदायिनी 'मरुदेवा' (मृ+उ म्रियतेऽस्मिन्) कही गई है। जन्मभूमि को 'माता' (Motherland) ही कहा जाता है, पिता नहीं; अतः माता मरुदेवा प्रसिद्ध है।

जिनसेनाचार्य द्वारा किया गया सतयुगी, सरताज भारतमाता का चित्रण दृष्टव्य है — 'उस मरुदेवी ने अन्य स्त्रियों (Countries) के सौंदर्य रूपी सर्वस्व दान का अपहरण कर उन्हें दरिद्र बना दिया था[1]।' × 'संसार में जो स्त्रियाँ (देश) अतिशय यशवाली, दीर्घ आयु वाली, उत्तम सन्तान (तीर्थंकर भग०) वाली, मंगल (स्वर्ग) रूपिणी और उत्तम पति वाली थीं, वे सब मरुदेवी (भारत माता) से पीछे थीं। वह गुण रूपी रत्नों (सर्वगुण सम्पन्न, १६ कला सम्पूर्ण इन्द्रादि देवों) की खान थी, पुण्य रूपी सम्पत्तियों की पृथ्वी थी, पवित्र सरस्वती देवी थी (अतः) बिना पढ़े ही पण्डिता थी। वह सौभाग्य की परमसीमा थी, सुन्दरता की उत्कृष्ट पुष्टि थी, मित्रता की परम प्रीति थी और सज्जनता की उत्कृष्ट गति थी। वह कामशास्त्र की उत्पादयित्री, कलानदी का प्रवाह, कीर्ति का उत्पत्तिस्थान और पतिव्रत धर्म की परमसीमा थी।'[2][3]

---

③ सुयशाः सुचिरायुश्च सुप्रजाश्च सुमङ्गला।
पतिवत्नी च या नारी सा तु तामनुवर्णिता ॥५५॥
सा खनिर्गुणरत्नानां साऽवनिः पुण्यसम्पदाम्।
पावनी श्रुतदेवीव साऽन्वर्थीत्यैव पण्डिता ॥५६॥
सौभाग्यस्य परा कोटिः सौरूप्यस्य परागतिः।
सौहार्दस्य परा प्रीतिः सौजन्यस्य परा धृतिः ॥५७
प्रसूतिः कामतत्त्वस्य कलागमसरित्स्रुतिः॥५८॥
प्रसूतिर्यशसां साऽसौ सतीत्वस्य पराभूतिः॥ महापु० अ०१२

② प्राचीन भारत की पवित्र निर्विकारी सरस्वती लक्ष्मी, दुर्गा, सीता आदि भारतीय ललनाओं को भी भारतमाताएँ कहा जाता है जिन्हें किसी विद्यालय में पढ़ना नहीं पड़ता, अपितु वे प्रारब्धवश जन्म से ही विद्वान् होती थीं।

① रूपसर्वस्वहरणं कृत्वाऽन्यस्त्रीजनस्य सा (महापु० १२,१७)

एक अन्य स्थान पर कहा है — 'जिस प्रकार सरस्वती देवी या चन्द्रकला किसी को नमस्कार नहीं करती, किन्तु सब लोग उन्हीं को नमस्कार करते हैं उसी प्रकार मरुदेवी (भारतमाता) भी किसी को नमस्कार नहीं करती। तीनों लोकों में वही एक प्रशंसनीया थी। वह जगत्स्रष्टा की जननी थी अतः समस्त लोकों की जननी थी।'[1] एक स्थान पर कहा है 'वह मरुदेवी (भारतमाता) स्वभाव से ही सन्तुष्ट[2] रहती थी।' भारत के इस सन्तोषी स्वभाव का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि विदेशियों ने भले ही भारत पर शासन किया हो परन्तु भारतीयों ने वीर होने पर भी कभी विदेशियों पर शासन नहीं किया। एक अन्य स्थल पर कहा है — 'मरुदेवा अपने नाभिकमल[3] (मध्य भारतीय पर्वत) पर ऋषभदेव को धारण कर रही है।' जिसे 'अष्टापद' कहा गया है। इन्द्र द्वारा की गई ऋषभ और माता मरुदेवी की स्तुति में कहा है — 'आप दोनों पुण्य रूपी धन सहित हैं और धन्य हैं। आप दोनों ही भाग्यशाली हैं। दोनों ही अनेक कल्याणों को प्राप्त होने वाले हैं और लोक में आप दोनों की बराबरी करने वाला कोई भी नहीं है क्योंकि आप जगत् के गुरु हैं।'[4] भारत भूमि

---

④ 'युवामधिगुरोगुरू' (महापु: ५०, ८०)

③ क्लृप्तेशयक्षय देवं सा दधानोदेरशयम् (महापु० १२, २६५)

② निसर्गाच्च धृतिस्तस्या: -- (महापु० १२, २५६)

① मानसीन्नं परं कञ्चित् नम्यते स्म स्वयं जनैः।
चान्द्रीकलेव चन्द्रश्रीः देवीव च सरस्वती॥२६८
बहुना किमुक्तेन श्लाघ्या सैका जगत्त्रये।
या स्रष्टुर्जगतां स्रष्टी बभूव भुवनाम्बिका॥ महापु० १२, २६८

⊕ आज की कलहयुगी भारतीय राजनीति भी सर्वथा स्वतन्त्र है अर्थात् किसी देश के दबाव में नहीं है।

ही विश्व संस्कृति का उद्गम स्थान है और निराकार ज्योतिर्बिंदु ऋषभशिव ही विश्वधर्मोत्तलम्बियों के जगद्गुरु आदिपिता हैं; तभी तो मरुदेवा-नाभि की स्तुति में कहा गया है—'आप जगत्पिता के भी माता-पिता है अतः हमलोगों के पूज्य है।'(1) महापु० के दो एक स्थलों पर तो स्पष्टतः कवि ने इस मानवीयकरण का संकेत दिया है—'वह सती मरुदेवी (भारतमाता) अपने पुत्र को उदित हुए तेजपुञ्ज के समान देख रही थी और वह उससे ऐसी सुशोभित हो रही थी जैसे बाल सूर्य से पूर्वदिशा।'(2) × '--हे नाभिराज! सच है कि आप ऐश्वर्यशाली उदयाचल (स्वर्गमि परमधाम) हैं और रानी मरुदेवी पूर्वदिशा हैं क्यों कि यह पुत्र रूपी परमज्योति (ज्योतिर्लिङ्गमृषिव) आप से ही उत्पन्न हुई है।'(3) ऋषभदेव की स्तुति में स्वयं पिता नाभि और माता मरुदेवी के द्वारा इस मानवीयकरण को स्पष्ट किया गया है—'हे देव! आप जगत् की सृष्टि करने वाले स्वयंभू है। आप की उत्पत्ति में हम लोग माता-पिता है, यह एक छल ही है---आप माता के पवित्र (ज्ञान) गर्भगृह में कमल रूपी आसन पर अपनी उत्कृष्ट शक्ति स्थापन कर

---

(3) भो नाभिराज सत्यं त्वं उदयाद्रिर्महोदयः।
देवी प्राच्येव यज्ज्योतिः युष्मतः परमुद्भवौ

(2) तेजःपुञ्जमिवोद्भूतं सापश्यत स्वसुतं सती॥(महापु. १४,८१)
बालार्केन्द्रेण च सा तेन दिगैन्द्रीव विविद्युते॥महापु. १४,७६

(⊖) प्रधानतः भारतमाता को ही पूर्वीयदेशों में गिना जाता है।

(Ⓘ) आज भी भारतमाताओं की पतिभक्ति और सतीत्व व्रत सारे संसार में विख्यात है।

(1) पूज्यौ युवां चनैः शश्वत् पितरौ जगतां पितुः॥महापु १४,८२

उत्पन्न हुए है अतः आप वास्तव में शरीर रहित हैं।[1]'

उसी तरह त्रिषष्टि मे हेमचन्द्र ने भी कुछ स्थलों पर इस मानवीयकरण का संकेत दिया है। उदा० — 'हे प्रभु! वृक्षहीन (धर्म रूपी वृक्ष से रहित) मरु-देश में जिसतरह कल्पवृक्ष हो उसी तरह भरतक्षेत्र में लोगों के पुण्योदय के प्रभाव से आप ने अवतार लिया है।[2]'

⊖ देखिए प्रकरण ७ में 'धर्मवृक्ष हो कल्पवृक्ष'

② कल्पवृक्ष इवावृष्टे नदीस्रोतो मरावि व।
भगवन्नवतीर्णोऽसि लोकपुण्येन भारते॥
(त्रि० २, ३३७)

① हिरण्यगर्भस्त्वं धाता जगतां त्वं स्वभूरसि।
व्याजमात्रं त्वदुत्पत्तौ पितृम्मन्या यतो वयम्॥
-- गर्भागारे शुचौ मातुः त्वं दिव्ये पद्ममिष्टरे।
निधाय स्वां परा शक्तिं उद्भूतो निष्कलोऽस्यतः॥
(महापु० १५, ५७ और ५६)

प्रकरण-४ देवाधिदेव ऋषभशिव का कालनिर्णय

अज्ञानान्धकारकाल :— प्रथम प्रकरण में बताया गया है कि ऋषभशिव का अवतरणकाल रात्रि में ही माना गया है जिसकी स्मृति में आज भी समस्त भारत में महाशिवरात्रि मनाई जाती है। कवित्वमयी भाषा में 'रात्रि' शब्द अज्ञान का प्रतीक माना गया है जिसकी पुष्टि में ही 'अज्ञानान्धकार' शब्द विख्यात है। इस प्रकार इस कालचक्रगत महान अज्ञान रूप अन्धकारकाल को ही महाशिवरात्रि कहा गया है; किसी स्थूल रात्रिविशेष को नहीं, क्योंकि भौतिक जन्म लेने वाले की ही कालविशेष की गणना की जा सकती है; दिव्यजन्मा निराकार शिव की नहीं। यही कारण है कि न तो तिलोयपण्णत्ति आदि दिगम्बर जैन# परम्परा के ग्रन्थों में ऋषभदेव की च्यवनतिथि का उल्लेख है और न ही वैदिक परम्परा में शिव की अवतरण-तिथि के रूप में महाशिवरात्रि मनाई जाती है। ईशान संहिता में केवल इतना निर्देशमात्र है कि— 'जिस माघकृष्णा चतुर्दशी की महानिशा को कोटिसूर्य प्रभोपम आदिदेव ऋषभशिव शिवलिङ्ग रूप विग्रह से प्रगट हुए उसे महा-शिवरात्रि[१] कहा गया।'

ऋग्वेदीय सूक्तों में (सृष्टि-) वृक्षपर (ज्ञान) जलग्राही किरणों के रात्रि में बैठने और संसार के ऊपर प्रातःकाल दीप्ति प्रगट करने का उल्लेख[२] होने के साथ ही ऋषभशिव के प्रतीक अग्नि का अनेकशः 'अंधेरी रात्रि में दीप्तिमान होने' तथा 'प्रातःकाल में

② 'नक्तमग्नस्ततः सूर्यो जायेत प्रातरुद्यन्' (ऋ॰ १०, ८८, ६)
① प्रमाण के लिए देखिए पृ॰ ७१ और ७२ के पा॰टि॰

सूर्य रूप से प्रगट होने' का उल्लेख है।[1] मार्कण्डेय पुराण[2] के अनुसार भी 'रात्रि के अन्तकाल में आदिदेव सृजनकार्य करते हैं।' जिनसेनाचार्य के अनुसार ऋषभदेव 'अज्ञान-अन्धकार को नष्ट करने वाले हैं।'[3] x 'वे अज्ञान रूपी[4] प्रधान से संसार का उद्धार करते हैं।' एक अन्य स्थल पर लिखा है[5] — 'मायामयी (अज्ञान-) निद्रा में मा मरुदेवी (भारतमाता) को सुला कर गुप्त इन्द्राणी ने भगवान का जन्मोत्सव आनन्दपूर्वक मनाया।' हेमचन्द्र के शब्दों में भी — 'सुरपति इन्द्र ने मरुदेवा के ऊपर अवस्वापनिका नाम की (गफलत) की नींद निर्माण की।'[6] एक अन्य स्थल पर हेमचन्द्र ने 'रात्रि में निद्राप्रसुप्त[7] (भारतमाता) मरुदेवा के (ज्ञान) गर्भ में ऋषभ के आने' का उल्लेख करते हुए आगे कहा है — 'सातवें स्वप्न में माता मरुदेवा ने रात्रि में भी तत्काल दिन का भ्रम करने वाला, सम्पूर्ण (अज्ञान-) अन्धकार को नाश करने वाला और फैलती हुई (आत्मा रूप) किरणों वाला सूर्य (ऋषभशिव) देखा।'[8] --- 'रात्रि के विराम

(च) निशायामपि तत्कालं वासरभ्रमकारकः।
सर्वान्धकारच्छिद्दुरः स्फुरद्युतिरहर्पतिः (त्रि.२,२१६)

(छ) प्रमाण दे. पृ. ७२ पा.टि. ३

(ज) अवस्वापनिकां देव्यां मरुदेव्यां विनिर्ममे (त्रि.२,४१५)

(झ) इत्यभिष्टुत्य गूढाङ्गीं तां मायानिद्रयायुजत् (महापु.१३,३१)

(ञ) त्वमिदं विश्वमज्ञानपपाताद्युद्धरिष्यसि (महापु.१७,५५)

(ट) नोद्भास्यन् यदि ध्वान्तविच्छस्त्वद्वचोंऽशवः।
तमस्यन्धे जगत्कृत्स्नमपतिष्यति -- (महापु.१,१५८)

(ठ) तत्प्रमाणैव सा रात्रिस्तदन्ते सृज्यते पुनः (मार्कं. १,३८,४१)

(ड) दे० पा.टि. पृ०७-८ और पृ. ५८ पा.टि. १; मार्क. १,३८,४१;

(अर्धरात्रीय घोर अज्ञानकाल) के समय, स्वप्न के अन्त में प्रसन्नमुखी स्वामिनी मसदेवा कमीलनी की तरह जाग उठीं।'

ऋषभशिव के इस अज्ञानरात्रि में अवतरण का संकेत देते हुए कुरान[1] में भी कहा है → 'ईश्वर के नाम से जो अति दयालु है -- उस रात को आने वाले की शपथ।' × 'इस रात्रि को प्रत्येक प्रबन्ध के वास्ते फरिश्ते और जबराइल अपने प्रतिपालक के आदेश से पृथिवी पर उतरते हैं।' × 'वह रात्रि सुख-शान्ति तथा रक्षा की रात्रि है और उसकी शोभा तथा वृद्धि प्रातःकाल के उदय तक रहती है।' बाइबल के अनुसार → 'प्रारम्भ में शब्द (ज्ञान) ही था --- शब्द ईश्वर था। सब कुछ इसके द्वारा बना है और ऐसा कुछ नहीं जो इसके द्वारा न बना हो। यह प्रकाश अन्धकार में ही प्रकाशित होता है।' (बिस्तधर्मसार, चौहान १,१५)

महाविनाशकाल :— श्रीमुक्तिविजय जी गणी ने 'महारात्रि' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है → 'जो महती प्रलयावस्था में आत्मस्वरूप प्रदान करे, सुप्त शक्ति से सम्पूर्ण जीवों को आत्मिक स्वरूप में स्थिर करे तथा पञ्चपर्व लक्षणों वाली अविद्या से मुक्त करे। महत् + रा + त्रै + इ = महाप्रलय।'[2] उन्हों ने इसका अर्थ 'ईश्वर की रात्रि' भी किया है जिससे यह भी सिद्ध होता है कि विश्व के महाविनाशकाल में ही

---

[2] 'महत्यां प्रलयावस्थायां राति आत्मस्वरूपं ददाति सुप्तशक्त्या सर्वान् जीवानात्मस्वरूपेणावस्थापयति त्रायते पञ्चपर्वलक्षणाया अविद्याया सकाशात् रक्षति' (शब्दरत्नमहोदधि भा. २) (पृ. १६५६)

[1] कुरान ८४, ३४; ६७, ४; ६६, ५

महर्षि ऋषभशिव ने निरन्तर विषयभोगों की अभिलाषा करने के कारण अपने वास्तविक ज्ञेय से चिरकाल तक बेसुध बने हुए लोगों को करुणावश निर्भय आत्मलोक का उपदेश दिया था।[1] मार्कण्डेय पुराण के अनुसार 'अव्यक्त अजन्मा ब्रह्मा जो प्रलयान्त[2] के समय इसी प्रकार सृजन-कार्य करते हैं।' वायुपुराण के अनुसार — 'ब्रह्मा जो युग-क्षय में देव-पितृ-मानवों को संहृत कर के महदृष्टि से सर्ग की स्थापना करते है[3]।' लिङ्ग पुराण मे शिव ने स्वयं ही कहा है — 'चतुर्युगावस्थ उस युगान्तिक कल्प में लोकों के ऊपर अनुग्रह करने के लिए तब हे ब्रह्मन्! युग की प्रवृत्ति से उस प्रथम युग में मैं उत्पन्न होऊँ गा[4]।' इसी पुराण के 'शिव से सृष्टि विस्तार' प्रकरण में 'समस्त चतुर्युगी का अन्त होने पर तथा सृष्टि के नष्ट होने के समय नारायण द्वारा सृजन हेतु ब्रह्मा का रूप धारण करने' का उल्लेख हुआ है[5]।

---

(५) 'शर्वयन्ते प्रकुरुते ब्रह्मत्वं सर्गकारणात्' (लिङ्ग ५०,१२१ के पीछे)

(४) तदा चतुर्युगावस्थे तस्मिन् कल्पे युगान्तिके।
युगप्रवृत्त्या च तदा तस्मिंश्च प्रथमे युगे ॥११॥
अनुग्रहार्थं लोकानां ब्रह्मणानां हिताय च ॥१०॥
उत्पत्स्यामि तदा ब्रह्मन् पुनरस्मिन् युगान्तिके (लिङ्ग १५ अ०)

(३) संहृत्य तांस्ततो ब्रह्मा दैवर्षिपितृमानवान्।
संस्थापयति वै सर्गं महदृष्ट्या युगक्षये॥ (वायु० ६२,१२)

(२) एवंविधा सृष्टयस्तु ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः।
शर्वयन्ते प्रबुद्धस्य कल्पे कल्पे भवन्ति वै॥ (मार्क० ४०,४५)

(१) ---चिरसुप्त बुद्धेः लोकस्य यः करुणयाभयमात्मलोक-
मारव्यान्नमो भगवते ऋषभाय तस्मै (भाग० ५,६,१९)

जिनसेनाचार्य ने ऋषभकालीन, पापों के भार से दब कर नष्ट होने वाले संसार के महाविनाश का वर्णन भरत के अद्भुत फल दिखाने वाले स्वप्नों मे इस प्रकार किया है— (९) 'कितना ही काल बीत जाने पर एक दिन चक्रवर्ती भरत ने अद्भुत फल दिखाने वाले कुछ स्वप्न देखे। उन स्वप्नों (साक्षात्कार) के देखने से जिन्हें चित्त में कुछ खेद सा हुआ है ऐसे वे भरत अचानक प्रबुद्ध हुए और उन स्वप्नों के फल का इस प्रकार विचार करने लगे कि ये स्वप्न मुझे प्रायः बुरे फल देने वाले जान पड़ते हैं तथा यह भी जान पड़ता है कि ये स्वप्न कुछ दूर आगे के काल में फल देने वाले होंगे क्यों कि इस समय भगवान ऋषभ देव के प्रकाशमान रहते हुए प्रजा को इस प्रकार का उपद्रव होना कैसे सम्भव हो सकता है। इसलिए कदाचित् इस कृतयुग (कर्मयुग) के व्यतीत हो जाने पर तथा पाप का प्राकट्य होने पर ये स्वप्न अपना फल देंगे। युगान्त में विप्लव फैलाना है जिनका फल है ऐसे ये स्वप्न अनिष्ट को सूचित करने वाले हैं और राजा

---

(९) अथ#चक्रधरः कालं व्यतिक्रान्ते कियत्यपि।
स्वप्नान्ददर्शशामयत् काश्चित् ~~उत्तस्त इव चेतसा~~ ॥१॥ → एकदाऽद्भुत दर्शनात् ॥
तत्स्वप्नदर्शनात् किञ्चिद् उत्तस्त इव चेतसा।
प्रबुद्धः सहसा तेषां फलानीति व्यतर्कयन् ॥२॥
असत्फला इमे स्वप्नाः प्रायेण प्रतिभान्ति माम्।
मन्ये दूरफलांश्चैतान् पुराकल्पे फलप्रदान् ॥३॥
कुतश्चिद् भगवत्यद्य प्रतपत्यादिभर्तरि।
प्रजानां कल्पमेवैवंविधोपप्लुतसम्भवः ॥४॥
ततः कृतयुगस्यास्य व्यतिक्रान्तौ कथञ्चन।
फलमेते प्रदास्यन्ति नूनमेत्य प्रकर्षति ॥५॥ →

तथा प्रजा दोनों को समान फल देने वाले हैं।[1] फिर आगे स्वप्नों का वर्णन इस प्रकार किया गया है→ (१-) सिंह (ऋषभदेव), (२-) सिंह का बच्चा (भरत), (३-) हाथी के भार को धारण करने वाला घोड़ा (साधुगुण धारण करने मे असमर्थ सन्यासी), ४- वृक्षतुल्य और झाड़ियों के सूखे पत्ते खाने वाले बकरे (अकाल), ५- हाथी के कन्धे पर बैठे बन्दर (नीचों द्वारा श्रेष्ठ व्यक्तियों का अपमान), ६- कौओं द्वारा उपद्रवित उल्लू (धमाल, उपद्रवादि), ७- आनंद करते हुए भूत (यहाँ पिशाच योनि से मुक्ति का तथा उनमें भूतप्रेतों की पूजा का संकेत है), ८- मध्यभाग मे सूखा तालाब जिसके किनारों पर खूब पानी भरा हुआ है (धर्म आर्यखण्ड से हट कर म्लेच्छ खण्डों में), ९- धूल धूसरित रत्नराशि (गुणी व्यक्तियों तथा ऋद्धिधारी मुनियों का गुप्त हो जाना), १०- जिसकी पूजा की जा रही है ऐसा नैवेद्य खाने वाला कुत्ता (नीचो-शूद्रों का सम्मान), ११- जवान बैल (युवकों द्वारा ही सन्यास धारण क्योंकि वृद्ध असमर्थ हो जावेंगे) १२- मंडलयुक्त चन्द्रमा (देव-परिवृत इन्द्रदेव), १३- क्षीण शोभा वाले परस्पर मिले दो बैल (अर्थात् तेजहीन सन्यासी अकेले विहार नहीं करेंगे), १४- छायाहीन सूखा वृक्ष (सुख देने मे असमर्थ, क्षीणकाय सृष्टि रूपी वृक्ष), १५- मेघाच्छादित सूर्य (अज्ञान रूपी अन्धकार के कारण केवलज्ञानधारी ऋषभदेव का गुप्त होना या छिप जाना), १६- पुराने पत्तों का समूह (अर्थात् जन्म लेते-लेते दुर्बल, तामस प्रधान जीवात्माएं

---

[1]→ युगान्तविप्लवोदर्कास्ते ते अनिष्टशंसिनः।
स्वप्नाः प्रजापालसाधारणफलोदयाः ॥६॥
(महापु॰ अ॰ ४१)

जिन्हें विनाश-अग्नि में तपाने के लिए 'क़यामत' के समय इकट्ठा किया जाता है)[1]।

हेमचन्द्राचार्य ने भरतचक्रवर्ती की अन्तिम स्तुति में तत्कालीन सृष्टि के महाविनाश का स्पष्ट संकेत दिया है—'आपने जिस लोकाग्र को अपनाया है वह आज सचमुच लोकाग्र (सब लोकों से बढ़कर) हो गया है और आप से छोड़ दिया गया यह मृत्युलोक सचमुच मृत्यु पाने योग्य हो गया है[2]।' ज्ञान-योग की भट्ठी में आत्मा रूपी ईंटों को पका कर नए सृष्टि रूपी मकान की स्थापना के तुरन्त पश्चात् ही पुरानी सृष्टि का विनाश अवश्यम्भावी है ← इस बात की पुष्टि हेमचन्द्र ने इस प्रकार की है → 'इतने में (मनरूपी) प्रतिहारी ने भरत से निवेदन किया कि महाराज! द्वार पर (यमनियमादि योगमार्गीय व्रतों को

---

[2] लोकाग्रमद्य लोकाग्रं भवता यदधिष्ठितम्।
मर्त्यलोकोऽयमद्यैव मर्त्यलोकस्त्वयोज्झितः॥ त्रि. ६,६५०

[1] सिंहो मृगेन्द्रपोतश्च तुरगः करिभारभृत्।
छागा वृक्षलतागुल्मशुष्कपत्रोपभोजिनः॥३६॥
शाखामृगा द्विपस्कन्दमारूढाः कौशिकाः खगाः।
विहितोपद्रवा ध्वाङ्क्षैः पुमर्थाश्च प्रमोदिनः॥३७॥
शुष्कमद्यं तडागं च पर्यन्तप्रचुरोदकम्।
पांशुधूसरितो रत्नराशिः श्वानमगर्हितः॥३८॥
तारुण्यशाली वृषभः शीतांशु परिवेषयुक्।
मिथोऽङ्गीकृतसाङ्गत्यौ पुङ्गवौ सङ्गलच्छ्रियौ॥३९॥
रविराशावधूरत्नावतंसोऽब्दैस्तिरोहितः।
संशुष्कतरुच्छायो जीर्णपर्णसमुच्चयः॥४०॥
(महापुराण पर्व ४१)

सूचना देने वाला) यमक और (विश्व युद्धादि द्वारा सृष्टि का संहार या शमन का सूचक) शमक नाम के दो (संदेशवाहो) पुरुष आए हैं।① इसी प्रसंग में आगे कहा है → 'यह बात सुन कर भरत क्षणभर के लिए इस चिन्ता में डूब गए कि इधर पिता जी को केवलज्ञान (स्थापना सूचक) हुआ है और इधर (विनाश सूचक) चक्र पैदा हुआ है। मुझे पहले किसकी अर्चना करनी चाहिए क्यों कि केवलज्ञान तो जगत् को अभयदान देने का सूचक है और चक्र प्राणियों के महाविनाश का सूचक है। अन्ततः भरत का निर्णय केवलज्ञान (की प्राथमिकता) के पक्ष में होता है।②'

एक अन्य स्थल पर भी चतुर कवि हेमचन्द्र ने विश्वविजयी भरत द्वारा, (विश्व) युद्ध वर्णन-प्रसंग में तमिस्रा गुफा के भेदन किए जाने के बाद इस महाविनाश का सुन्दर चित्रण किया है — 'इस प्रकार ४०० मील लम्बी (अज्ञान-)③ गुफा को पार कर के --- जब भरतपति ने यमराज के समान उन (भीलों) पर निरन्तर बलात्कार से पूर्वक चढ़ाई की तब अनिष्ट सूचक बहुत से (प्राकृतिक प्रकोपादिक) उत्पात होने लगे। चलती हुई चक्रवर्ती की सेना के भार से

---

③ दे० प्रकरण ६ में 'कलियुगो अज्ञानान्धकार रूपो तमिस्रागुफा'

② उत्पन्न केवलस्तातः इतश्चक्रमितोऽभवत्।
क्वादौ करोमि कस्यार्चामिति दध्यौ क्षणं नृपः॥५१५॥
क्व विश्वाभयदस्तातः क्व चक्रं प्राणिघातकम्।
विमृश्येति स्वामिपूजाहेतोः स्वामिनादिदेश सः॥त्रि०३,५१६

① अत्रान्तरे महीभर्तुर्ज्ञापितौ वेत्रपाणिना।
नाम्ना यमक शमकौ पुरुषावभ्युपेयतुः॥त्रि०३,५११

मानो पीड़ित हुई हो, इस तरह गृहउद्यान को (भूकम्प द्वारा) कँपाती हुई पृथ्वी धूजने-काँपने लगी। चक्रवर्ती के प्रौढ़ प्रताप से हुआ हो इस तरह दिशाओं में (अकालसूचक) दावानल जैसा दाह होने लगा। उड़ती हुई (अनावृष्टि-सूचक) बहुत सी धूल से दिशाएँ रजस्वला स्त्री की तरह न देखने योग्य हो गई। दुष्ट और दुःश्रव पवन (तूफान) परस्पर टकराने वाले समुद्र के मगरों की भाँति टकराने लगा। आकाश में चारों तरफ मशालों के समान समस्त म्लेच्छ व्याघ्रों के हृदयों को क्षुभित करने वाला (आणविक विस्फोट सूचक) उल्कापात होने लगा; भयंकर गर्जना के साथ पृथ्वी पर वज्रपात (धड़का) होता था उससे ऐसा जान पड़ता था मानो यमराज क्रोध में भर कर पृथ्वी पर अपने भयंकर हाथ मार रहा हो। मृत्यु-

---

① पञ्चाशद्योजनायामां तामतिक्रम्य कन्दराम् ॥३३५॥
---प्रसह्य भरतार्धेशो कृतान्त इव सर्पति।
अनिष्टसंसिनस्तेषामुत्पाता अभवन्निति ॥३४०॥
चक्रिभरतसैन्यप्राग्भारभरैरिवार्दिता।
ऊनम्पितगृहोद्यानाः प्रचकम्पे वसुन्धरा ॥३४१॥
दिगन्तव्यापिभिः प्रौढैः प्रतापैरिव चक्रिणः।
अजायन्त दिशां दाहा दावानलसहोदराः ॥३४२॥
क्षरता रजसात्यन्तमनालोकनभाजनम्।
बभूवुः कलुषाः सर्वाः पुष्पवत्य इव स्त्रियः ॥३४३॥
दुःश्रवक्रूरनिर्घोषा आस्फालन्तः परस्परम्।
पयोनिधातिव ग्राहा दुर्वाता विजजृम्भिरे ॥३४४॥
निपेतुर्गगनादुल्का उल्मुकानीव सर्वतः।
समस्तम्लेच्छव्याघ्राणां क्षोभस्य निबन्धनम् ॥३४५
अभवन् वज्रनिर्घाता महाघोषविभीषणाः।
क्रुद्धोत्पितकृतान्तस्य हस्तघाता इवक्षितौ ॥३४६ →

- लक्ष्मी के वस्त्र हों इसतरह चील कौओं के मण्डल आकाश में जगह-जगह घूमने लगे।'①

इसी संदर्भ में आगे प्रलयकालीन मेघ-(अति)वृष्टि का भी वर्णन द्रष्टव्य है — 'मानो पृथ्वी पर से उछल कर समुद्र आकाश में आ गए हों इस तरह काजल जैसी श्याम कान्ति वाले मेघ आकाश में छा गए। --- सेना को चूर्ण करने के लिए वज्रशिला जैसे वे (मेघ) महाराज की छावनी पर तत्काल चढ़ आए और लोहे के अग्रभाग, बाण और डंडे जैसी धाराओं से बरसने लगे। पृथ्वी चारों ओर से मेघजल से भर उठी। उस जल में रथ नावों की तरह तथा हाथी घोड़े मगरमच्छों की तरह तैरने लगे। सूरज मानो कहीं भाग गया हो, पर्वत कहीं चले गए हों, इस तरह मेघों के अन्धकार से कालरात्रि या प्रलयरात्रि का सा दृश्य हो गया।'②

---

② अंभोदय इवोत्पत्य भुवोऽभोदानमस्तलम्।
व्याप्नुवन्तोऽञ्जनश्यामरुचः संजह्रिरे क्षणात् ॥४१६॥
--- ते तस्थुरुपरि क्ष्मापस्कन्धावारस्य तत्क्षणम्।
चूर्णयिषव तत्प्रभोद्यतवज्रशिलोपमाः ॥४२१॥
अयोग्रैरिव नाराचैरिव दण्डैरिवाऽयते।
धाराभिरम्भसां तत्र प्रावर्तन्त प्रवर्षितुम् ॥४२२
मेघाम्भसा पूर्यमाणो समन्तादपि भूतलः।
अनाव्यन्त रथास्तत्रानेक्षायन्त गजोदयः ॥४२३
क्वाप्यगच्छद्दिवादित्यः प्रणेशुरिव पर्वताः।
तेन मेघान्धकारेण स्फूर्जता कालरात्रिवत् ॥४२४
(त्रि. ५, ४१६ से ४२४)

① → स्थाने स्थाने काकचिल्लमण्डलानि नभस्तले।
भेमुः समुपसर्पन्त्याः क्षात्राणीवान्तकश्रियः ॥३४६॥
(त्रि. ५/४)

हेमचन्द्र ने ऋषभदेव के अन्तिम जीवन का अंकन करते हुए एक स्थान पर स्पष्ट ही लिखा है[1] — 'ऋषभदेव संहार करने वाले घोर दुर्भिक्ष से लोगों को बचाते थे --- जैसे औषधि अजीर्ण और अतिक्षुधा को दूर कर देती है वैसे ही वे अनावृष्टि और अतिवृष्टि के उपद्रवों को दूर करते थे।' इसी तरह तीसरे सर्ग में लिखा है — 'प्रभु जहाँ जाते थे, वहाँ वैर, महामारी, मरी, अकाल, दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, स्वचक्र और परचक्र से होने वाले भय उत्पन्न नहीं होते थे।'[2] यह सारा महाविनाशकारी परिस्थितियों का वर्णन 'स्थापना-सूचक' केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद का ही है जिससे यह सिद्ध होता है कि सारी पृथ्वी इन ईतियों से आक्रान्त हो चुकी थी।

उपर्युक्त दुर्भिक्षादिक वर्णन जैनसृष्टि-प्रक्रिया के भी प्रतिकूल बैठता है क्यों कि चतुर्थारे तक दुर्भिक्षादिक ईतियाँ नहीं होतीं, फिर तृतीयारे में इनके होने का प्रश्न ही कहाँ पैदा होता है। काललोक प्रकाश के अनुसार — 'चौथे आरे में वरसात उत्तम पुष्कार की और योग्य अर्थात् अनुकूल समय पर वरसने वाली होती है जिससे भूमि स्निग्ध, सरस और सुन्दर फल देने वाली होती है। उस आरे में विउत्तर दुर्भिक्षादि ईतियाँ नहीं होतीं, चोर नहीं होते, रोग, शोक, वियोग,

---

[2] स्वाम्यागाद्यत्र नो तत्र वैरमारीत्यवृष्टयः।
दुर्भिक्षमतिवृष्टिर्वा भयं च स्यात्स्वचक्रजं॥ त्रि. ३, ६६१

[1] सर्वसंहारघोराच्च रक्षन् दुर्भिक्षतो जगत् ---
अत्यन्तवृष्ट्यनावृष्टी अजीर्णीति क्षुधाविव।
प्रभावेनागदेनेव जगतोऽत्यपसारयन्॥ त्रि. ६, ५७ & ५६

दुःख और दौस्थ्य भी अल्प होते है।[1] इसके अतिरिक्त तृतीयारे में दुर्भिक्षादिक ईतियों का कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया है। वैदिक परम्परा के अनुसार ही जैन सृष्टिप्रक्रिया मे भी क्रमशः पञ्चम और छठे आरे में (कलियुग और कलियुगान्तकाल में) इनका वर्णन इस प्रकार आया है — "देश दुर्भिक्षादि के उपद्रव से विसंस्थुल हो जावेंगे, बरसात बहुत थोड़ी होगी, असमय मे होगी, और समय पर लोगों की प्रार्थना करने पर भी नहीं होगी।--- अतिवृष्टि और अनावृष्टि आदि ईतियाँ पृथिवी पर बारंबार[2] होंगी, छठे आरे का वह समय महाभीष्म, समस्त जन का क्षय होने से शून्य, लोगों के आहार से आकुल होगा। उस समय प्राणहारी वायु बहेगी जो अत्यन्त भीष्म और असह्य होगी।--अग्नि-वत् दाह करनेवाला विषयुक्त और वज्र जैसा पर्वत-भेदी वर्षण होगा। बिजली बारम्बार पड़ेगी।--- विषम वर्षाएं भरतादि ऐसों क्षेत्रों को भस्मीभूत

---

(2) दुःषमसुषमारके पूर्णे सति प्रविशति पञ्चमो दुःषमारकः ॥६
---विसंस्थुलाश्च देशाः स्युर्दुर्भिक्षाद्यैरुपद्रवैः ॥२३
मितं वर्षति पर्जन्यो न वर्षत्यपि क्वचित्।
वर्षत्यकाले, काले च, न जनैः प्रार्थितोऽपि सः ॥२४
---अतिवृष्टिरनावृष्टिश्च मूषकाः, शलभाः शुकाः।
स्वचक्रं परचक्रं च स्युर्भूम्नेतीतयो भुवि ॥२६
(पृ.५६२ से) ← (काललोकप्रकाश सर्ग ३५)

(1) तत्र तुर्यारकाम्भोदा उद्दामाः कालवर्षिणः।
स्युः स्निग्धाः सरसा भूमिस्ततो भूरिफलप्रदा॥
प्रायो विड्वरदुर्भिक्षं नेतयोः न न तस्कराः।
रोगशोकवियोगादि दुःखदौस्थ्यादि चाल्पकम्॥
(पृ.१८७) ← (काललोकप्रकाश २६, ३४८-८)

कर डालें गी (१)।

अतिशय धर्मग्लानिकाल :— इस प्रकार उपरिवर्णित ऋषभदेव और भरतकालीन महाविनाशकारी वर्णन से सृष्टिप्रक्रियागत पञ्चमारे के अन्त और छठे आरे की महाविनाशक परिस्थितियों का मिलान करने से पूर्णतः प्रमाणित हो जाता है कि उनका काल सृष्टि-चक्र या कालचक्र की उन भीषणतम परिस्थितियोंसे सम्बद्ध है जब कि संसार में क्रमशः घोरतम अज्ञान रूपी रात्रि का प्रसार हो जाने से सभी लोग पूर्णतः धर्मकर्मभ्रष्ट और पतित हो जाते हैं तथा बुद्धि के क्षीण हो जाने से मोक्षमार्ग के विरोधी हो जाते हैं। इसीलिए तो त्रिषष्टि में ऋषभदेव से प्रार्थना की गई है— 'इस जम्बूद्वीप स्थित भरतक्षेत्र में निधान की तरह धर्म नष्ट हो गया है उसे अपने आज्ञा (शास्त्र) रूपी बीज से फिर प्रकाशित कीजिए।' × 'हे देव इस भरतक्षेत्र

---

(१) हीयमानैः प्रविशति दुष्षमदुष्षमारकः ॥१५२॥
सच्च कालो महाभीष्मः शून्योऽशेषजनक्षयात्।
प्रवर्धमान दुःखार्त्तलोकहाहारवाकुलः ॥१५३॥
तस्मिन् काले ऽतिकठिना दूरोदंचितधूलयः।
वाता वान्ति भृशं भीष्मा असह्याः प्राणहारिणः ॥१५४॥
धूमायन्ते दिशोऽभीक्ष्णं परितोऽतिरजस्वलाः ॥१५५
---अग्निवदाहकृदुवारि-किरो विषमयोदकाः।
वज्रोदकाः पर्वतादि-प्रतिभेदप्रभूष्णवः ॥१५६॥
विद्युत्पातकृतोऽभीक्ष्णं कर्कशादिकिरोऽसकृत्।
जनानां विविधव्याधि-वेदनामृत्युकज्जलाः ॥१५७
---विषमा घनाः। भस्मीकुर्वंति दशसु क्षेत्रेषु भरतादिषु ॥१५८
(कालस्वरूप प्रकाश सर्ग ३४, पृ० ६०६ से)

में बहुत समय से नष्ट हुए धर्मबीज को फिर पैदा करने में आप (ज्योतिर्बिंदरूप) बीज के समान हैं।'[1] यहाँ स्पष्ट है कि धर्म का पूर्ण नाश तो पञ्चमारा के अन्त में होता है, जैसा कि काललोकप्रकाश में कहा गया है — 'पञ्चम दुखमारा में -- लोग प्रायः बहु-कषायी (विकारी) और दुर्नयप्रिय होंगे वे अधर्म के रागी और धर्म के द्वेषी होंगे।'[2] लिङ्गपुराणादि वैदिक ग्रन्थों में भी धर्म की हानि द्वापर युग से बताई है न कि सतयुग-त्रेता में। कलियुग में[3] उसका पूर्ण नाश हो जाता है। अतः इसी समय 'आवश्यकता आविष्कार की जननी' के सिद्धान्तानुसार ऋषभशिव जैसी उत्कृष्टतम प्रतिमा का अवतरण होता है, क्यों कि जबतक पूर्णतः अन्धकार न हो जावे, ज्ञानसूर्य ऋषभदेव का जन्म कैसे सम्भव है? क्या सूर्य कभी अन्धकार के आरम्भ अर्थात् सन्ध्याकाल में उदित होता है? जैन और जैनेतर समस्त ग्रन्थों में ऋषभशिव को अनेकशः सूर्य की उपाधि दी गई है जो उनके समयानुकूल कर्तव्य की महिमा के आधार पर होने से कदापि मिथ्या

---

[1] अदो कृते तु धर्मास्ति त्रेतायां प्रवर्तते।
द्वापरे व्याकुलो भूत्वा प्रणश्यति कलौयुगे॥ लिंग (२६,८०)

[2] — प्रविशति पञ्चमो दुखमारकः।
-- जना प्रायेण बहुल कषाया दुर्नयप्रियाः।
अधर्मरागिणो धर्म द्विषो मर्मदयोज्झिताः॥ काललोक २४,२०.

[3] (क) जम्बूद्वीपस्य भरतक्षेत्रे नष्टोनिधानवत्।
त्वदा ज्ञाबीज केनातः परं धर्मः पुलाशतां॥ त्रि० २,३३५

(ख) देवेह भरतक्षेत्रे चिरं नष्टस्य सर्वथा।
धर्मस्यासि पुरोधाय बीजमेकं तरोरिव॥ त्रि० ३,४८१

नहीं है। जिनसेनाचार्य के अनुसार 'कलियुग के आने पर ही लोग जातिवाद के अभिमान से भ्रष्ट हो कर मोक्षमार्ग के विरोधी बन जाते हैं[1], क्यों कि 'पञ्चमारे के दोष से कालक्रमानुसार उनकी बुद्धि क्षीण हो जाती है[2]' यहाँ तक कि काललोक के अनुसार तो 'पञ्चमारा में जन्म लेने वाला को मोक्ष की प्राप्ति ही नहीं होती[3]' त्रिषष्टि के अनुसार ऐसे समय पर देवगण प्रभु से प्रार्थना करते हैं — 'हे प्रभो! आप भरतक्षेत्र में नष्ट हुए मोक्षमार्ग को दिखाने में दीपक के समान[4] हैं अतः आप धर्मतीर्थ को चलाइए[5]।' एक अन्य स्थल पर भी कहा गया है — 'हे स्वामी! भरतक्षेत्र में मोक्षमार्ग लुप्त गया है उसे आप नवीन पथिक्त होकर प्रगट करिए[6]।' भागवतकार ने तो उनका अवतार ही मोक्षधर्म का उपदेश देने के लिए बताया है[7]। ऋषभ देव ने यह उपदेश उस समय दिया था जब कि संसार में अनेक मतमतान्तर फैले हुए थे तभी तो जिनसेन ने लिखा है — 'ऋषभदेव की वाणी अन्य मत रूपी

---

(७) मोक्षधर्मविवक्षया (भाग० ११,२,१६)

(६) भरतक्षेत्र जन्तूनां मोक्षमार्गोऽखिलः खिलः
त्वया नूतनपान्थेन नाथ प्रकटयिष्यते। त्रि० २,६०६

(५) -- प्रवर्तय तथा धर्मतीर्थं (त्रि० २,१०३६)

(४) भरतक्षेत्रनिर्नष्टमोक्षमार्गप्रदीपक। त्रि० २,१०३८

(३) एतस्मिन्नरके जातजन्मिनां तु भवेन्न सः।
(काललोक पुन्नाट ३४,१२)

(२) दोषाद् दुःषमकालस्य प्रहास्यन्ते धियो नृणाम्॥ महापु० २,१६६

(१) ततः कलियुगेऽभ्यर्णे जातिवादावलेपतः।
भ्रष्टाचाराः प्रपत्स्यन्ते सन्मार्गं प्रत्यनीकताम्॥
(महापु० ४१,४८)

अन्धकार को नष्ट करने वाली थी।[1] हेमाचार्य ने भी इन्हें समस्त मृषावाद का परिहार करने वाला बताया है।[2] परन्तु, आललोक प्रकाश के अनुसार यह मतभेद तृतीयार के अन्त में नहीं होता, अपितु, 'आप्तपुरुषों[3] की वाणी में अनेकमतमतान्तरों का उल्लेख पञ्चमार में ही दृष्टिगोचर होता है। यही वह धर्मग्लानि का समय है जब कि लोग, एक प्रभु के सच्चे अव्यक्त चेतन स्वरूप को सर्वथा भूल कर अनेक नामरूपधारी पाषाण-प्रतिमाओं को ही व्यभिचारी भक्ति करने लगते हैं; तभी तो जिनसेन ने लिखा है — 'उस समय की विभूति को देखकर कितने ही अन्यमिथ्यादृष्टि, इन्द्र को (ब्रह्मा)[4] प्रमाण मान कर सन्मार्ग में श्रद्धा करने लगे थे।' एक अन्य स्थल पर लिखा है — 'गूढाङ्गी इन्द्राणी ने माया-मयी नींद में मरुदेवा (भारतमाता) को सुला कर उसके सामने एक दूसरा मायावी[5] शिशु रख दिया।' हेमचन्द्र ने भी कुछ हेरफेर से यही बात कही है — 'इन्द्र ने मरुदेवा (भारत) माता के ऊपर अवस्वापनिका नाम की (अज्ञान) निद्रा निर्माण की और एक प्रभु का एक प्रतिबिम्ब बना डाला जिसे उसके पार्श्व में

---

(५) इत्यभिष्टुत्य गूढाङ्गी तां मायानिद्रयाऽयुनक्त।
पुरो निधाय सा तस्या मायाशिशुमथापरम् (महापु. १३/९१)

(४) दृष्ट्वा तथानीं भूतिं कुदृष्टि मस्तो परे।
सन्मार्गरुचिमानेतुः इन्द्र प्रामाण्यमास्थिताः (महापु. १३,६३)

(३) आर्हतानामपीह स्युर्मतभेदोऽनेकशः (लोकप्रकाश ३४,१६)

(२) नमस्तुभ्यं मृषावादपरित्यागेन सर्वथा (त्रि. ३,८४)
तत्त्वावबोधमचिरात् कुरुते सुधानां
स्याद्वादनीतिविहितान्धमतान्धकारा (महापु. २३,१५४)

(१)

रख दिया।[1]' आज भी भारत और उसके पार्श्ववर्ती देशों मे ही मूर्तिपूजा का अत्यधिक प्रचलन है।

धर्मरूपी कल्पवृक्ष :— इस प्रकार धर्म का सर्वथा उच्छेद होने पर ही अन्त मे ऋषभदेव का अवतरण होता है। वे इस जगतीतल में सर्वश्रेष्ठ धर्म की स्थापना करते हैं जिसमे सभी धर्मों का सार समाया होता है। यही कारण है कि उत्तराध्ययनसूत्र मे उन्हें 'धर्म का मुख' कहा गया है।[2] सर्व धर्मों के तत्त्व का विवेचन करने वाली उनकी वाणी सम्प्रदायिकता की सीमाओं से सर्वथा उन्मुक्त होती है। यही कारण है कि ब्रह्माण्डपुराण में उन्हें एक साथ ही १० प्रकार के धर्मों का प्रवर्तक बताया गया है।[3] जिनसेनाचार्य ने भी लिखा है— 'इस संसार मे जो कुछ भी धर्मसृष्टि है वह सब उदाहरण स्वरूप सनातन भगवान वृषभदेव ने स्वयं धारण कर युग के आदि मे प्रसिद्ध की थी।[4]'

'धर्म से सुख और अधर्म से दुख' पाना यह एक शाश्वत नियम है। भोगभूमि (सत्युग-त्रेता) मे जो सुखी-स्वर्गीय रामराज्य सुना जाता है वह सत्य-धर्म पालन का ही सूचक है जिसकी सम्पूर्ण व्यवस्था के निमित्त प्रारम्भ मे ऋषभदेव ही हुए थे। सृष्टि का एक

---

(४) यावान् धर्ममयः सर्गस्तं कृत्स्नं स सनातनः।
युगादौ प्रथयामास स्वानुष्ठानैर्निदर्शनैः॥ महापु० २०,१६६

(३) मरुदेव्या नन्दनेन महादेवेन ऋषभेण दशप्रकारो धर्मः स्वयमेव चीर्णः (परिशीलन पृ० ११२ से)

(२) धम्माणं कासवो मुहं (उत्तराध्ययन सू० २५,१६)

(१) अवस्वापनिकां देव्यां मरुदेव्यां विनिर्ममे॥
नाभिसूनोः प्रतिच्छन्दं विदधे मघवा ततः॥
देव्याः श्रीमरुदेवायाः पार्श्वे तं चान्यवेशयत्॥ (त्रि० २,४१६)

अटल सिद्धान्त है कि काल क्रमानुसार हर वस्तु, कभी न कभी पुरानी होकर दुःखदायी या उपयोगहीन हो जाती है। ऋषभशिव द्वारा स्थापित 'सनातन जैन धर्म' भी दो युगों (सत्-त्रेता) के बाद क्रमशः क्षीण होने लगता है। इसी बीच द्वापर (चतुर्थारे) में कुछ अन्य प्रतिभावान धर्मसंस्थापकों का अंतराल होता है जो 'सनातन जैनधर्म' के ही अवशेष अंशों को ले कर नए-नए धर्मों का प्रवर्तन करते हैं जो कलियुग आने पर क्षीण होने लगते हैं। फिर तो कलियुग (पञ्चमारे) में भी अनेक मठ, पंथ, सम्प्रदायादि का तीव्रगति से निर्माण और पतन होता है। अन्ततः जब सभी सत्य स्वरूप धर्मों का पतन हो जाता है और संसार में चतुर्दिक असत्य ही असत्य का बोल-बाला हो जाता है तब ऋषभशिव के सत्य ज्ञान द्वारा उस असत् कलियुगी संसार से सत्य सतयुगी स्वर्ग की स्थापना होती है।(१)

इस प्रकार जैनमान्यता में जो १० प्रकार के कल्पवृक्ष बताए गए हैं वे सुखदायी ~~(धर्म)~~ वृक्ष वास्तव में उपरिवर्णित ऋषभदेव द्वारा प्रवर्तित १० धर्मों के ही सूचक हैं। सत्-त्रेतायुगी भोगभूमि में इनका पूर्णतः आचरण होता था (न कि अध्ययन-अध्यापन) अतः लोग सुखी थे। कालतोक में स्पष्ट कहा है — 'तत्कालीन युगलिक स्त्रियाँ अन्य पुरुषों को देख कर लिज्जित विलास युक्त नहीं होती थीं --- लोग स्वभाव से ही क्रोध, मान, माया लोभ रूप कषायों से रहित होते हैं। वे विनीत, भद्र, अपरि-

---

(१) (क) असदेवेदमग्रासीत् (छान्दोग्य उप० ३,१९)
(ख) देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत (ऋ० १०,७२,३)
तुलनीय:- 'तत्सदासीत्'; 'असदात्सदुत्पत्तिः' (सृष्टिवाद पृ० ४१)

ग्रही, सन्तोषी, उत्सुकतारहित, मृदुल और सरल होते हैं-- वे परस्पर वैर, कलह, डोह और मत्सर रहित होते हैं। --- पूर्वजन्म के पुण्यों के प्रारब्ध से वे जबतक जीते हैं सुख ही भोगते हैं।[1]' द्वापर युग अर्थात तृतीयांश से धर्म-वृक्षों की क्षीणता का उल्लेख है जिसके कारण लोगों को शाश्वत सुखों की प्राप्ति होना क्रमशः बंद हो जाता है। यहाँ तक कि (~~कलियुग के अन्त में~~) ये कल्पवृक्ष रूपी धर्मवृक्ष ही झगड़े, ईर्ष्या, द्वेष आदि के कारण बन जाते हैं क्योंकि क्षीणकाय धर्मवृक्षों से सुख रूपी फलों की अप्राप्ति के कारण लोगों में उत्तरोत्तर असंतोष बढ़ने से बेसम-झीपूर्वक धर्मवृक्षों पर अधिकार जमाने आदि की वृथा प्रवृत्ति बढ़ने लगती है। उस समय कुछ मननशील व्यक्तियों द्वारा उन धर्मों को छोटी-छोटी संकुचित सम्प्रदायवाद की सीमाओं में बांध दिया जाता है।[2] वे मनुस्वी जन स्वयं अपने जीवन में उनका उपयोग न करते हुए धर्मनिरपेक्ष हो जाते हैं; तभी तो हेमचन्द्र ने लिखा है - 'जिसतरह बूढ़ा आदमी अपने नातेदारों में धन बाँट देता है उसी तरह नीतिज्ञ विमलवाहन ने युग-

---

(२) क्षेमवृतिं ततस्तेषां मन्वानः स मनुस्तदा।
सीमानि तरुगुल्मादिचिन्हितान्यकरोत्कृती (महापु. ३, १५)

(१) न तादृश्यान्यमर्त्यास्ता विकार बिभ्रते मनाक्॥७०।
--तनुक्रोधमानमाया-लोभदोषाः स्वभावतः॥७६॥
विनीता भद्रकास्त्यक्त-भक्ष्यभोज्यादिसंचयाः।
सन्तोषिणो निरौत्सुक्या मृदुलाजवशालिनः॥७८०॥
-- परस्परं त्यक्तवैर-कलहडोहमत्सराः॥८१॥
-- एवं च ते निरातंका निर्बाधा निरुपद्रवाः।
सुखानि भुञ्जते यावज्जीवं पुराचीनपुण्यतः॥२०६॥
(जालसोल प्रकाश सर्ग २६)

-लियों को कल्पवृक्ष बाँट दिए[1], उस समय धर्म के मोह मे डूबे हुए धार्मिक लोग जब अपने धर्म में कोई प्राप्ति का अनुभव न होने पर असंतुष्ट होकर परधर्म ग्रहण करते थे तब समाज के लोग 'हाय-हाय तूने बुरा किया' (आदि) कटु स्वरों मे धिक्कारते हुए तिरस्कार करते थे ताकि इन हाकार-धिक्कारादि नीतियों के दंड से भयभीत अन्य लोग भी परधर्म न ग्रहण[2] करने लगें।

कुलकरकाल और मात्स्यन्यायकाल :—

क्षीणकाय धर्मवृक्षों की आपादापी होने पर ही कुलकरों की सामूहिक व्यवस्था (प्रजातन्त्रशासन) का सूत्रपात होता है। इस काल में मूर्धाभिषिक्त राजाएँ नहीं रहते। वायुपुराण के अनुसार 'कलियुग की संध्या श्लिष्ट होने पर ही 'नृप' शब्द ही नष्ट हो जाता है[3]। 'सच्ची धर्मव्यवस्था और राज्यव्यवस्था दोनों के ही लोप होने से अधार्मिक शासकों द्वारा 'मात्स्यन्याय' होने लगता है। इसबात की पुष्टि में त्रिषष्टि मे ऋषभदेव कहते हैं— 'पृथ्वी पर राजा के अभाव में मात्स्यन्याय होने लगता है।' + 'लोक मे जो मर्यादा का उल्लंघन करते हैं उन्हें

---

③ प्रनष्टे-नृपशब्दे च सन्ध्याश्लिष्टे कलौयुगे (वायु ६१,१५६)

② यो यस्तत्याज मर्यादां परकल्पद्रुमेच्छया।
आविश्चकार हाकारनीतिं तद्दंडनाय सः ॥१६२॥
हा त्वया दुष्कृतमिति तस्य दण्डेन युग्मिनः।
व्याधिविलाजलानीव मर्यादां नातिचक्रमुः ॥१६३॥
तेन हाकारदण्डेन युग्मान्येवममंसत।
वरं दण्डादिभिर्घातो न हाकार तिरस्कृतिः ॥१६४॥ त्रि॰ सर्ग २॥

① जातिस्मृत्या स-नीतिज्ञो युग्मिनां कल्पपादपान्।
ददौ विभज्य स्थविरो द्रविणं गोत्रिणामिव ॥ त्रि॰ १, १६१

शिक्षा देने वाला राजा होता है। जिसे राजा बनाते हैं उसे ऊँचे आसन पर बिठाते हैं और फिर उसका अभिषेक करते हैं।[1]' स्पष्ट है कि मर्यादारहित युगलियों (गृहस्थियों) को शिक्षा देने का कार्य कुलकरों (नेताओं-मंत्रियों) द्वारा नहीं चलाया जा सकता। जैनग्रन्थों में स्पष्ट उल्लेख है कि कुलकरों द्वारा पूर्व बनाए गए पूर्वनिर्मित कानून का उल्लंघन होने पर नित नए कानूनों का निर्माण होता था फिर भी अधार्मिक, निष्ठाहीन लोग किसी भी सिद्धान्त पर स्थिर नहीं रहते थे। हेमाचार्य के अनुसार- जैसे कामी लोग लज्जा और मर्यादा का उल्लंघन करते हैं वैसे ही उस समय के लोग हाकारादि नीतियों का उल्लंघन करने लगे तब प्रसेनजित ने अनाचार रूपी भूत को भगाने के लिए धिक्कार नीति काम में ली।[2]

देवेन्द्र मुनि[3] ने तत्कालीन परिस्थितियों का उल्लेख करते हुए लिखा है— 'पौराणिक गाथाओं के आधार पर वह काल आज भी हमारे मानस-चक्षुओं के समक्ष है जबकि मानव मात्र आकृति से ही मानव था। अपने क्षुद्र देह की सीमा में बँधा हुआ एक मानवाकार पशु ही तो था और क्या --- भगवान

---

(३) 'परिशीलन' पृ० १०, ११, और ५५ से उद्धृत

(२) हाकारनीतिं माकारनीतिं च व्यत्यलंघयन्।
तदा युग्मानि कामार्ता ह्रीमर्यादेव इव क्लमात्॥
'अनाचार महाभूतत्रासमंत्राक्षरोपमाम्।
धिक्कारनीतिमपरामकृताथ प्रसेनजित॥ त्रि० २, १ श्लो १६३

(१) (क) पृथिव्यां च पार्थिवाभावे मात्स्यो न्यायः प्रवर्तते।
(ख) मर्यादोल्लंघिनां लोके राजा भवति शासिता।
भाषयित्वाऽऽसनेऽत्युच्चेऽभिषिक्तः प्रथमं हि सः (त्रि० २, ६७)

ऋषभदेव के युग में यह जंगली सभ्यता विखर रही थी। जनसंख्या बढ़ रही थी। क्षुधातुर जनता वृक्षों के बँटवारे के लिए लड़ने लगी। सब ओर अपाधापी मच गई। --- भौतिक वैभव एवं ऐश्वर्य के उत्कर्ष मे एक खतरा है, वह यह कि मनुष्य अपने को भूल जाता है, अँधेरे मे भटक जाता है भोग में भय छिपा है 'भोगे रोग भयम्'। तन का रोग ही नहीं मन का रोग भी। मन का रोग तन के रोग से अधिक भयावह है। बढ़ती हुई मन की विकृतियाँ मानव को कहीं का नहीं छोड़तीं। न घर का न घाट का। भगवान ऋषभदेव ने इस तथ्य को ध्यान से देखा था' उन्हों ने आगे भी लिखा है—'ऋषभदेव ऐसे समय पर इस अवनीतल पर आए जब आर्यावर्त के मानवीय जीवन में आमूलचूल परिवर्तन हो रहा था-- प्रतिपल प्रतिक्षण मानव की आवश्यकताएँ तो बढ़ रही थीं; परन्तु उस युग मे जीवन निर्वाह का एक मात्र साधन (धर्मरूपी) कल्पवृक्षों की शक्ति क्षीण हो रही थी। साधनों की अल्पता से संघर्ष होने लगा। वादविवाद, लूट खसोट और छीना-झपटी होने लगी।'

वैदिक और जैन सृष्टि प्रक्रिया के अनुसार यह सारा 'लूट खसोट और छीना झपटी' वाले मात्स्यन्याय[1] का वर्णन आधुनिक कालीन (अर्थात् प्रस्तमांतस्स) कलि-युग के अन्त की परिस्थितियों से सम्बन्धित है, तृतीय आरे के अन्त की परिस्थितियों से सम्बद्ध नहीं है।

---

[1] वित्तं गृह्णन्ति लोभान्धा महीपाला नियोगिनाम्।
(क) प्रजानां ते अधर्मात्श्चैवं मात्स्यो न्यायः प्रवर्तते॥
(लोकलोक 34, 22)
(ख) वैदिक प्रमाणों के लिए दे. महाभा. वन १६०, ११ से ८६

विश्वोद्धरण काल :— जैन ग्रन्थों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि ऋषभदेव ने सम्पूर्ण विश्व के प्राणियों का संसार-सागर से उद्धार किया था। तीर्थङ्कर का अर्थ ही है संसार रूपी दुःख सागर से उद्धार करता। महापुराण के अनुसार उन्होंने जन्म मृत्यु तथा बुढ़ापा रूपी फलों से व्याप्त संसार रूपी लता को जड़मूल से उखाड़ कर फेंक दिया था।(१) उन्होंने अज्ञान रूपी प्रपात से अपना ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व का उद्धार किया था।(२) जैसे सूर्य के उदित होने पर अन्धकार का सर्वथा नाश हो जाता है वैसे ही उन्होंने जन्म, जरा, मरण की भीतियों का समूल भेदन कर डाला था।(३) जिसके कारण ही उन्हें इन दुःखों से मुक्ति-दायी मार्ग अर्थात कैवल्य का स्रष्टा कहा गया है। अर्थात उन्होंने ही कलियुगी दुःखी संसार का नाश कर के भोग भूमि के जीवन्मुक्ति पद की व्यवस्था की थी जहाँ जन्म, जरा, मरणादि के दुःख से सर्वथा मुक्ति प्राप्त हो जाती है(४) क्यों कि वहाँ उपपात देवशैया पर जन्म होता है अर्थात गर्भजेल का दुःख नहीं भोगना पड़ता क्यों कि वह शुक्र शोणितादि कलंक वर्जित, जन्म सरलता पूर्वक होता है। वहाँ बुढ़ापा नहीं होता। अकाल मृत्यु नहीं होती तथा छींक आने(५) मात्र से सुख पूर्वक मृत्यु होती है और आयु भी पूर्ण ३ दीर्घ होती है।

(५) प्रथमारके -- पितरस्तेषां युग्मिनां पूरितायुषः।
कासजृंभादिभिर्मृत्वोद्भवंति त्रिदशालए॥ लोकप्रकाश ३८, २१८

(४) 'देवानामुपपातः' तत्त्वार्थसूत्र २, ३५ (दि० पृ० ११२)

(३) कैवल्यार्के स्फुटमुदिते ऽस्मिन्प्रदीपे-- जननजरातङ्कारिं (महापु० १३, १४२)

(२) (क) नमो भीतिभिदे तुभ्यं गुणनाम्ने कृतात्मने (महापु० १४, ४१)
(ख) त्वमिदं विश्वमज्ञान प्रपातादुद्धरिष्यसि (महापु० १७, ५५)

(१) त्वमिनसंसृतिवल्लरिकामिमामतितामुरुदुःखफलप्रदाम्।
जननमृत्युजराङ्कुरसंभृतां शमकरैर्भगवन्नुदपीपटः (महापु० २३, १२५)

हेमाचार्य ने भी ऋषभदेव को विश्व के समस्त जन्तुओं का अभयप्रदाता बताया है।[१] यहाँ तक कि अनार्य प्रदेशों में रहने वाले म्लेच्छ (नीच) लोगों को भी उन्होंने अपनी योगदृष्टि से कल्याणमार्ग का पथिक बना लिया था।[२] इन्द्र ने ऋषभदेव से कहा—'हे भगवन्! आप के चरणों को प्राप्त कर अब कौन संसारसागर से नहीं तरेगा? (अर्थात सभी तरेंगे) क्यों कि नाव के योग से लोहा (पामर) भी (लंघन) सागर के पार हो जाता है।[३]' इसीतरह श्रेयांसकुमार ने भी कहा है—'~~आज~~ ये प्रभु साक्षात् मोक्ष की तरह समग्र जगत का और हमारा (भव्यजीवों) का कल्याण करने के लिए पधारे हैं।[४]' स्पष्ट है कि वे प्रभु विशेषरूप से भारत में जन्म लेकर प्रमुखतः भारतवासियों का और सामान्यतः सम्पूर्ण विश्व का भी उद्धार करते हैं। एक स्थान पर कहा गया है—'हे विश्वोद्धरणबांधव! संसार मरुस्थल में कल्पवृक्ष! यह मुहूर्त (संगम काल) भी वन्दना करने योग्य है क्यों कि इस मुहूर्त में धर्म को जन्म देने वाले तथा विश्वजन्तुओं को जन्म के दुःख से छुड़ाने वाले आप जैसे पुनर्जन्मरहित का जन्म हुआ है।[५]' आज भी लोग परम्परावश कलियुग रूपिणी अज्ञान-रात्रि के अन्त और सतयुगरूपी दिन को आदि

---

④ संसारमरुकल्पाङ्घ्रि विश्वोद्धरणबान्धव। ६०२।
वंदनीयो मुहूर्तोऽयं यत्रते धर्मजन्मनः॥ (त्रि.सर्ग२)
अपुनर्जन्मनोजन्म दुःखच्छिद्विश्वजन्मिनाम्॥ ६०३॥

③ त्वत्पादौ प्राप्य संसारं तरिष्यन्ति न केऽधुना।
अधोऽपि यानपात्रस्थं ~~लङ्घिष्यति~~ पारं प्राप्नोति कारिधेः॥
(त्रि. २, ३३६)

② देखिए पृ. २१ पाटि. ३, ४, ५

① स्वामी तु अखिलजन्तूनामभयो जीवाभयप्रदः (त्रि. ३, ३१६)

④ दिष्ट्या दृष्टो मया नाथः समग्र जगतामपि।
अनुग्रहीतुं सामेव लक्ष्मान्मोऽस्य इवागतः॥ त्रि. ३, २२६

कालीन संधिवेला अर्थात् प्रभातकालीन मुहूर्त को ही अर्चना-वन्दना के योग्य मानते आ रहे हैं।

सम्पूर्ण जगत का उद्धार करने के कारण ही उन्हें 'जगन्नाथ' आदि शुभ उपाधियों से विभूषित किया गया है — "हे जगन्नाथ! आप मोह रहित होने पर भी जगत पर वात्सल्य रखते हैं नहीं तो इस विषम दुःख के साम्य से इस जगत का उद्धार क्यों करते हो।"[1] एक स्थल पर उन्हें स्पष्टतः 'भरतखण्ड की भाँति ही विश्वहितकारी' भी बताया है।[2]

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि तृतीयारे के अन्त में ऋषभदेव का कार्यकाल स्वीकार करने पर विश्वजन्तुओं के मोक्ष की सिद्धि सम्भव नहीं होती, क्यों कि जैन और वैदिक सृष्टि-प्रक्रिया के अनुसार चतुर्थ और पञ्चमारे (द्वापर-कलियुग) में तो उत्तरोत्तर पतन अथवा संसार-अरण्य में उलझते अथवा डूबते जाने का ही उल्लेख मिलता है। ऋषभदेव जैसी प्रकृष्ट प्रतिभा के निमित्त से तो संसार का उद्धार ही होना चाहिए, न कि उत्तरोत्तर आयु-रूप-बल-गुण-धर्म आदि का ह्रास।

विश्वजन्तुओं का अन्तिम जन्मकाल! —

जैन और वैदिक दोनों ही परम्पराओं में औपचारिक दृष्टि से इस अनादि सृष्टि के काल चक्र का आरम्भ पहला आरा (सतयुग) और अवसान छठा आरा (कलियुग-अन्त) माना जाता है। पहले ही प्रमाणित किया जा चुका है कि अविनाशी अस्तित्व वाली

---

[2] नाथेह भरते यूयं यथा विश्वहितास्तथा (त्रि. ६, २७५)

[1] निर्ममोऽपि जगन्नाथ जगतोऽस्यसि वत्सलः।
कथं विषम दुःखाढ्यैस्तत्समुद्धरसेऽन्यथा॥ त्रि. ६, ७८६

ये जीवात्माएं आत्मलोक से, सतयुगादि से उतरती ही रहती हैं। वे बीच मे वापस न जा कर कलियुग अन्त तक यहीं जन्ममरण के चक्र में आती रहती है।[1] इस प्रकार अन्तिम जन्म मे सारे ही विश्वजन्तु, समान रूपसे[2] ऋषभदेव की शरण मे आकर दुःखी और जर्जरीभूत हुए कलियुगी सृष्टि रूपी मकान तथा पतित देह के बन्धन से मुक्ति पाकर आत्मलोक को लौट जाते हैं। गीता में स्पष्ट कहा गया है — 'बहुत जन्मों के अन्त मे ज्ञानवान् (ही) मुझे पाता है।'[3] महाभारत से से भी इस बात की पुष्टि होती है — 'तमोगुणी (काले) युग को पाकर विष्णु (भरत) के विग्रह का रंग काला होजाता है --- चिरजीवी लोग भी इसप्रकार युग का अनुसरण करते है'[4] स्पष्ट है कि सतयुग मे जो नारायण पावन दिव्य शरीर धारण करते हैं, वही पुनर्जन्म के चक्र में आते-आते कलियुगी अन्तिम जन्म में सर्वथा पतित तामसप्रधान देहधारी मनुष्य बन पड़ते हैं। तभी तो ऋषभदेव ने अपनी देशना मे कहा था 'अत्यधिक ऊँचाई का परिणाम पतन अवश्यम्भावी है' ('पतनान्ता इवोच्छ्रयाः' त्रि. ३,५६१)। यही कारण है कि वैदिक परम्परा में नारायण (कृष्ण) के गोरे (पावन) और काले (तामसी) दोनो प्रकार के चित्रादि मिलते हैं।

---

④ तामसं युगमासाद्य कृष्णां गतिमुपेयिवान्।
-- युगानुवर्तनं त्वेतत्कुर्वन्ति चिरजीविनः ॥ महाभा. वन. १४६, ३४-३८

③ बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते (गीता ७,१६)

② समान रूपसे सबके शरणभूत स्थल को ही जैन परम्परानुसार 'समवसरण' भी कहा जाता है।

① देखिए पृ. ६७ से 'प्रक्रिया' गत प्रमाण

विश्वजन्तुओं के अन्तिम जन्म में मुक्त होने की बात का संकेत त्रिषष्टिगत ऋषभदेव की देशना में इस प्रकार प्राप्त होता है — 'इस अनादि अनन्त संसार के भँवर में पड़े हुए जीवों को ज्ञानावरणीय वेदनीय और अन्तराय नाम के उत्कृष्ट कर्मों की स्थिति तीस, गोत्र और नामकरण की स्थिति २०, और मोहनीय की स्थिति ७० कोटानुकोटि सागरोपम की है; अनुक्रम से, फल के अनुभव से वे सब कर्म पहाड़ से निकली हुई नदी में से लुढ़कता-२ पत्थर जिस तरह गोल हो जाता है उस न्याय की तरह स्वयं क्षय हो जाते हैं। --- और किसी कदर कम एक कोटानुकोटि सागरोपम की स्थिति जब बाकी रह जाती है तब प्राणी यथाप्रवृत्तिकरण से ग्रन्थी देश को प्राप्त होते हैं। रागद्वेष के दुर्भेदा परिणाम को ग्रन्थी (गाँठ) कहते हैं। वह लकड़ी की गाँठ की ही तरह मुश्किल से छेदी जाने योग्य और बहुत ही मजबूत होती है।[1]' स्पष्ट है कि आत्मा रूपी बैटरी परमधाम से तो फुल चार्ज हो कर आती है परन्तु, भोगभूमि की प्रारब्ध भोगने के

---

(1) तथाऽनाद्यन्तभवावर्तवर्तिषु देहिषु ।
ज्ञानदृष्ट्यावृतिवेद्यान्तरायाभिधकर्मणाम् ॥
सागरोपमकोटीनां कोट्यत्रिंशत्परा स्थितिः।
विंशतिर्गोत्रनाम्नोश्च मोहनीयस्य सप्ततिः॥
ततो गिरिसरिद्भावघोलनान्यायतः स्वयम् ।
क्षीयन्ते सर्वकर्माणि फलानुभवतः क्रमात् ॥
-- देशोनैकावशिष्टाब्धिकोटिकोटौ तु जन्मनः।
यथाप्रवृत्तिकरणाद्ग्रन्थिदेशं समीयिवान् ॥
रागद्वेषपरीणामो दुर्भेदो ग्रन्थिरुच्यते ।
दुरुच्छेदो दृढतरः काष्ठादेरिव सर्वथा ॥
(त्रि॰ सर्ग ३, पृ ८८ से ५६१)

बाद में उत्तरोत्तर तीव्रता से क्षय होते हुए इस कल्पगत कर्मभूमि मे किए गए कर्मों के बीज रूप ग्रन्थी स्वरूप को अन्तिम जन्म में प्राप्त कर लेती है। इस जटिल ग्रन्थी का भेदन करना जीवात्माओं के वश की बात नहीं है जब तक सदामुक्त अव्यक्त ऋषभशिव स्वयं अवतरित होकर ज्ञान रूपी खड्ग प्रदान न करें। इसी लिए तो भरत (विष्णु) ने ऋषभदेव से कहा है → "प्रमाद रूपी निद्रा में पड़े हुए मुझ सरीखे मनुष्यों के लिए आप सूर्य की तरह बारम्बार (कल्प-कल्पके अन्तमें) आते जाते रहते हैं। जैसे समय पाकर (सर्दी में) पत्थर की तरह जमा हुआ घी भी अग्नि से पिघल जाता है वैसे ही लाखों (अनेक) जन्मों के उपार्जन किए हुए कर्म भी आप को (योग) दृष्टि से नष्ट हो जाते हैं।"

कलियुगवान्तकाल :— इन्द्र (भरत) की स्तुति मे की जाने वाली ऋग्वेदीय ऋचा में स्पष्टतः कलियुगी मनुष्यों को जन्म-जरा-मरणादिक दुःखोत्पादक भीतियों से आश्वस्त रहने का उल्लेख किया गया है — "हे कलिऋषि के पुत्रो मत डरो। तुम्हारे लिए ही सोम (ज्ञान) अभिषुत हो ये (विकारादिक) राक्षस स्वयं ही दूर जा रहे है।" एक अन्य स्थल पर अश्विद्वय (ऋषभशिव और ब्रह्मभरत) की स्तुति में

---

② सोम इद्वः सुतो अस्तु कलयो मा बिभीतन।
अयमेतेन एवस्मायति स्वयं दौषो अणायति॥ऋ०८,६६,१५

① प्रमादनिद्रामग्नानां नाथ कार्येण मादृशाम्।
एवं गतागतानि त्वं करोष्यकृतवासनम्॥२६५॥
जन्मलक्षार्जितं कर्म त्वदालोकाद्विलीयते।
कालेन दृषदीभूतमप्याज्यं वह्निना द्रवेत्॥त्रि०६,२६६

कहा गया है — 'कलि नाम का जो स्तोता अत्यन्त वृद्ध हो गया था, तुम लोगों ने उसे फिर यौवन से युक्त किया था।'[1]

कूर्मपुराण में तो स्पष्टतः कलियुग के अन्त में ऋषभदेव का अवतार बताया गया है।[2] शिव पुराण वायुसंहिता के पूर्वभाग तथा उत्तर भाग में भी उनके कलियुगान्त कालीन अवतार का उल्लेख है — 'युगों का आवर्तन होने पर शिव ही योगाचार्य के स्वरूप में शिष्यों को उपदेश देते हैं।'[3] × 'कृष्ण ने कहा 'सब युगों के आवर्तन होने पर योगाचार्य के रूप वाले शिव जी के अवतार और उनके शिष्यों का वृत्तान्त[4] सुनाइए।'

'शिवरहस्यम्' तृतीय अंश के 'ब्रह्मादि-पश्चात्तापवर्णनम्' प्रकरण में शिव को अनेकशः कलि-युग से सम्बन्धित करते हुए बड़े निश्चयपूर्वक कलि-काल के पापों का ध्वंस करने वाला बताया है।[5] यथा

---

(५) -- अलं कलिमलापहं केवलम् ॥२२॥

(क) (ख) त्रिपुरासुर मार संहरं कलये -- ॥२५॥

~~(ग) कल्पे कल्पे पुनः पुनः कलये कौतुकहेतुकं शिवम् ॥३०॥~~

(घ) एकस्तावदहं कलौ कलिमल प्रध्वंसकं शिवं ॥ ३३ ॥

~~(ङ) कलसे खलु, काल काल~~ [शिवरहस्यम् III, अ० २५]

(४) युगावर्तेषु सर्वेषु योगाचार्यस्वरूपेण तु।
अवतारान्हि शर्वस्य शिष्यांश्च भगवन्वद॥ (शिवपु० ७, १५, १)

(३) युगावर्तेषु शिष्येत योगाचार्य स्वरूपिणा।
तत्रतत्रावतीर्णेन शिवेनैव प्रवर्त्यते॥ (शिवपु० ७, ६, १५)

(२) देखिए पृ० ८ पादटि० (१)

(१) युवं ह्यस्य जरणामुपेयुषः पुनः कलेरकृणुतं युवद्वयः।
(ऋ० १०, ३६, ८)

उनके द्वारा कल्पान्तकालीन महाविनाश और जगत के रक्षण का भी उल्लेख किया गया है।[1]

जिनसेन महापुराण २५वें अध्याय में भी ऋषभदेव को 'कलिघ्न' की उपाधि दी गई है। वहाँ उन्हें कलिमलध्वंसक होने के कारण ही 'मलघ्न' भी कहा गया है तथा 'भवान्तक' की उपाधि[2] भी दी गई है।

त्रिषष्टि में एक स्थल पर ऋषभदेव के समवसरण में भरत द्वारा उपद्रवी राजाओं का वर्णन किया गया है — "जो अनेक प्रकार के युद्धों और उपद्रवों के द्वारा एक दूसरे के गावों और पुरवों को क्षीन लेते हैं वे सब राजा परस्पर मित्र हो कर आप की सभा में बैठे हुए है[3]।" यहाँ विचारणीय प्रश्न है कि भरत अवसर्पिणी काल चक्र के द्वितीय राजा माने गए हैं, उनके अन्य भाई भी आपस में लड़े नहीं थे, ऋषभ से पूर्व राजाएँ भी नहीं थे और यह वर्णन भी भरत की दिग्विजय से पूर्व का है; फिर यहाँ परस्पर लड़ाकू राजाओं के समवसरण में उपस्थित होने का उल्लेख कैसे किया गया? वास्तव में यह कलियुग अन्त की उन रजोगुणी (राजसी) मनुष्यात्माओं का वर्णन है जो कलियुग और द्वापर के पूर्व जन्मों में परस्पर विद्वेषी राजाएं रह चुके हैं। इसी लिए तो भागवत में भी कहा है कि ऋषभदेव का यह अवतार राजसी

---

(१) नानावस्कन्दसंग्रामहतग्रामभुवो मिथः।
मित्रीभूयेह तिष्ठन्ति राजानस्तव पर्षदि। (त्रि. ३, ५४६)

(२) देखिए क्रमशः २०६, २०९ और ११७ (महापु. अ. २५)

(१) (क) कल्पान्ते निजमायया जगदिदं दग्ध्वा -- ॥
(ख) कल्पान्ते यदि रक्षणे तव मतिः स्यात्तर्हि सा किंवृथा।
(शिवरहस्यम् III, २५, ३८ & ६४)

मनुष्यात्माओं को कैवल्य की शिक्षा देने के लिए हुआ था।[1]

हिन्दीभाषा-काल :—

जैनपरम्परा के लगभग सभी ऋषभचरित्रगत ग्रन्थों में अनेकशः[2] यह उल्लेख आया है कि ऋषभ देव ने सदैव समस्त भाषाओं को स्पर्श करने वाली वाणी में ही देशना (उपदेश) दी थी। हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जो तृतीय (आणविक) विश्वयुद्ध के कगार पर आज भी समस्त भारतीय भाषाओं को स्पर्श करती है। यही एक ऐसी भाषा है जो समस्त भारत की प्रान्तीय भाषाओं में ओतप्रोत हो चुकी है। यही कारण है कि हर प्रान्त का निवासी थोड़ी बहुत कामचलाऊ हिन्दी समझता आवश्य है, भले लिखना और पढ़ना न जानता हो।

जैन और वैदिक सृष्टि प्रक्रिया के अनुकूल ही ऋषभदेव द्वारा महापुराण में कहा गया है 'कलियुग के आनेपर लोग सम्प्रदायवाद के अभिमान से सदाचार-भ्रष्ट और मोक्षमार्ग के विरोधी हो कर केवल धन की आशा से खोटे शास्त्रों के द्वारा लोगों को मोहान्धकार में डालेंगे।[3] आज भी लालची मानुषा

---

(३) ततः कलियुगेऽभ्यर्णे जातिवादावलेपतः।
भ्रष्टाचाराः प्रपत्स्यन्ते सन्मार्गप्रत्यनीकताम् ॥४८॥
तेऽमी जातिमदाविष्टा वयं लोकाधिका इति।
पुरा पुराणमैत्रैकिं मोहयन्ति धनाशया॥४९॥ महापु० अ० ४१

(२) (क) 'सर्वभाषाऽनुयातया। भारत्या भगवान् विश्वोपकृत्यै देशनां व्यधात्' (त्रि० ६, २ ७२)

(ख) सर्वभाषास्पर्शिगिरा--देशनां व्यधात् (त्रि० ३, ५५५)

(१) अयमवतारो रजसोपप्लुतकैवल्यशिक्षणार्थम् (भागवत ५, ६, १२)

लगभग ढेढ़ हजार वर्षों से हमारा सत्साहित्य तीव्र गति से प्रक्षेपांशों के द्वारा भ्रष्ट होता आया है जिसके कारण युगों और पूर्वजों की आयु के सम्बंध में सबसे अधिक मोहान्धकार कर दिया गया है जिसके अनुसार लाखों-करोड़ों वर्षों की आयु तथा 'दिव्य वर्षों' का अनर्गल गपोड़ा लगा दिया गया है। आज के भ्रष्टाचार, जनसंख्या, आविक शस्त्रादि की वृद्धि तथा आयु, बल रूप आदि के ह्रास को देख हुए जैन और वैदिक सृष्टि-प्रक्रिया गत पञ्चमषष्ट आरे (कलियुगान्त) ~~के~~ मिलान उल्लेखों से मिलान करने पर स्पष्ट हो जाता है कि अब कलियुग ५० हजार वर्ष के लिए अवशेष नहीं है, अपितु इसको यथार्थतः कुल मिला कर संध्याश सहित १२५० वर्षों की वास्तविक आयु पूरी हो चली है। महाभारत में 'कलियुग की आयु एक हजार वर्ष, १०० वर्ष उसकी सन्ध्या और सौ वर्ष ही संध्यांश' के बताए गए हैं। यहीं पर आगे स्पष्ट शब्दों मे कहा गया है—'हजार वर्ष बीतने पर कलियुग के अन्त भाग मे जब थोड़ा समय शेष रह जाता है उस समय तक प्रायः सभी मनुष्य मिथ्यावादी हो जाते हैं। उसी समय को विद्वान् लोग लोकों का प्रलयकाल मानते हैं। (२)

(२) लोकानां मनुजव्याघ्र प्रलयं तं विदुर्बुधाः।
अल्पावशिष्टे तु तदा युगान्ते भरतर्षभ॥
सहस्रान्ते नराः सर्वे प्रायशोऽनृतवादिनः।
(महाभा० वनपर्व १८८,२६ और ३०)

(१) सहस्रमेकं वर्षाणां ततः कलियुगं स्मृतम्॥
तस्य वर्षशतं सन्धिः संध्यांशश्च ततः परम्।
सन्धिसंध्याशयोस्तुल्यं प्रमाणमुपधारय॥
(महाभा० वनपर्व १८८, २५-२६)

बारह सौ वर्षीय कलियुग के ~~के~~ प्रमाण भागवत और हरिवंश पुराण मे भी उपलब्ध है →
'जिस समय सप्तर्षि मघा नक्षत्र पर विचरण करते हैं उसी समय कलियुग प्रारम्भ होता है जिसकी आयु ~~काल~~ १२०० वर्षों की है' × 'क्रूर कलियुग अपनी दो सौ वर्षों की संध्या के साथ १००० वर्षों का बताया गया है'(१)

सतयुग-आदिकाल :— विश्व के सभी प्रमुख धर्मों मे आदि पुरुष को सृष्टि के आदि काल मे ही दिखाया गया है। मुस्लिम, ईसाई और वैदिक धर्मावलम्बी क्रमशः 'आदम', 'एडम' और 'आदिदेव(ब्रह्मा)' नाम से पुकारे जाने वाले उस आदि पुरुष का अस्तित्व सुखी, स्वर्गीय सृष्टि (भोगभूमि) के आदि से ही मानते हैं। केवल जैन ग्रन्थों मे ही ऋषभ को 'आदीश्वर' या 'आदिनाथ' ~~कहा~~ कहते हुए भी सृष्टिचक्रगत काल-चक्र के मध्य में दिखाया है जो अन्य सभी धर्मों की मान्यता के प्रतिकूल होने के साथ ही तर्कसंगत भी नहीं है, क्यों कि उत्तरोत्तर पतनोन्मुखी सृष्टि के मध्यकाल मे, दुखों का आरम्भ होते ही ऋषभदेव जैसी सृष्टि की प्रकृष्टतम प्रतिभा का अस्तित्व नैसर्गिक नियम के ही विरुद्ध है क्यों कि विकटतम परिस्थितियों मे ही उत्कृष्टतम व्यक्तित्व का प्रादुर्भाव होता है। साधारण परिस्थितियों मे असाधारण व्यक्तित्व का प्रादुर्भाव उसके समूचे प्रभाव को ही नष्ट कर देगा।

---

(१) (क) यदा देवर्षयः सप्त मघासु विचरन्ति हि।
तदा प्रवृत्तस्तु कलिर्द्वादशाब्दशतात्मकः॥ (भाग. १२,२,३१)

(ख) तथा वर्षसहस्रं तु वर्षाणां द्वे शते तथा।
संध्यया सह संख्यातं क्रूरं कलियुगं स्मृतम्॥
(हरिवंश २,८,१४)

रूप-आयु-बल-~~[illegible]~~-ऋद्धि-सुख-शांति आदि की सर्वाधिक क्षीणता वाला समय तो कलियुग और सतयुग का संधिकाल ही है जिसे महाविनाश-काल कहा जाता है। यही वह समय है जब कि विश्व-जन्तुओं के जन्म जन्मान्तर का स्थूल अर्जन (ग्राम-शहर-देश आदि) स्थूल-भौतिक अग्नि में और कर्मों का सूक्ष्म अर्जन (पापादिक) ज्ञान-योगाग्नि में दग्ध हो जाता है। इसतरह अग्नि मे शोधित सारा ही जड़जङ्गम जगत् शुद्ध-सत्त्वप्रधान सतयुग कहा जाता है जहाँ सत्वप्रधान प्राणियों की ही उत्पत्ति होती है क्यों कि श्रेष्ठ व्यक्ति का सृजन-कार्य भी श्रेष्ठ ~~[illegible]~~ और टिकाऊ हुआ करता है। ~~[illegible]~~ ही ब्रह्मा भरत के सहकार से श्रेष्ठ सतयुगी भोग-भूमि के सुखी प्राणियों की रचना, ज्ञानयोग की प्रक्रिया द्वारा सृष्टि के आदिकाल मे की थी जैसा कि वैदिक ग्रन्थों मे अनेकशः उल्लेख मिलता है। उदा० "हे भव (ब्रह्मा) और शर्व (शिव)! तुम दोनों ने सृष्टि के आरम्भ में अनेक प्राणियों की रचना की थी।" × "पुनः पुनः कल्पों के आदिकाल में समस्त प्राणियों के संस्रष्टा व्यक्त और अव्यक्त महादेव है।"(१)

त्रिषष्टि के कुछ श्लोकों से भी यह सिद्ध होता है कि ऋषभदेव सतयुग के आदि में हुए थे; यथा → "हे नाथ! इस समय आप के जन्माभिषेक के

---

(१) (क) यावारेभाथे बहुसाकमग्रे प्र चेदस्राष्ट्रमभिमांजनेषु।
(देवता-भवशर्वौ) (अथर्ववेद ५, ६, २८, ४)

(ख) संस्रष्टा सर्वभूतानां कल्पादिषु पुनः पुनः।
व्यक्ताव्यक्तो महादेवस्तस्य सर्वमिदं जगत् (वायु ६२, ८६)

जल से प्लावित हुई और बिना यत्न के जिसका मल (पाप) दूर हुआ है ऐसी यह रत्नप्रभा पृथ्वी 'सत्य' (सतयुग) नामवाली हुई है' × 'प्रभु ने लोगों को (बुद्धि द्वारा) क्या त्याज्य (विनाशी देह और देह के सभी सम्बंध) और क्या ग्रहणीय (अविनाशी आत्मा) है, इसका ज्ञान दिया; इस कारण यह भरत क्षेत्र बहुत कर के विदेह क्षेत्र (देहभानरहित आत्माभिमानी भोगभूमि सतयुग) जैसा हो गया।' स्पष्ट है कि आत्मलोकोपदेशक ऋषभशिव के ज्ञान से लोग देहभान से रहित आत्माभिमानी हो जाते है तो उसी लोक को विदेहक्षेत्र कहा जाता है। जैसे वैदिक साहित्य में शिव को कामदेव का भस्मकर्ता बताया है वैसे ही जैन साहित्य मे भी ऋषभ को कामदेव (रूपी अन्धकासुर) का नाशक बताया है। यही कारण है कि भोगभूमि या विदेहभूमि में 'ऊपर-ऊपर के स्वर्ग के देवों की कामवासना मन्द' होने का उल्लेख तत्त्वार्थसूत्र मे किया गया है। इसके अतिरिक्त 'मृषावाद का सर्वथा परिहार' किये जाने के उल्लेख से भी स्पष्ट है कि ऋषभदेव द्वारा सतयुग की स्थापना की गई थी।

---

④ नमस्तुभ्यं मृषावादपरित्यागेन सर्वथा (त्रि. ३, च ४)

③ कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥८॥ शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः ॥९॥ परेऽप्रवीचाराः ॥१०॥ (तत्त्वार्थसूत्र अ. ४ पृ. १५६)

② अखण्डितब्रह्मचर्यमहातेजो विवस्वते।
भगवन्मन्मथध्वान्त-- (त्रि. ३, च ६)

① (क) युष्मज्जन्माभिषेकाम्भः पूरैराप्लावितादधुना।
अयत्नक्षालितमला सत्या रत्नप्रभा प्रभो (त्रि. २, ६. ४)

(ख) हेयादेयविवेकज्ञो कृतो लोकैर्व्यधाद्विभुः।
प्रायेण भरतक्षेत्रं विदेहक्षेत्रसन्निभम् ॥ (त्रि. २, ६ ८३)

वेदपूर्व और आर्यपूर्वकालीन महाभारतकाल :—

'जिनेन्द्र मतदर्पण' के अनुसार → "वैदिक दृष्टि से भी ऋषभदेव प्रथम सतयुग में हुए हैं, वे राम-कृष्ण के अवतारों से पूर्व हुए हैं।"[1]

रामधारीसिंह दिनकर के शब्दों में → "मोहन-जोदड़ो की खुदाई में योग के प्रमाण मिलते हैं, और योग तथा वैराग्य की परम्परा ऋषभ से उसी प्रकार लिपटी है जैसे शक्ति कालान्तर में शिव के साथ समन्वित हो गई; इस दृष्टि से कई जैन विद्वानों का यह मानना अयुक्तयुक्त नहीं दिखता कि ऋषभदेव वेदोल्लिखित होने पर भी वेदपूर्व हुए हैं।"[2]

वेदोपनिषदनिर्माणकाल ढाई-तीन हजार वर्ष से अधिक कदापि नहीं हो सकता क्यों कि वैदिक ऋषियों ने इन ग्रन्थों की रचना उस कालक्रम में की थी जब कि मनुष्यों की सर्वसामान्य आयु १०० वर्ष हुआ करती थी। तभी तो ऋषियों ने अनेकशः सौ वर्ष जीने की अभिलाषा प्रगट करते हुए इस प्रकार स्तुतियाँ की है → '(क) हम सौ वर्षों तक जीवित रहें, सौ शरद् ऋतु तक देखें' (ख) 'सौ शरद् आयुष्य जीवित रहो' (ग) 'सौवर्ष जीने की इच्छा करें' इत्यादि।[3] यदि हजारों

---

③ (क) पश्येम: शरद: शतंजीवेम शरद: शतम् (ऋ. ७,६६,१६)
(ख) शतं शरदायुषो जीवस्व (कौशी. उप. २,११)
(ग) जिजीविषेच्छतं समा: (ईशावा. २)
(घ) जीवामि शरद: शतम् (महानारायण उप. ४,६)
(उपनिषद्वाक्यकोश)

② 'आजकल' मार्च १९६२ पृ. ८ (परि. पृ. १५६ और जै. इतिहास ६०)

① जिनेन्द्रमतदर्पण भाग. १, पृ. १० (परि. पृ. ५)

- लाखों वर्ष की आयु हुई होती – जैसा कि वर्तमान जैन और वैदिक परम्परा की मान्यता है – तो सौ वर्ष जीने की प्रार्थना ही क्यों करते? मानवीय आयु हजारों-लाखों वर्ष मान लेने के कारण ही सृष्टिचक्रगत कालचक्र अर्थात् कल्प या चतुर्युगी की आयु भी करोड़ों-अरबों वर्ष कल्पित कर ली गई। यदि ऐसा होता तब तो देवाधिदेव ऋषभशिव के द्वारा सृष्टि को आदि-मध्य-अन्त से युक्त त्रिपदीय[1] ज्ञान का देना ही असम्भव हो जाता।

मुनि हजारीमल स्मृति ग्रन्थ पृ० ६१३ पर श्री राजकुमार जैन लिखते हैं – "प्रस्तुत सूक्त (ऋ०१,६६) ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें प्रथम तो भगवान की स्तुति में गाए जाने वाले ऋक्, यजु, साम एवं अथर्व संहिताओं में संकलित स्तोत्रों से भी प्राचीन उन निविद[2] अथवा निगद स्तोत्रों का उल्लेख है जिनसे ध्वनित होता है कि भगवान ऋषभदेव आर्यगण के आने से पूर्व ही भारत के आराध्य देव थे।"

लन्दन विश्वविद्यालय से स्वीकृत पीएच० डी० 'शैवमत' के हिन्दी अनुवाद में डा० यदुवंशी ने लिखा है → "वैदिक आर्यों के पञ्जाब में आने का समय, जिस पर प्रायः सभी विद्वान एकमत हैं, २५०० वर्ष ईसा पूर्व है। सिन्धुघाटी की सभ्यता इससे पुरानी थी

---

② स पूर्वया निविदा कव्यतायोरिमाः
प्रजा अजनयन्मनूनाम्। (ऋ० १, ६६, २)

① देखिए पृ० २५ पाटि० १ और २

~~① उत्सो-विग्मो-द्यौष्पितेति पुत्र्या~~

परन्तु मोहनजोदड़ो में जो एक 'सुमेरोबेबीलोनियन' की टिकिया मिली है, और जिसको श्री सी॰एल॰ फैक्री ने २८००-२६०० ईसापूर्व का बताया है, उससे सिद्ध होता है कि जिस समय वैदिक आर्य ऊपरी पँजाब में बस रहे थे, उस समय भी सिन्धुघाटी के नगर आबाद और समृद्ध अवस्था में थे।"①

इस प्रकार यदि ऊपरी पँजाब में वैदिक आर्यों का अस्तित्व ३००० वर्ष ईसापूर्व भी निर्धारित किया जावे तो भी यह पूर्णतः सिद्ध हो जाता है कि देवाधिदेव ऋषभशिव का जन्म आज से लगभग ५००० वर्ष पूर्व हुआ था।

भारतीय परम्परा में महाभारी महाभारत का विनाश भी आज से ५००० वर्ष पूर्व निर्धारित किया जाता है जिससे भी सिद्ध होता है कि विश्वपूज्य निराकार परमात्मा ऋषभशिव ने विश्व-स्वीकरणीय गीताज्ञान और विश्व प्रसिद्ध प्राचीन भारतीय सहज राजयोग की शिक्षा आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व ही दी थी जिसके प्रमाण सिंधु-

---

① शैवमत पृ॰ ३० से ३५ उद्धृत।

यहाँ ध्यान रहे कि वेद प्रसिद्ध आर्यों का अर्थ ही है-धर्म-कर्म श्रेष्ठ पावन देवी-देवता- जिनकी पूजा कलियुगी पतित मनुष्यों द्वारा आज भी प्राचीन परंपरा से उपलब्ध मूर्तियों और चित्रों के द्वारा समूचे भारत ही नहीं, अन्यान्य पार्श्ववर्ती देशों में भी की जा रही है। यह समझना भारी अन्धविश्वास का द्योतक होगा कि देवी देवताओं के ये मूर्ति-चित्र आदि किसी ऊपरी आकाशस्थ लोक से टपक पड़े होंगे।

घाटी आदि की पुरातात्विक खोजों से उपलब्ध होरहे हैं। यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य एक बात और है कि महाभारत का युद्ध एक विश्वव्यापी युद्ध था, न कि दिल्ली के पास वाले 'कुरुक्षेत्र' नामक छोटे से मैदान से सम्बन्धित। महाभारत मे उल्लेख है कि इस युद्ध मे एक अरब ६६ करोड़ २० हजार योद्धा[१] मारे गये थे' इस अतिरिक्त अनेक घायल हुए थे और अनेक लापता थे। भला उस छोटे से मैदान मे अरबों की संख्या (जिनमे हाथी, घोड़े, रथों आदि की गिनती अलग है) कैसे स्वीकार की जावे, जब कि खण्डित भारत मे आज भी १६५ करोड़ से भी ऊपर जनसंख्या हो चुकी है। वास्तव मे सामान्य रूप से यह सारा विश्व ~~ही उसमकाल मे~~ और विशेष रूप से सम्पूर्ण (अखण्ड) भारत ही कुरुक्षेत्र था। रूस और अमेरिका ही महाभिमानी यादव थे जिनके बुद्धि रूपी पेट मे से ~~मूसल~~ एटमबम्ब रूपी मूसल (Missiles) निकले थे जिनके द्वारा समस्त यदुकुल का संहार हुआ था।

उपर्युक्त प्रमाणों के अतिरिक्त दिल्ली के बिरला मन्दिर मे भी एक पत्थर पर लिखा हुआ है कि ५००० वर्ष पूर्व धर्मराज ने भारत मे स्वर्ग की स्थापना की थी। ईसाइयों की भी ऐसी मान्यता है कि ईसामसीह से ३००० वर्ष पूर्व भारत मे 'पैराडाइज़' था।

इतिहासविदों के सिद्धांत → 'इतिहास की पुनरावृत्ति होती है' (History repeats itself) के अनुसार आज पुनः वही ५००० वर्ष पूर्व अर्थात्

---

(१) दशायुतानामयुतं सहस्राणि च विंशतिः। (महाभा-स्त्री० २६,६)
कोट्यः षष्टिश्च षट् चैव ह्यस्मिन् राजन् मृधे हताः॥

कल्पपूर्व वाली कलियुगान्तकालीन (तृतीय) विश्व-व्यापी युद्ध की परिस्थिति[⊗] हमारे सम्मुख उपस्थित है। (अभी कुछ वर्ष पूर्व ही 'ऋषभदेव की उत्पत्ति असंभव नहीं' नामक पुस्तिका भारतीय दिगम्बर जैनसंघ मथुरा से प्रकाशित हुई थी) भौतिक उत्कर्ष स्थूल होने के कारण सबके प्रत्यक्ष रहता है, जब कि आध्यात्मिक प्रगति सूक्ष्म होने के कारण गुप्त ही रहती है जिसकी जानकारी और अनुभूति प्रयोगात्मक पवित्र जीवन जीने वाले अति अल्प लोगों को ही समयानुकूल ही हो पाती है; तभी तो गीता में यह प्रसिद्ध उद्घोष है — 'सहस्रों मानवों में कोई ही सिद्धि के लिए यत्न करता है, और जो (सच्चे) प्रयत्न करने वाले हैं उनमें भी कोई ही ठीक रीति से मुझे पहचान पाता है[①]।'

---

① मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चित् यतति सिद्धये
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः (गीता ७,३)

⊗ 'कल्प की हूबहू पुनरावृत्ति' सम्बन्धी प्रमाणों के लिए देखिए प्रकरण-६ में 'अनादिसृष्टि रूपी चक्ररत्न'

प्रकरण-५ . देवाधिदेव ऋषभशिव का दिव्यजन्म

प्रकरणसार :- यह पहले ही सिद्ध किया जा चुका है कि अनेक नाम रूपों से जगत्पिता ऋषभशिव के लिये उत्पादयिता → द्यावा-पृथ्वी — का ही लौकिक माता-पिता के रूप में कवियों द्वारा सुन्दर मानवीयकरण किया गया है जिससे स्पष्ट होता है कि सर्वथा कर्मों के बन्धन से रहित[1] परमपिता ऋषभशिव को मर्त्य-धर्मियों की भाँति किसी देहधारी माता-पिता को गर्भजेल में नहीं पकना होता अपितु उनका दिव्य जन्म होता है। एक चतुर्युगी अर्थात् कल्प (कालचक्र) में चौरासी के[2] चक्र में आने वाले भरत-इन्द्र-विष्णु-ब्रह्मा आदि नाम रूप के धारक नारायण ही अपने अन्तिम कलियुगी जन्म में सिंधी ब्राह्मण के यहाँ जन्म लेते हैं। वृद्ध होने पर उनके पतित मानवशरीर में स्वयंभू ऋषभशिव का दिव्यावतरण अर्थात् परकायप्रवेश होता है जिसे भगवान का दिव्य जन्म कहा जाता है। भगवान जिस मानवीय पतित (विकारी) तन में प्रवेश करते है, उसके पूर्व लौकिक नाम को बदल कर (प्रजापिता) ब्रह्मा' नाम रखते हैं। यही ब्रह्मा (भरत) ऋषभशिव का ज्येष्ठ पुत्र कहलाता है जिसके मुख द्वारा ब्राह्मणों की रचना होती है। यही ब्राह्मण (जिन्हें ग्रन्थों में 'अंगिरा', 'मरुद्गण' 'वातरशना मुनि', 'श्रमण', 'भृगुगण' 'ऋषिगण' आदि कहा गया है) अपने-२ पुरुषार्थ के अनुसार कर्मबन्धन क्षीण कर के जरा-मरणादि के दुःखों से मुक्त देवी देवता पद प्राप्त करते हैं।

---

② देखिए प्रकरण १२ में 'बहुजन्मा भरत'

① क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषोऽईश्वरः
(पातञ्जल योगसूत्र १,२४)

डा. राधाकृष्णन् ने 'उपनिषदों की भूमिका' पृष्ठ ७६ पर छान्दोग्य उपनिषद् ४, ५ का उल्लेख करते हुए लिखा है → "ईश्वर सर्वथा अन्य अनुभवातीत और जगत् तथा मनुष्य से पूर्णतया परे है और फिर भी वह मनुष्य में प्रवेश करता है, उसमें रहता है और उसके अस्तित्व का ही अन्तरतम सार बन जाता है।" इसी बात का समर्थन सातवलेकर ने इस प्रकार किया है → "पार्थिव जन्म लेने वाले को ही माता के गर्भ में पकना होता है, दिव्य जन्म लेने वाले को नहीं। स्थूल शरीर का जन्म पार्थिव है। दिव्यजन्म तो बुद्धिक्षेत्र में दैवी स्फुरणा से हुआ करता है जिससे किसी व्यक्ति में परमात्मा की ज्योति का आविर्भाव किसी भी आयु में होता है। प्रारम्भिक जीवन में व्यभिचारी रहे मनुष्य में भी ऐसा जन्म होने पर उत्तम ब्रह्मचर्य के लक्षण दिखते हैं। इसे अयोनिसम्भव भी कहते हैं।"[1]

वृषभाङ्क का रहस्य :— यह तो पहले ही कहा गया है कि ऋषभशिव को जैन और वैदिक ग्रन्थों में वृषभ चिन्ह और 'वृषभाङ्क' की उपाधियों से अनेकशः भूषित किया गया है तथा सिन्धु घाटी में वृषभाङ्कित मूर्तियाँ और मुद्राएं प्राप्त हुई हैं। आज भी जहाँ शिवमंदिरों में शिवलिङ्ग की बाजू में अथवा भीतिचित्रों में वृषभासीन रुद्र और गोमुख से (शानस्की) जलधारा का प्रवाह दिखाया जाता है, वहाँ जैन मन्दिरों में जिनमूर्ति को 'वृषभ' चिन्ह से अंकित तथा उनके आसन और भारवाही प्रदेश (उस) पर भी वृषभ (बैल) दिखाया जाता है जिससे सिद्ध होता है

---

① गीता सातवलेकर पृ. २७२

कि 'वृषभ' चिन्ह निराकार ज्योतिबिन्दु ऋषभशिव के साकारी (स्थूल) शरीर का प्रतीक ही नहीं, अपितु उनका नियत रूप से वाहन भी माना गया है। स्पष्ट है कि वाहन वृषभ का जीव ऋषभशिव से भिन्न होने के साथ ही उनके साहचर्य का भी द्योतक है। इसी लिए त्रिषष्टि आदि ग्रन्थों में 'गोमुख नाम का यक्ष ऋषभदेव के सदा पार्श्व भाग में रहने वाला अधिष्ठायक' बताया गया है। यदि ये दोनों आत्माएं पृथक् पृथक् न होतीं तो ऋषभशिव के शास्वत निराकार स्वरूप शिवलिंङ्ग (जो मन्दिर के बीचोबीच स्थापित किया जाता है) के साथ ही वृषभ को दिखाने की क्या आवश्यकता थी? क्या ऋषभशिव ने बैल का रूप धारण किया था? यदि ऐसा ही होता तो उन्हें वृषभासीन या वृषाङ्कासन पर आसीन क्यों दिखाया जाता है? इन प्रश्नों का एकमात्र हल यही है कि निरञ्जन निराकार ऋषभशिव को सृष्टि की स्थापना-पालना-विनाश के तीन कार्यों को करने के लिए किसी अन्य जीवात्मा (पशु) के शरीर का वाहन रूप में आधार लेना पड़ता है क्यों कि सर्वथा कर्मबन्धन रहित होने के कारण वे न तो स्वयं को देहरूप पुद्गलों को धारण कर सकते हैं और नहीं निमित्त कारण रूप में कोई अच्छा-बुरा कर्म करने के अधिकारी हैं। अतः वे परकाया प्रवेश कर के सृष्टि कार्य का (एक समय में ही कुम्भ चक्र न्याय* से) संचालन कराते हैं।

---

* जैसे कुम्भकार द्वारा चाक गति प्राप्त चाक लम्बे समय तक स्वयं ही घूमता रहता है वैसे ही ऋषभशिव की अध्यक्षता में सृष्टि चक्र अनादि काल से घूम रहा है।

(१) इस पैरा से संबंधित प्रमाण देखिए पृ. ३६ से ३८ तक।

'वृषभ' ब्रह्मा का प्रतीक है, [redacted] :—

इस प्रकार ऋषभ शिव जिस तन में प्रवेश करते हैं वही वृषभ का सूचक है, यही कारण है कि शिवमन्दिरो मे बने बैल के मस्तक में शिवलिंङ्ग भी दिखाया जाता है जो निराकार शिव के परकाया प्रवेश का संकेत देता है। वृषभ अपने गम्भीर स्वर, सुगठित शरीर, भारवाहकता, प्रजननशक्ति, विचरणवृत्ति, शत्रु-आक्रामकता और अपनी प्यास के लिए प्रसिद्ध है। यह सारे ही गुण सतयुगी नारायण (भरतचक्रवर्ती या इन्द्र) के अन्तिम कलियुगी वृद्ध शरीर (ब्रह्मा) में भी मौजूद रहते हैं। अतः 'वृषभ' ब्रह्मा का ही प्रतीक है क्यों कि ऋषभ शिव उन्ही के सुगठित शरीर द्वारा ज्ञान की गम्भीर गर्जना, रुद्रज्ञानयज्ञ का भारवहन, सहस्रों ब्राह्मण वत्सों की उत्पत्ति, विकारादिक शत्रुओं का नाश आदि कार्य कराते हैं। यही कारण है कि ऋग्वेदादिक प्राचीन ग्रन्थों में ब्रह्मा के अपर नाम 'इन्द्र' के लिए ही 'वृषभ' की उपाधियों, उपमाओं तथा रूपकों का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। उदाहरण → ऋग्वेद मे कहा है— 'इन्द्र! वृषभ की तरह अत्यन्त क्रोध के साथ शत्रु पर आक्रमण करो।'(१) सामवेदानुसार — 'वृषभ समान शीघ्रगामी इन्द्र का स्तवन करो।'(२) इस सम्बन्ध में अथर्ववेद के कुछ महत्त्वपूर्ण स्थल विशेष रूप से देखने योग्य हैं— 'यह वृषभ इन्द्र रूप मे प्रतीत होता है। जैसे इन्द्र वृष्टि जल से इस संसार का पोषण करता है वैसे ही यह वृषभ (ज्ञान) वीर्य सिंचन द्वारा

---

(२) अवक्रक्षिणं वृषभं यथा जुवं गां] (अथर्व २०, ७, ८४, २)
(सामवेद ११, २, २)

(१) वाधसे जनान् वृषभेव मन्युना (ऋ० ६, ४६, ४)

(ब्रह्मा रूपमें) पशुओं की उत्पत्ति करता हुआ (द्यौरूपी①) धान्यादि से संसार का (विष्णु रूपमें) पोषण करता है। यह भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों में वस्तुओं को पैदा करता और कर्मानुष्ठानों को पूर्ण करता है②।' × 'यह वृषभ सम्पूर्ण विश्व को जीतने वाला (भरतचक्रवर्ती) वायु रूप, विश्व का भरण-पोषण कर्ता (विष्णु) है। संसार के सभी कार्य इसके हैं — जिस वृषभ द्वारा पार्थिव देह का त्याग कर यह देवता मुक्ति द्वारा पर चैत हैं उसी के द्वारा हम सूर्य (ऋषभशिव) की उपासना करते हुए सुख की इच्छा से पुण्य का फल प्राप्त करते हैं।— यह अनड्वान वृषभ प्रजापति ब्रह्मा के③ समान है।' × 'यह व्रत योग्य १२ रात्रियों में (त्रयोदशी④ पर) (आए हुए) इस वृषभ रूप प्रजापति को जो जानता है वही अनड्वान् व्रत का अधिकार रखता है।' × 'हे वृषभ सोमधारक हो। मनुष्यों के देवता रूप हो। तुम इस लोक में प्रजाओं की उत्पत्ति

---

④ द्वादश वा एता रात्रीर्व्रता आहुः प्रजापतेः।
तत्रोपब्रह्म यो वेद तद् वा अनुड्वहो व्रतम्॥ (अथर्व ४,३,११,११)

⑤ जो शिवजयन्ती सो ब्रह्मा जयन्ती है क्योंकि शिव के प्रवेश होने पर ही 'ब्रह्मा' नाम पड़ता है अतः 'ब्रह्मा जयन्ती' अलग नहीं मनाई जाती।

③ यो विश्वजिद् विश्वभृद् विश्वकर्मा धर्मं नो ब्रूत यतमश्चतुष्पात्॥
येन देवाः स्वरारुरुहुर्हित्वा शरीरममृतस्य नाभिम्।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं धर्मस्य व्रतेन तपसा यशस्यवः॥
इन्द्रो रूपेणाग्निर्वहेन प्रजापतिः परमेष्ठी विराट्।
(अथर्व ४, ३, ११, ५ से ७)

② अनड्वानिन्द्रः स पशुभ्यो वि चष्टे त्रयाऽरुक्रो विमिमीते अधवनः।
भूतं भविष्यद् भुवना दुहानः सर्वा देवानां चरति व्रतानि॥
(अथर्व ४, ३, ११, २)

① देखिए प्रकरण ८ में बलि उत्क्षेप का रहस्य।

करो ।[1]' × 'हे वृषभ! तू देवताओं को दुग्धहवि रादि (ज्ञान योग) से युक्त कर बढ़ाता है इसीलिए तुझे इन्द्र कहते हैं ।[2]' × 'यह इन्द्र के रूप को धारण करनेवाला बैल हमको कल्याण रूप में मिले ।[3]' × 'इन्द्र प्रोधित हुए वृषभ के समान..मेघ (अज्ञान) को छिन्नाभिन्न करने वाले हैं ।[4]' × 'इन्द्र! तुम सोम को पीने के लिए वृषभ के समान प्यासे (ज्ञानपिपासु) हो कर कब आवो गे?[5]' × 'इन्द्र वृषभ के समान शीघ्र विचरण करने वाले हैं' (२०,७,८५,२)।

वृषभ ऋषभशिव का प्रतीक नहीं :—

वृषभ शब्द वैदिक ग्रन्थों में कहीं कहीं अग्नि (ऋषभशिव) के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। इस भ्रान्ति का एकमात्र कारण है एक ही शरीर में दो आत्माओं का निवास। वस्तुतः तो सुखदुःखादि कर्मभोग का साधनस्वरूप वह ब्रह्मा का शरीर सदामुक्त, निराकारी, अभोक्ता सदाशिव का नहीं कहा जा सकता। अतः वृषभ भोक्ता ब्रह्मा भरत का ही प्रतीक है, न कि ऋषभशिव का। ऋषभशिव के इस दिव्यजन्मगत अगम्य[*] अव्यक्त स्वरूप का भेद न खुलने से ही परवर्ती ग्रन्थों में 'एक परमात्मा ही अनेक रूप है' 'सर्वव्यापी है' 'आत्मा सो परमात्मा'

---

[*] देखिए पृ० २०

[1] कदा सुतं तृषाण ओक आगम इन्द्र स्वब्दीव वंसगः।
(अथर्व २०,५,५२,२ और २०,५,५७,१५)

[2] वृषा न क्रुद्धः पतयद् रजःस्वा--स सुन्वते मघवा।
(अथर्व २०,२,१७,८)

[3] इन्द्रस्य रूप वृषभो वसानः सोऽस्मान् देवाः शिव एतु दत्तः।
(६,२,६,७ अथर्व)

[4] दैवीर्विशः पयस्वाना तनोषि त्वामिन्द्र त्वां सरस्वन्तमाहुः।
(६,२,६,६ अथर्व.)

[5] इन्द्रस्य क्ष्वीक्षरसि सोमधान आत्मा देवानामुत मानुषाणाम्।
इह प्रजा जनय---। (अथर्व ७,१०,११)

इत्यादि अनेक भ्रान्तियों का उद्भव हुआ है। यही कारण है कि ऋक्, अथर्व, साम, श्वेताश्वतर, मुण्डक आदि में आने वाली प्रसिद्ध ऋचा (द्वा सुपर्णा सयुजा) का मन-माना अर्थ लगाया गया। परन्तु, अब इसका अर्थ कितना स्पष्ट है — 'एक साथ रहने वाले तथा परस्पर सखा भाव रखने वाले दो पक्षी (ऋषभशिव और ब्रह्माभरत) एक ही (सृष्टि रूपी) वृक्ष का आश्रय लेकर रहते हैं। उन दोनों में से एक (ब्रह्मा) तो उस वृक्ष के सुखदुःख रूप कर्मफलों का स्वाद ले कर उपभोग करता है किन्तु, दूसरा (शिव) न खाता हुआ केवल देखता है।'[1]

जैनग्रन्थों में ऋषभदेव को स्पष्टतः निराकार,[2] निष्क्रिय और अभोक्ता बताया गया है → जिनसेनाचार्य ने लिखा है — 'हे जिनेन्द्र! जो आप के केवलाहार की योजना करते हैं या कहते हैं कि आप केवलाहार करते हैं उन वायुरोगियों को पुराने घी की खोज करनी चाहिए ताकि उनका मोह[3] दूर हो सके।' हेमचन्द्राचार्य के अनुसार — 'उन (ऋषभ) के आहार-विहार की विधि चर्मचक्षु के अगोचर[4] थी। ×× 'घर में रहने वाले अन्य अर्हन्त सिद्ध अन्न खाते हैं किन्तु भगवान नाभिनन्दन तो उत्तरकुरुक्षेत्र से देवों द्वारा लाए हुए

---

④ आहारनीहारविधिर्लोचिनामानामगोचरः (त्रि॰२,६६१)

③ असद्वैद्योक्तयाद्भुक्तिं त्वयि यो योजयेदधीः।
मोहनिलयपुतीकारे तस्यान्वेष्यं जरद्घृतम॥ महापु॰२५,४०

② देखिए पृ॰ १७ से

① द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
(ऋ॰१,१६४,२०; अथर्व ; श्वेता॰४,६,७; मुण्डक ३,१,१)

कल्पतरु (धर्मवृक्ष) के (ज्ञान-) फलों को खाते थे[1] और सागर का जल पीते थे।' × 'आप आत्माराम में मन लगाए रखने वाले --- तथा शरीर की सारी चेष्टाओं से निवृत्त (अर्थात् निष्क्रिय) रहने वाले है।'[2] × 'ये प्रभु कभी थकते नहीं, कभी आराम करते नहीं। श्रेष्ठ हाथी की तरह उन्हे सर्दी गर्मी से कभी तकलीफ होती नहीं। ये मूरख को कोई चीज नहीं समझते, प्यास को जानते नहीं, और वैर वाले क्षत्रिय की तरह नींद भी नहीं लेते[3]।' स्पष्ट है कि देहधारी जीवात्माओं को ही सुख-दुःख की अनुभूति होती है; सदामुक्त परमात्मा को नहीं।

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि वृषभ ऋषभशिव का प्रतीक नहीं, अपितु शिव और ब्रह्मा के साहचर्य का द्योतकचिन्ह मात्र है। इसी लिए ऋग्वेद में देहधारण करते बूढ़े बैल ब्रह्मा को ही प्रमाण भूत (ईश्वर) समझने वालों के प्रति कहा गया है → 'जो धन के मद में मत्त हुए (संज्ञाहीन अर्थात् अज्ञानी भगत) लोग, जो पाप करते हैं, वे यदि कल्याणवाही बृहस्पति (ऋषभशिव) को बूढ़ा बैल (ब्रह्मा) जानते हैं, तो हे बृहस्पति उन्हें तुम (सतयुग में) धन नहीं देना।' (देखिये अग्रिम पृ. पर पाटि. १)

---

(१) शयनादिविहीनोऽपि नायासमनुगच्छति।
न परिक्लिश्यते शीतोष्णाभ्यां गिरिवरेभवत्॥
न हि क्षुधां गणयति न जानाति तृषामपि।
सवैर: क्षत्रिय इव निद्रामपि न सेवते॥ (त्रि. ३, १०७-८)

(२) आत्मारामैकमनसे -- सर्वचेष्टानिवृत्ताय (त्रि. ३, ६०)

(१) गृहावासेऽपरेऽहन्त: सिद्धमन्नं हि भुञ्जते।
देवानीतोत्तरकुरुफलानि बभुजे सया॥
क्षीरोदवारि च पपौ भगवान्नभिनन्दन: (त्रि. २, ६८३

दो हैं साथी, ब्रह्मा रथी, शिव सारथी :—

अभोक्ता ऋषभशिव और भोक्ता ब्रह्मा भरत महाविनाशकाल में एक साथ मिल कर स्थापना-विनाश के कार्यों का सम्पादन करते करातें हैं। वेदत्रयी में युगमदेवों (वै॰पृ॰ ५८) के रूप में इन्हीं दो के तात्कालिक साहचर्य का वर्णन किया गया है तो वेदोत्तर काल में भी विभिन्न नाम, रूपों से इन्हीं दो के कर्तव्यकालीन अभिन्न साहचर्य की सूचना मिलती है (वै॰पृ॰ ५८)।

ऋग्वेद में ब्रह्मा और शिव के साहचर्य का अनेकशः उल्लेख है — 'जो अधःस्थित लोकपाल (ब्रह्मा-इन्द्र) को ऊर्ध्वस्थित (अग्नि-शिव) के साथ और ऊर्ध्वस्थित को अधःस्थित के साथ उपासना करते हैं;[2] × "नित्य (ऋषभाग्निशिव) अनित्य (ब्रह्माभरतेन्द्र) के साथ एक स्थान पर रहता है, अन्नमय शरीर प्राप्त कर वह (अग्नि) कभी अधोदेश और कभी ऊर्ध्वदेश में जाता है। वे सदा एक साथ रहते हैं। इस संसार में सर्वत्र एक साथ जाते हैं। संसार इनमें से एक (ब्रह्मा) को पहचान सकता है दूसरे[3] (शिव) को नहीं" (ऋ॰ १, १६४, ३८)। × "दो (भरतर्षभ←अश्विद्वय) एक स्त्री (सूर्या-काली) के साथ दो प्रवासी (परमधामवासी) पुरुषों की भाँति एक साथ रहते हैं और अश्व (आत्मा) द्वारा सञ्चरण करते हैं[4]।" ×

---

④ विभिर्द्वा चरत एकया सह प्र प्रवासेव वसतः (ऋ॰ १०, ६९, ८)

③ अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम्॥

② अवः परेण पितरं यो अस्यानुवेद परेनावरेण (ऋ॰ १, १६४, १८)

① ये त्वा देवोसिरकं मन्यमानाः पापा भद्रमुपजीवंति पज्राः।
न दूढ्ये अनु ददासि वामं बृहस्पते चयस इत्पियारुम्॥
(ऋ॰ १, १९०, ५०)

'परमाकाश देश से उत्पन्न हो कर अग्नि सबसे पहले वायु (ब्रह्मा) के पास प्रगटे[1]।' × 'इन्द्र! तुम्हारे साथी[2] सूर्य हैं।

अथर्ववेद के अनुसार — 'भव और शर्व! तुम दोनों ने मिल कर सृष्टि के आरम्भ में अनेक प्राणियों की (ज्ञानमयी) रचना[3] की थी।' नाट्यशास्त्र के प्रारम्भ[4] में भी ब्रह्मा के साथ शिव का आह्वान किया गया है। शैवमत पृ. १५० पर डा० यदुवंशी ने लिखा है कि ग्यारहवीं शती के सोमेश्वर देव प्रथम के बालगैन्वे शिलालेख में भी प्रारम्भ में जिन की स्तुति है फिर विष्णु की (दे. पृ. ३८ व ४३ के पाटि.) उन्होंने (पृ. १५५ शैवमत) लिखा है 'बारहवीं शती तक शिव की हरिहरमूर्ति प्रतिमाएं होती थीं जिनके एकार्ध में शिव और द्वितीयार्ध में विष्णु का चित्र चित्रित किया जाता था। (स्पष्ट है कि यह प्रतिमाएं भी ऋषभशिव और ब्रह्माभरत के साहचर्य को स्पष्ट करती थीं) बादामी के अन्दरा मन्दिर और अन्य स्थानों पर भी ऐसी मूर्तियाँ मिली हैं।'

रथी-सारथी :: भगवद्गीता में कृष्ण और अर्जुन को रथीसारथी-साधीसाधी के रूप में प्रदर्शित किया गया है जिसका वास्तविक अर्थ है कि हम आत्मा रूपी गोप-गोपियों को ज्ञानमुरली द्वारा आकर्षित करने वाले कृष्ण (कृष्ण = कृष + णिन् अर्थात् निराकार परमात्मा ऋषभशिव), ज्ञानयोगादि का उत्तम पुरुषार्थ कर के अपनी श्रेष्ठतम प्रारब्ध का अर्जन करने वाले-अर्जुन (ब्रह्माभरत) के शरीर रूपी रथ में प्रवेश कर सारथी बनते हैं। ~~इसी पुकार समूचे भारतीय वाङ्मय में शरीर को रथ, आत्मा को रथी~~

---

(4) देखिए पृ. ३८ पर पाटि. ४

(3) देखिए पृ. ११२ पर पाटि. १ क

(2) त्वामिन्द्र सजोषसमर्कं (ऋ. १०, १४३, ४)

(1) स जायमानः परमे व्योमन्नाविरग्निरभवन्मातरिश्वने।
(ऋ. १, १४३, २)

शरीररूपी रथ :- तात्पर्य है कि भारतीय वाङ्मय में शरीर को रथ, आत्मा को रथी (स्वामी) तथा पतित जीवात्मा के इन्द्रिय रूपी घोड़ों को वश मे रखने वाले या ठीक दिशा मे प्रेरित करने वाले को सारथी कहा गया है। ऋग्वेद मे कहा है — 'हे वनस्पति निर्मित रथ! तुम्हारे साथ अवयव दृढ़ हों।'[1] × 'हम लोग रथ की तरह अनुरक्त हो कर स्तवन करें'[2] (ऋ० ६,३५,२)। 'अग्नि! (ज्ञान) अमृत बरसाने वाले रथ को योजित करो'[3] (ऋ० १०,१२,६)। × 'अश्विद्वय! प्रातःकाल में रथ से मेरे लिए सुख ले आओ'[4] (ऋ० ८,२२,१५)। स्पष्ट है कि यहाँ 'अवयवी' 'अनुरागी' मुख से ज्ञानामृत तथा सुख बरसाने वाले शरीर का ही प्रतीकात्मक वर्णन है। कठोपनिषद् मे स्पष्ट ही कहा है — 'आत्मा को रथ का स्वामी समझो और शरीर को ही रथ समझो। ज्ञानीजन इन्द्रियों को घोड़े और विषयों को इनके विचरने का मार्ग बताते हैं'[5], इसका समर्थन महाभारत मे भी किया गया है।[6]

अब भरत के शरीर रूपी रथ में सारथी ऋषभशिव के उपस्थित होने के अनेक प्रमाण

---

(६) रथः शरीरं पुरुषस्य राजन्नात्मा नियन्तेन्द्रियाण्यस्य चाश्वाः।
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वैर्दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः॥ महाभा० स्त्री० (७,१३)

(५) आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् (कठ० १,३,३-४)

(४) आ सुग्म्याय सुग्म्यं प्रातो रथेनाश्विना वासयन्ती।

(३) अधी नो अग्ने सदने सधस्थे युक्ष्वा रथममृतस्य द्रवित्नुम्।

(२) रथो न मेध्वसे युजानो स्वाभिरिन्दो मनुषो भूत।

(१) वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया (ऋ० ६,४७,२६)

मिलते हैं। ऋग्वेद के अनुसार — 'इन्द्र और अग्नि एक रथ पर आरूढ़ होकर गमन करते हैं।' (ज्ञान) युद्ध में तुम्हारे रथ को जोने के लिए आहूत करते हैं।[1] × 'इन्द्र जिस रथ पर अधिष्ठान करते हैं उसका सञ्चालन[2] भी करते हैं।' (ऋ० ५,३१,१)। × 'अग्नि दोनों (आत्माओं) को रथ में जोतते हैं और देवों को और शीघ्रता से जोते हैं।[3]' × 'बृहस्पति चारों ओर से निन्दकों और अन्धकारों को दूर कर के तुम ज्योतिर्मान, यज्ञप्रापक और स्वर्गप्रदायक रथ में चढ़े हो' (२,२३,३ ऋ०)[4]। × 'अश्वि द्वय! जिस रथ द्वारा तुम सूर्य के पालयिता हुए थे, तुम दोनों का वह शीघ्रगामी रथ प्रसिद्ध है'[5] (८,४३,६ ऋ०) × 'क्रान्तिदर्शी अश्वि द्वय! यज्ञ के कारणभूत रथ के द्वारा हमारे सामने आओ। तुम्हारा तीन चक्रीय (त्रिपदीय) रथ गुप्त होकर पीछे प्रगट होता है।[6] × 'सत्य रूप अश्वि द्वय! प्राचीन निर्मित रथ पर आरूढ़ हो कर यज्ञ में आगमन करो' (ऋ० ८,५७,१)[7]। × 'अश्वि द्वय! तुम दोनों का जो सर्वत्रविहारी सुघटित रथ है उसका आह्वान करना यजमान का कर्तव्य है। हम उसी रथ का क्रमागत नाम लेते हैं। जैसे पिता का नाम लेने में आनन्द आता है

---

(७) युवं देवा क्रतुना पूर्व्येण युक्त रथेन तविषं यजत्रा।

(६) त्रीणि पदान्यश्विनोरवित: सन्ति गुहा पर:।
अतो धृतस्य पत्मभिर्वाघद्भ्यो विश्वज्जगत्परि॥ (ऋ० ८,६,२३)

(५) तद्वां वामजिरं चेति यानं येन पतो भवथं सूर्यायाः।

(४) आ विन्ध्या परिरापस्तमांसि च ज्योतिष्मन्तं रथमृतस्य तिष्ठसि।
बृहस्पते भीममभित्रदम्भनं रक्षोहणं गोत्रभिदं स्वर्विदम्॥

(३) स योजते अरुषा विश्वभोजसा स दुद्रवत्स्वाहुतः (ऋ० ७,१६,२)

(२) इन्द्रो रथाय प्रवतं कृणोति यमध्यस्थान्मघवा वाजयन्तम्।

(१) ता वामेषे रथानामिन्द्राग्नी हवामहे (ऋ० ५,८६,४)

वैसे ही उस रथ का नाम लेने मे भी आनन्द आता है[1]।' x
'अश्विद्वय ! तुम दोनों के पास एक ही रथ है जिसे[2]
अनेक बुलाते है, अनेक स्तुति करते हैं' (ऋ० १०, ८१, १)।
x 'मुद्गल (ऋषि) (सुदमानन्दं भक्षयति मुद्गल अर्थात् विष्णु)
के सारथी केशी (ऋषभशिव) जो शत्रुओं का विनाश करने
के लिए नियुक्त थे, उनकी वाणी निकली जिसके फल
स्वरूप जो ऋषि की गौएं (इन्द्रियां) जुते हुए रथ के साथ दौड़
रही थीं, वे निश्चल हो कर मौद्गलानी (स्वात्मवृत्ति) की
ओर लौट पड़ीं' (दे० पृ० १२, पाटि० १)।

सिन्धु का रथ !— ऋग्वेद के एक सूक्त में स्पष्ट
कहा गया है → 'यह सिन्धु नदी सुरथकर अश्व (आत्मा)
वाले रथ को जोतती है। इस रथ के द्वारा वह अन्न प्रदान
करे सिन्धु नदी के इस रथ की यज्ञ मे प्रशंसा की जाती
है। सिन्धु का रथ अहिंसित, कीर्तिकर और महान है[3]।'
ऋग्वेद ही नहीं, वेदोत्तरकालीन ग्रंथो
मे भी ऋषभशिव और भरतब्रह्मा का रथी-सारथी रूप में
अनेकशः स्पष्ट उल्लेख आया है। महाभारत के देवासुर
संग्रामवर्णन प्रसंग मे उल्लेख है— 'हे देव ( ) ! आप
ही इस जगत में भागते हुए उपनिषद् सहित वेद रूपी
अश्वों को नियंत्रण मे रख सकते हैं। अतः आप स्वयं
सारथी होवे --- इस प्रकार कह कर देवों ने ब्रह्मा को
सारथी पद के लिए प्रसन्न कर लिया -- देवों द्वारा शिव

---

③ सुरथं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनं तेन वाजं सनिषदस्मन्नाजौ।
महान्ह्यस्य महिमा पनस्यतेऽदब्धस्य स्वयशसो विरप्शिनः॥
(ऋ० १०, ७५, ६)

② समानमुत्यं पुरुहूतमुक्थ्यं रथं चित्रमं सवना गविष्टिमतम्।

① यो वां परिज्मा सुवृदश्विना रथो दोषामुषासो हव्यो हविष्मता।
शश्वत्तमाससस्तमु वामिदं वयं पितुर्न नाम सुरथं हवामहे (ऋ० १०, ३९, १)

के सारथी पद पर प्रतिष्ठित किए जाने पर जब उस लोक-पूजित रथ पर ब्रह्मा जी चढ़े तो वायु के समान वेगवान घोड़े (इन्द्रियाँ) धरती पर माथा टेक कर बैठ गए।'(१)

जिनसेनाचार्य ने भरत की दिग्विजय के प्रसंग में रथी-सारथी का उल्लेख इस प्रकार किया है- 'चक्रवर्ती का (शरीर रूपी) रथ (संसार) सागर में (इन्द्रियों रूपी) घोड़ों के द्वारा बड़े वेग से स्थल कोनों ले जा रहा था (१)। वे घोड़े बड़ी बड़ी (ज्ञान) लहरों से सींचे जाने पर भी श्रमहीन और दुःखरहित होकर रथ को लिए जा रहे थे --- पुण्य रूपी सारथी (ऋषभदेव) के द्वारा प्रेरित हुआ उनका मनोरथ भी सफलता को प्राप्त हुआ (२)। (महापु० अ० २८, पृ० ५५)। हेमाचार्य ने जैनागमगत शब्दों के आधार पर बड़ी ही चतुराई से रथ का रूपक प्रस्तुत करते हुए केवलज्ञानपुञ्ज स्वरूप ऋषभदेव का इसप्रकार

---

(२) स्यन्दनं यदमी वाहाः जले नित्यु: स्थलास्थया ॥१०७॥
-- महन्निरपि कल्लोलैः शीकरायमानास्तुरङ्गमाः।
रथं नित्युरनायासात् पुत्युतैषां स विभ्रमः॥ १०८॥
-- रथोऽस्याभिमतां भूमिं प्रापत्सारथिचोदितः।
मनोरथोऽपि संसिद्धिं पुण्यसारथिचोदितः॥ ११३॥

(१) (त्वं देव शक्तो लोकेऽस्मिन् नियन्तुं प्रद्रुतानिमान्।
वेदाश्वान् सोपनिषदः सारथिर्भव नः स्वयम्॥ ७२
-- इति ते शिरसा नत्वा त्रिलोकेशं पितामहम्।
देवाः प्रसादयामासुः सारथ्यामेति नः श्रुतम्॥ ७५)
-- सारथ्ये कल्पितो देवैरशनस्य महात्मनः।
तस्मिन्नारोहति क्षिप्रं स्यन्दने लोकपूजिते॥
शिशोभिरगमन्भूमिं ते हया वातंरहसः॥ ७७½
(महाभा० कर्ण ३८ अ; ७२ से ७७)

प्राकट्य दिखाया है → "(जब भरत(ब्रह्मा) और मरुदेवा (भारतमाता)के बीच उसके यशस्वी पुत्र के(कलियुगी) कष्टों के प्रसङ्ग मे बातचीत चल रही थी) उसी समय मन रूपी प्रतिहारी ने भरत(ब्रह्मा) से निवेदन किया कि हे महाराज! यमक और शमक नामक दो संदेशवाहक पुरुष (भरतब्रह्मा के मस्तिष्क में उत्पन्न दो विचारों का मानवीयकरण) आए हैं। इनमे से यमनियमादि योगमार्ग के सूचक यमक ने भरत को विशेष रूप से ज्ञात कराया कि इस संसार-अरण्य के बीच पाताल (अधोलोक-नर्क) है पुरी—निवासस्थान—जिसका उस 'पुरिमताल' नामक (पुरिम+ताल(पाताल)) नगर (कलियुगी भारत) में, शरीर रूपी रथ (ब्रह्मा के-) रथ के मुखभाग में(शकटानने) युगादिनाथ (ब्रह्माभरत) को केवलज्ञान ज्योति (ऋषभशिव) की उत्पत्ति हुई है। अतः इस कल्याण-वार्ता से आप के सौभाग्य की वृद्धि होगी।'[१] यहाँ परम्परागत स्थूल अर्थ लगाने पर अन्तिम वाक्यार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती क्यों कि एक व्यक्ति मे ज्ञानोत्पत्ति होने पर अन्य का भाग्योदय कैसे होगा?

इसके अतिरिक्त जैनग्रन्थों में ऋषभदेव और भरत के रथी-सारथी रूप में साथी होने (अर्थात् एक ही शरीर मे दो आत्माओं की उपस्थिति) होने के अन्य प्रमाण भी मिलते है। उदाहरणार्थ कर्तव्यसाम्य के आधार पर तीर्थंकर ऋषभदेव के समान भरत मुनि

---

(१) (दे. पृ. २८ पाटि. १) प्रणम्य यमकस्तत्र भरतेशं व्यजिज्ञपत्।
दिष्ट्याद्य वर्धसे देवाङ्गनया कल्याणवार्तया॥५१२
पुरे पुरिमतालाख्ये कानने शकटानने
युगादिनाथपादानामुत्पन्नं केवलम्॥५१३॥ त्रि. पर्व ३

ने भी केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद ग्राम-खान-नगर-अरण्य-गिरि-द्रोणमुखादि सभी स्थानों पर जाकर धर्मदेशना से भव्य प्राणियों (देवात्माओं) को प्रबोध देते हुए परिवार सहित पूर्वलक्ष पर्यन्त विहार किया। अन्त में उन्होंने भी अष्टापद पर्वत पर जा कर विधिपूर्वक चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान किया[1]। जहाँ ऋषभदेव द्वारा कुल ८३ लाख पूर्वलक्ष तक भोगविलास का उल्लेख है वहाँ भरत के द्वारा भी हजार वर्ष कम ६ लाख पूर्व तक चक्रवर्ती राज्य के भोग भोगने का वर्णन उपलब्ध होता है[2]। ऋषभदेव की भाँति भरत भी ८४ पूर्वलक्ष की सम्पूर्ण आयु व्यतीत कर के ही मोक्ष को प्राप्त बताए गए हैं[3]। किन्तु ऋषभ के ६ लक्षपूर्व के राज्यकाल में ही भरत की ७६ लक्षपूर्व आयु के कुमारकाल का उल्लेख तो सर्वथा त्रुटिपूर्ण है[4]।

---

(४) एवं च भरतः पूर्वलक्षाणां सप्तसप्ततिम्।
कुमारभावे गमयन् प्रभौ शासति मेदिनीम्॥ त्रि. ६, ७५१

(३) इत्यायुषा चतुरशीतिमतीत्य पूर्वलक्षाणि मोक्षम-
गमद् भरतो महात्मा॥ त्रि. ६, ७५५

(२) विवाहानंतरं ताभ्यां समं विलसतः प्रभोः (ऋषभ)।
(क) गतेषु किञ्चिदूनेषु पूर्वलक्षेषु षट्स्वपि॥ त्रि. २, ८८३
(ख) एकवर्षसहस्रोनपूर्वलक्षाणि षट् तथा।
आर्षभिर्व्यतिचक्राम चक्रवर्तित्वमुद्वहन्(त्रि. ६, ३५३)

(१) क॥ उत्पन्नकेवलज्ञान विश्वानुग्रहकाम्यया।
विजह्रे पूर्वलक्षं च विदधत् भानुभानिव॥ ७५४
ख॥ आरभ्य केवलोत्पत्तेः ऋषभस्वामिवत्ततः।
ग्रामाकरपुरारण्यगिरिद्रोणमुखादिषु॥ ७५७
धर्मदेशनया भव्यान् देहभाजः प्रबोधयन्।
पूर्वलक्षं विजहार भरतः सपरिच्छदः॥ ७५८
ग॥ अष्टापदगिरौ गत्वा ततश्च भरतेश्वरम्।
चक्रे चतुर्विधाहारप्रत्याख्यानं यथाविधिः॥ त्रि. ६, ७६६॥

अगम्यजन्मा के दिव्यजन्म का अपि चमत्कार नहीं :-

भारतीय परम्परा में भगवान का जन्म अतिगुह्य और अगम्य बताया गया है (दे. पृ. २०)। जिसका वास्तविक भेद वे स्वयं ही जानते हैं। इसीलिए कठोपनिषद् ने कहा है 'ब्रह्मा से उत्पन्न सृष्टि को जानने वाले स्तवनीय अग्नि[1] हैं।' स्पष्ट है कि स्वयं ब्रह्मा भी अन्य जन्मों में इस रहस्य को भूल जाते हैं फिर औरों का तो कहना ही क्या। तभी तो गीता में भी कहा है— 'मैं देवों का आदिकारण हूँ (अतः) देवता मेरे जन्म को नहीं जानते और न महर्षि ही जानते हैं[2]।' × 'मूर्ख मुझ अव्यक्त को व्यक्त भाव में आया हुआ समझते हैं क्योंकि वे मेरे अव्यय सर्वोत्तम भाव को नहीं जानते। अपनी योगमाया से ढका हुआ मैं सबके लिए प्रगट नहीं हूँ। यह मूढ़ लोक मेरे अजन्मा अव्यय रूप को नहीं जानता है[3]।'

एक ही शरीर में दो आत्मा (मैं) की सत्ता होने से यह स्वाभाविक ही है कि लोग साकार ब्रह्मा को पहचानें और निराकार को नहीं। यही कारण है कि वेदोत्तरकालीन परवर्ती ग्रन्थों में जहाँ वैदिक परम्परानुसार कृष्ण विष्णु नारायण आदिनामों से ~~देखा~~ उल्लिखित ब्रह्मा को परमात्मा समझने की भ्रान्ति पैदा हो गई वहाँ जैन परम्परा में अजन्मा ऋषभदेव को बहुजन्मा आदिनाथ भरत

---

(३) अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥ गीता अ.७

(२) न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः। अहमादिर्हि देवानां (गीता १०.२)

(१) ब्रह्मजज्ञं (ब्रह्मज+ज्ञं) देवमीड्यं (अग्निं) विदित्वा (कठ १,१,१७)

(जिन्हें अन्यान्य संस्कृतियों में 'आदिदेव', 'आदम', 'एडम' कहा है) के रूप में चित्रित करते हुए उनके अनेक भवों (पूर्वजन्मों) का उल्लेख कर दिया गया और इस प्रकार विश्व की सर्वप्रधान इन दो आत्माओं के मुख्य सर्वथा भिन्न मूलगुणों में अभेद की भ्रान्ति पैदा होने से कालक्रमानुसार भिन्न भिन्न भौगोलिक परिस्थितियों के बीच नाम रूप की माया से बद्ध मनुष्यों में अनेक मतमतान्तर सम्प्रदाय आदि की रचना होती गई।

यद्यपि निराकार ज्योतिर्बिन्दु सदाशिव का दिव्यजन्म स्थूल दृष्टि का विषय नहीं है फिर भी समय आने पर वह ज्ञानदृष्टि से अवश्य समझा जा सकता है। अतः जिनसेन ने लिखा है — 'मेघावृत किरणों वाला सूर्य यद्यपि दिखाई नहीं देता तथापि फूले हुए कमलों से उसका अस्तित्व सूचित होता है उसी तरह आप का प्रत्यक्ष रूप यद्यपि दिखाई नहीं देता तथापि आपके श्रेष्ठ वचनों से आपका अस्तित्व सूचित होता है। जिसप्रकार सघन अन्धकार में यद्यपि मयूर दिखाई नहीं देते तथापि अपने शब्दों द्वारा दूरसे ही पहचाने जा सकते हैं उसीप्रकार आप का आप्तपना यद्यपि प्रगट दिखाई नहीं देता तथापि आप अपने स्पष्ट और यथार्थ वचनों से आप्त कहलाने योग्य हैं।[१] यहाँ प्रभु को केवल वाणी द्वारा ही (ज्ञान-)गम्य बताया गया है जिससे सिद्ध होता है कि वह स्थूलरीति से जन्म ले कर बाजीगरों की भाँति लोगों को आकर्षित करने के

---

(१) रविः पयोधरोत्सङ्गसुप्तरश्मिर्विकासिभिः।
सूच्यतेऽब्जैर्यथा तद्वद् ध्रुवमेवंविधैर्भवान्॥१३८
यथान्धतमसे दूरात्तार्क्ष्यन्ते विसृतैः शिखैः।
तथा त्वमपि सुव्यक्तैः सूक्तैराप्तोक्तिमर्हसि॥महापु० ३३।३८

नैसर्गिकता के विरुद्ध चमत्कार-प्रदर्शन के नीच कृत्य नहीं करते। वह महान तो अपनी अनभिव्यक्ति अतिसाधारण रूप में करता है। अतः ग्रन्थों मे वर्णित दिव्यजन्म का अर्थ गर्भजन्मसम्बन्धी किसी चमत्कार प्रदर्शन से नहीं लेना चाहिए। ऐसा करना इस पवित्रतम व्यक्तित्व की महानता में बट्टा लगाना है क्योंकि उन्हें तो महापुराण मे स्पष्टतः अयोनिज, स्वयम्भु, आत्मभू, अनक्ष, (१) इन्द्रियरहित और निरञ्जन (कर्माञ्जनरहित) बताया गया है। जिनसेन ने ऋषभदेव के दिव्यजन्म की सूचना अनेक स्थलों पर दी है ——→ "हे देव! आप जगत् की सृष्टि करने वाले ब्रह्मा तथा स्वयंभू है। आप की उत्पत्ति मे हम लोग मातापिता हैं यह एक झूल (झूठ) ही है -- आप (भारत) माता के पवित्र गर्भगृह (मानसक्षेत्र) में (मुख) कमलरूपी दिव्य आसन पर अपनी उत्कृष्ट शक्ति स्थापन कर उत्पन्न हुए हैं (तुलनीय गीता ४, ६) अतः आप वास्तव में शरीररहित है (२)। हे नाथ! आप ने अपनी आत्मा में अपने ही द्वारा अपने आप को उत्पन्न किया है ('सम्भवाम्यात्ममायया' गीता ४, ६) इसलिए आप स्वयंभू कहलाते है (३)। ×"सुख से उत्पन्न होने के कारण आप शंभव कहलाते है (४)।" × "भगवान वृषभ (भारत) माता के उदर मे स्थित होकर भी उसे किसी प्रकार का कष्ट उत्पन्न नहीं करते थे। यद्यपि (भारत) माता मरुदेवी का कृश उदर (?) पहले के समान ही त्रिवलियों से सुशोभित बना रहा तथापि (ज्ञान) गर्भ वृद्धि को प्राप्त होता गया।

~~यह भगवान की तेजो का ही~~

(४) शंभवस्त्वं भवन्सुखे (महापु. २५, ७५)
(३) स्वयम्भुवे नमस्तुभ्यं उत्पाद्यात्मानमात्मनि (महापु. २५, ६६)
(२) देखिए पृ. ७८ का पाटि. १
(१) देखिए महापु. २५, ३३ से ३८

सो यह भगवान के तेज का ही प्रताप था। न तो माता के उदर में कोई विकार ही हुआ था, न उसके स्तन काले हुए थे और न उसका मुख ही सफेद हुआ था फिर भी गर्भ बढ़ता जाता था यह एक आश्चर्य की बात थी।[1] जैन परम्परागत जातिनिस्तारक आम्नायादि पीठिका मन्त्रों से भी ऋषभदेव के दिव्य जन्म की सूचना मिलती है। वहाँ उन्हें स्पष्टतः गर्भजन्म से रहित, सत्यरूप प्रशंसनीय व उत्कृष्ट जन्म धारण करता कहा गया है।[2] इसके अतिरिक्त जिनसेनाचार्य ने भरत (ब्रह्मा) के साकार माध्यम द्वारा ऋषभदेव के दिव्य जन्म की सूचना देने के लिए ही उनके द्वारा एक साथ ही प्रवर्तित होने वाले स्थापना, पालना व विनाश के तीन कार्यों का भी संकेत दिया है — 'राजर्षि भरत को एक ही साथ तीन समाचार मालूम हुए --- धर्माधिकारी (ऋषभशिव) से केवल ज्ञानोत्पत्ति (ज्ञान से धर्मस्थापना), शस्त्रपाल को (वैज्ञानिकों) से चक्रोत्पत्ति (महाविनाश) और अन्तःपुर के पुरुष (बुद्धिरूपी) कञ्चुकी से पुत्रोत्पत्ति (पालना) का समाचार मिला।'[3]

---

(३) -- धर्मस्थाद् गुरुकैवल्यं चक्रमायुधपालतः।
कञ्चुकीयात् सुतोत्पत्तिं विदामास तदा विभुः (महापु० २४, २-३)

(२) 'सत्यजाताय नमः, परमजाताय नमः, अनुपमजाताय नमः -- अगर्भवासाय नमः -- दिव्यजाताय स्वाहा, दिव्यार्च्यजाताय स्वाहा' (महापु० ४०, ११-१२ और ५६)

(१) स मातुरुदरस्थोऽपि नास्याः पीडामजीजनत्।
दर्पस्थोऽपि किं वह्निः देहं प्रतिबिम्बतः ॥६०
त्रिवलीभंगुरं तस्याः तदैवासीत्तनूदरम्।
तथापि ववृधे गर्भः तेजसः प्रभवं हि तत् ॥६१
नोदरे विकृतिः कापि स्तनौ न नीलचूचुकौ।
न पाण्डुवदनं तस्याः गर्भोऽप्यवृधदद्भुतम्॥ महापु० १२, ६२

हेमाचार्य ने भी ऋषभदेव के दिव्यजन्मगत संकेत इस प्रकार दिए हैं — 'यद्यपि (भारतमाता) मरुदेवा ने त्रिलोकी के असाधारण गर्भ को धारण कर रखा था तथापि उन्हें जरा भी कष्ट न होता था क्योंकि गर्भवासी अर्हन्त का प्रभाव ऐसा ही होता है[1]। 'x 'देवशैया में पैदा हुए देवता की तरह जरायु और रुधिर प्रभृति कलङ्क से वर्जित वे प्रभु सुशोभित हो रहे थे[2]। 'x 'अर्हंत माता के स्तनों का दूध नहीं पीते। इसलिए जब उनको भूख लगती है तब वे अपने (ज्ञान) रस को वृष्टि करने वाले अंगूठे को मुख में डालते हैं[3]। यहाँ मुख में अँगूठा डालने का अर्थ अबोध बालक की भाँति स्थूल अंगूठा चूसने से नहीं है अपितु भारतीय परम्परा में आत्मप्रदेश को ही अंगुष्ठाकार कहा गया है। अर्थात् आदिनाथ भरत (ब्रह्मा) के मुख कमल में अंगुष्ठाकार ऋषभशिव प्रवेश करते हैं और ज्ञान रस की वर्षा करते हैं।

जहाँ जिनसेनाचार्य ने योगियों के ध्यान के विषय अमूर्त ऋषभशिव के शरीर का आकार जीवप्रदेश[4] मात्र बताते हुए उसे स्पष्टतः छायारहित, उन्मेषनिमेषहीन, नखकेशादि की वृद्धि और रसरक्तादिरहित बताया है वहाँ हेमाचार्य ने भी उसे पसीना, रोग, मल आदि से रहित,

---

(४) देखिए पृ. १८ का पाटि. ३

(३) अर्हन्तोऽस्तन्यपा यस्मात्किंतु क्षुदुदये सति।
प्रक्षिपन्ति मुखेऽङ्गुष्ठं स्वमेवरसवर्षिणम् (त्रि. २, ६, २८)

(२) जरायुप्रभृतिकलङ्कपरिवर्जितः।
उपपादशय्योद्भूत इव देवो रराज सः॥ त्रि. २, २६७

(१) त्रैलोक्यमहासारं सा गर्भं धारयत्यपि।
नाऽरिवद्यत प्रभावोऽयमर्हतां गर्भवासिनाम्॥ त्रि. २, २५८

सुन्दराकार, स्वर्णकमल जैसा शोभायमान कहा है जिसमें दूध की धारा जैसा श्वेत और दुर्गन्धरहित रुधिर का संचार बताया गया है।[१] जैसे दैहिक दृष्टि से रुधिर ही शक्ति का स्रोत है वैसे ही यहाँ आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मिक ध्यान का प्रवाह ही आत्मिक शक्ति के स्रोत→ रुधिर रूप में बताया गया है जो सत्त्व गुण का धारक होने से शुक्ल (श्वेत) ध्यान कहा जाता है। सभी मनुष्यात्माओं में श्रेष्ठतम तीर्थंकर ऋषभशिव में सदा शुक्ल ध्यान ही उपस्थित रहता है, अतः उनको ~~का~~ उत्कृष्टतम शक्ति का स्रोत— ध्यान रूपी रुधिर श्वेत बताया गया है; वरना कारण कार्य की साम्यावस्था के अटल सिद्धान्त का उच्छेदन होने से किसी कलङ्कित गर्भजन्मा बालक का रुधिर श्वेत कैसे माना जा सकता है!

ऋषभदेव के इस दिव्य जन्म को ही सूचित करने के लिए उन्हें भारतीय परम्परा में श्रीव्रजन्मा, जन्मज्ञानी और जन्म के साथ ही दैवादिक (भव्यजीवों) द्वारा महत्त्वलाभ करने वाला दिखाया गया है। ऋग्वेद के अनुसार → "अग्नि! तुमने जन्म के साथ ही महत्त्वलाभ किया अतः जन्म के साथ ही देवता लोग तुम्हें देखने के लिए गए" (देखिए पृ. ५६ पाटि. ६)। ऋग्वेद में उन्हें अनेक स्थलों पर जातवेदस् (जन्मज्ञानी) भी बताया है। जिनसेन के अनुसार भी— हे अच्युत! स्वर्गावतरण के समय आप 'सद्योजात' श्रुति

---

(१)(क) अच्छायत्त्वमनुन्मेषनिमेषत्वञ्च ते वपुः।---
--नखकेशमितावस्था तवाविष्कुरुते विभो॥
रसादिविलयं देहे विशुद्ध स्फटिकामले॥महापु० ३८ ६४-६८
(ख) देहो युगादिनाथस्य स्वेदामयमलोज्झितः। ६६०
सुगन्धिसुन्दराकारस्तपनीयारविन्दवत्॥
गोक्षीरधारा धवले अविस्रे मांसशोणिते॥ त्रि. २, ६६१

को धारण कर रहे थे।[1] × 'आप के जन्मकाल में रत्नवर्षा हुई थी ~~तथा~~ इससे आप वृषभ तथा मेरु पर्वत पर जन्माभिषेक होने से आप ऋषभ हैं।'[2] यहाँ 'रत्न' और 'स्नान' दोनों ही क्रमशः बहुमूल्यता तथा शुद्धिकरण के कारण ज्ञान के प्रतीक हैं जिससे प्रमुखतः पर्वत पर ही ऋषभदेव के दिव्यजन्म को अथवा देशना देने की सूचना मिलती है। ऋषभ का अर्थ ही है (ऋक्ष + भ) पर्वत पर उत्पन्न। हेमाचार्य के अनुसार→ 'लग्न काल में जिस तरह सब बाजे एक साथ बज उठते हैं उसी तरह (प्रभु के जन्मकाल में) स्वर्ग में देवताओं की शाश्वत (ज्ञान) घण्टाएँ बड़े जोरों से बज उठीं।'[3] अब यहां विचारने की बात है कि जन्म यहाँ हो और घण्टियाँ किसी ऊर्ध्वलोक में बजने की बात कैसे मानी जावेगी? वस्तुतः यह शाश्वत घण्टियाँ ऋषभदेव द्वारा प्राप्त हुए उस शाश्वत ज्ञान की परिचायक हैं जिससे तत्कालीन भव्य जीवों को कलियुग के अन्त में यह ज्ञान मिलता है कि वे भी स्वयं ही सतयुगी पावन दैवी देवता हैं (~~तत्त्वमसि~~) ('सोऽहम्'), तू वह (सतयुगी देव) है—(तत्त्वमसि) आदि। वेदान्तियों ने इन ज्ञान के शाश्वत महावाक्यों का ईश्वर स्वयं ही परमात्मा होने के अर्थ में उल्टा ही अर्थ लगा लिया है।

<u>दिव्यजन्मा ब्रह्मा से ही ब्राह्मणोत्पत्ति</u>:— जिसने स्वयं दिव्य जन्म किया हो वही दिव्य जन्म दे सकता है, अन्यथा जो स्वयं अज्ञानी है उससे ज्ञान द्वारा दिव्य जन्म देने की कोई

---

(३) तदा <u>शाश्वतघण्टानां</u> स्वर्गेषु युगपद् ध्वनिः।
बभूव लग्नवेलायां मोदानामिवोच्चकैः॥ त्रि० २, ३१८

(२) वृषभोऽसि सुरैर्वृष्टरत्नवर्षः स्वजन्मनि।
जन्माभिषिक्ततये मेरुमूर्ध्नि वान्वृषभोऽभवीत् (महापु० २५, ७०)

(१) सद्योजात श्रुतिं बिभ्रत् स्वर्गावतरणेऽच्युतः॥ महापु० १४, ३६

अधिकार नहीं। यदि भरत (ब्रह्मा) ने स्वयं ही दिव्यजन्मा ऋषभदेव से दिव्य जन्म न धारण किया होता तो उनके द्वारा ब्राह्मणों की उत्पत्ति कैसे हो सकती थी, क्यों कि दिव्यजन्मा ब्राह्मणों की उत्पत्ति के बारे में जिनसेनाचार्य ने वैदिक परम्परा के अनुसार ही स्पष्ट लिखा है — "हे अपने को द्विज मानने वाले, तू मेरा दिव्य जन्म सुन। श्री जिनेन्द्रदेव ही मेरा पिता है और ज्ञान ही अत्यन्त निर्मल गर्भ है --- हम (ब्राह्मण) लोग बिना योनि से उत्पन्न हुए हैं इसलिए देव ही हैं मनुष्य नहीं हैं, हमारे समान जो और भी हैं उन्हें तू देवब्राह्मण कह। हम लोग स्वयंभू (ब्रह्मा) के मुख से उत्पन्न हुए हैं इसलिए देवब्राह्मण हैं --- जीवों का जन्म दो प्रकार का होता है, एक तो शरीर का जन्म, दूसरा संस्कार-जन्म -- संस्कार योग से जिसे पुनः आत्मलाभ प्राप्त हुआ है ऐसे पुरुष को जो द्विजपने की प्राप्ति होना है वह संस्कार जन्म कहलाता है -- जो ब्रह्मा की सन्तान हैं उन्हें ब्राह्मण कहते हैं।"(१)

श्वेताम्बर जैन ग्रन्थों में ब्राह्मणों का दिव्य जन्म भरत (ब्रह्मा) के द्वारा दिखाया गया है, ऋषभ द्वारा नहीं। इसका मूल कारण यही है कि ब्रह्मा सुरत के माध्यम से ही ब्राह्मणों का दिव्य जन्म सम्भव होता है, तभी तो वैदिक

---

(१) श्रूयतां भो द्विजम्मन्य त्वयाऽस्मीदृग्यसम्भवः।
जिनो जनयिताऽस्माकं ज्ञानं गर्भोऽतिनिर्मलः॥११४
-- अयोनिसम्भवास्तेन देवा एव न मानुषाः।
वयं वयमिवाऽन्येऽपि सन्ति चेद् ब्रूहि तद्विदान्॥११६
-- स्वायम्भुवान्मुखाज्जाताः ततो देवद्विजाः वयम्॥११७
-- शरीरजन्मसंस्कारजन्म चेति द्विधा मतम्॥११६
-- तथा लब्धात्मलाभस्य पुनः संस्कारयोगतः।
द्विजन्मतापरिप्राप्तिर्जन्म संस्कारजं स्मृतम्॥१२१
-- ब्रह्मणोऽपत्यमित्येवं ब्राह्मणाः सूनृदाहृताः॥१२८
(महापु- अ. ३६)

परम्परा मे भी ब्रह्मामुखवंशावली ब्राह्मण आज भी प्रसिद्ध हैं। विश्वपूज्य ऋषभशिव को तो सभी आत्माएं सन्तान हैं जिनमे क्षत्रिय से लेकर शूद्रों वा म्लेच्छों का भी समावेश है। वैदिक और जैन परम्परा में ब्रह्मा (भरत) के हजारों सैकड़ों पुत्र-पौत्रादि सन्तति का उल्लेख इसी दिव्यजन्म गत मानसी सृष्टि का सूचक है क्यों कि अथर्ववेद मे तो स्पष्ट उल्लेख है— 'प्राचीन काल में मानसिक वीर्यधा'(१) अर्थात् सृष्टि के आदिकाल मे आत्मिक ज्ञान द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति हुई थी जिन्हें ब्रह्मामुखवंशावली ब्राह्मण कहा जाता था। दूसरे शब्दो में न तो आज की वैदिक मान्यतानुसार ब्रह्मा के मुख से (मशीन की भाँति) ब्राह्मण निकल पड़े थे और न ही वर्तमान जैन मान्यतानुसार हमारे पूज्य पूर्वज भरत (जिन्हें वैदिक ग्रन्थों मे अनासक्त जड़भरत भी कहा गया है) ने कलियुगी पतित राजाओं का भी अतिक्रमण करते हुए महाविकारी बनकर सैकड़ों की संख्या में पुत्र ही उत्पन्न किए थे क्यों कि हेमचन्द्राचार्य ने स्पष्टतः भरत को योगी की भाँति ६ निधियों(२) का अदीनकर्ता और सर्वथा विकाररहित बताया है। एक अन्य स्थल पर भी कहा है— 'योगी जिसतरह योग में काल निर्गमन करता है उसी तरह राजा भरत ने भवरस पूर्ण नाटकों(३) और मनोहर संगीत में कितना ही समय बिताया।' भागवत् मे भी ऋषभदेव को योगेश्वर और उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत को तो निश्चय पूर्वक महायोगी कहा है।(४)

---

(४) येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठ श्रेष्ठगुणआसीत् (भाग. ५,४,६)

(३) तैर्नाटकैर्नवरसै: संगीतैश्च मनोरमै:।
निनाय कालं कियमपि योगैर्योगीव भूपति:॥ त्रि. ८,६,६८

(२) वशं यातेषु निधिषु नृपो -- तेषां निर्विकारश्चकार च (त्रि. ५/२५)

(१) मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् (अथर्व १९,५२,१)

भारतीय ग्रन्थों में वर्णित सैकड़ों - हजारों की संख्या में सन्तानोत्पत्ति का उल्लेख प्राचीनकालीन दिव्य-जन्मा ब्राह्मणकुल की बहुल मानसी सृष्टि का ही परिचायक है। जैसे महाभारत में श्रेष्ठाचारी पांडव पांच कहे गए हैं जो उँगलियों पर गिने जासकें अर्थात् बहुत थोड़े; परन्तु कौरवों (जो कौओं की भाँति कौं कौं का रव अर्थात् शोरगुल वृथा करने वाले भ्रष्टाचारी 'कांग्रेस' के सूचक हैं) की संख्या १०० बताई गई है जो बहुलता की सूचक है। यह एक सोचने की बात है कि एक व्यक्ति दैहिक मैथुन द्वारा बिच्छूटिड्डन की भाँति सैकड़ों की संख्या में सन्तानोत्पत्ति कैसे कर सकता है। आज के कलियुगी भारत में भी सन्तानाधिक्य नीच मनोवृत्ति तथा विकारी और लड़ाकूप्रवृत्ति का सूचक माना जाता है और अधिक मानी जाने वाली १०-१२ की संख्या में सीमित सन्तान होने पर भी जनसंख्या का यह हाल है तो पूर्वकालीन सहस्रों की संख्या में सन्तानोत्पन्न करने वाले 'यथा राजा तथा प्रजा' का तो कहना ही क्या; जब कि इतिहास इस बात का साक्षी है कि जनसंख्या और पृथ्वी का परिमाण तो उत्तरोत्तर पूर्वकाल में कम होता फिर सैकड़ों-सहस्रों की संख्या में वीर्योत्पादित सृष्टि कैसे स्वीकार की जा सकती है?

ज्ञातृकुल :— उपरिवर्णित मानसी सृष्टि वाले ब्रह्मा मुखवंशावली ब्राह्मणकुल को ही बौद्ध साहित्य में 'ज्ञातृ-कुल' (नातकुल) कहा गया है क्यों कि ये ब्राह्मण ही सृष्टि के आदिमध्य अन्त के ज्ञाता थे जो ऋषभदेव के ब्रह्ममुखी सन्तान कहे जाते थे। इस प्रकार बौद्ध साहित्य में ज्ञान के सागर परमपिता परमात्मा ऋषभशिव के ज्येष्ठपुत्र आदिनाथ ब्रह्मा (भरत) को ही ज्ञातृपुत्र (नातपुत्त)

कहा गया है जिससे सिद्ध होता है कि आदिनाथ ब्रह्मा (भरत) ही बौद्ध साहित्य में महावीर (*) कहे गए हैं। उन्हें वैदिक परम्परा भी 'महावीर' (हनूमान या पवनपुत्र) आदि नामों से पुकारती है जिनकी सहायता से निराकार राम (रम्यते योगिनो यस्मिन्) ने मायारूपी रावण (शैतान) पर विजय प्राप्त की थी न कि किसी दश शीश वाले मनुष्य पर। बौद्ध साहित्य में वृषभ को स्पष्टतः 'प्रवर वीर' अर्थात् महावीर कहा गया है और उन्हें ब्राह्मण माना गया है → 'उसभं पवरं वीरं --- तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं'। (धम्मपद ४२२, ब्राह्मणवग्गो)।

परकाय प्रवेश के कुछ अन्य प्रमुख प्रमाण :—

बहुमुखो ब्रह्मा :— ऋग्वेद के अनुसार '(स्थापना-पालना-विनाश के तीन कार्यों में) तीन प्रकार से बँधे हुए वृषभ ने (ब्रह्मा ने) घोषणा की कि महादेव मनुष्यों में प्रवेश कर गया (१)'। 'यहाँ मर्त्या' बहुवचन का प्रयोग होने से सिद्ध होता है कि ऋषभशिव प्रमुखतः ब्रह्मा भरत के मुख द्वारा ज्ञान देने के बाद आवश्यकता पड़ने पर अन्य मनुष्यों में भी प्रवेश करते हैं। यही कारण है कि वैदिक और जैन परम्परा में आदिनाथ ब्रह्मा को अनेकशः बहुमुखो अर्थात् 'चतुरानन (२)', 'पञ्चानन' अथवा 'सहस्रमुखो' आदि रूपों में प्रस्तुत किया गया है। इसीलिए ऋग्वेद में कहा है — 'धनी इन्द्र! तुम्हारे चार असुरघातक और अहिंसनीय शरीर हैं। उन्हीं शरीरों से तुम अपने बैड

---

(२) देखिए पृ. ३१

(१) त्रिधा बद्धो वृषभो रौरवीति महादेवो मर्त्या आविवेश' (ऋ. ४,४२,३)

(*) इतिहासकारों ने महावीर को महात्मा बुद्ध का समकालीन बताया है जो सर्वथा त्रुटिपूर्ण है क्यों कि समूचे बौद्ध साहित्य में महावीर का कहीं भी नामोल्लेख नहीं हुआ है। (स्पष्ट)

कार्यों को करते हैं।(१) ऋग्वेद १०,५,७ में कहा है—'अग्नि वृषभ भी हैं और गाय भी, वे स्त्री-पुरुष दोनों हैं।(२) अर्थात् वृषभशिव स्त्री-पुरुष दोनों में ही प्रवेश कर के प्रत्यक्ष होते हैं, तभी तो शिव मन्दिरों में वृषभ के साथ गौमुख दिखाया जाता है और शिव को अर्धनारीश्वर स्वरूप में भी चित्रित किया जाता है। इसीप्रकार बहुरूपी शिव का उल्लेख करते हुए श्वेताश्वतरोपनिषद् और अथर्ववेद में कहा गया है—'तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू ही कुमार है, कुमारी है, तू बूढ़ा होकर लाठी के सहारे (श्रीमत् रूपी दण्ड) चलता है।(३)' वेदोत्तरकाल में इसका अर्थ सर्वव्यापी से लगा लिया गया। सातवलेकर गीता पृ० २६६ पर किसी श्रुति (वा० य० ३१,१६) का प्रमाण देते हुए लिखा है—'यह अजन्मी न जन्मने वाली है तथापि अनेक प्रकार से उत्पन्न होता है। धीर लोग उसके मूल स्थान को देखते हैं।'

पञ्चानन ब्रह्मा के प्रमुख पाँच रूपों का उल्लेख त्रिषष्टि में कई बार इस प्रकार आया है—'इन्दु (ब्रह्मा) ने पहले की तरह अपने पाँच रूप बनाए उनमें से एक अनुपमादी रूप से उसने ईशानेन्दु की गोदी से जगत्पति को रहस्य की तरह धारण कर लिया।(४)'

---

(४) विचक्रे पञ्चधाऽऽत्मानं पूर्ववत्_पूर्वदिक्पतिः।
ईशानोत्संगतः शक्रः एकस्तत्राप्रमद्वरः॥
रहस्यमिव जग्राह हृदयेन जगत्पतिम्॥(त्रि० २, ६१०-११)

(३) त्वं स्त्री त्वं पुमानसि कुमार त्वं उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि--(अथर्व १०,८,२७; श्वेता० ४,३)

(२) अग्निर्ह न प्रथमजा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषभश्च धेनुः।

(१) चत्वारि ते असुरयाणि नामाविष्याणि महिषस्य सन्ति।
त्वमङ्ग तानि विश्वानि वित्से येभिः कर्माणि मघवन्चकर्थ॥
(ऋ० १०,५४,४)

शिवपदी ब्रह्मा :— अथर्ववेद के अनड्वान् वृषभ सूक्त में परकायप्रवेश का उल्लेख इस प्रकार आया है 'यह अनड्वान् इन्द्राग्नि अग्निरूप प्रजापति ब्रह्मा के समान हैं। यह तीनों ही वैश्वानरादि (ब्रह्मा-विष्णु-शंकर) में तादात्म्य रूप से प्रविष्ट हो गए। अखिल विश्व के हितैषी वैश्वानर अग्नि (विष्णु) में ब्रह्मा प्रविष्ट हो गए और पूर्वोक्त वृषभ में विराट तादात्म्य रूप से प्रवेश कर गए अतः यह वृषभ (ब्रह्मा), विराट के समान है[1]।' इस प्रकार यहाँ सिद्ध होता है कि ब्रह्मा (भरत) अपना पुरुषार्थ पूर्ण होने पर स्थूल शरीर को त्याग कर कुछ काल के लिए (अर्थात् नई सृष्टि की स्थापना का कार्य पूरा होने तक के लिए) शिव पद प्राप्त करते हैं। जैन परम्परा में उनकी इस अव्यक्त अवस्था को 'छद्मस्थ वेष' (अर्थात् गुप्त) कहा गया है। ब्रह्मा द्वारा शिवपद प्राप्त करने के कारण ही अथर्ववेद के व्रात्य सूक्त में ~~परकाय प्रवेश का उल्लेख किया है~~ परकायप्रवेश का उल्लेख करते हुए स्पष्ट कहा गया है — 'प्रजापति व्रात्य (ब्रह्मा भरत) ने अपने (शिव) में सुवर्ण को देखा। तब सबको उत्पन्न किया -- वह ज्येष्ठ ब्रह्मा हुआ। वह प्रजापति वृद्धि को प्राप्त हुआ। वही महान और महादेव हुआ। वही देवों का देव ईशान हुआ। वह समूहों (मरुद्गणों या देवगण) का स्वामी व्रात्य हुआ।[2]'

---

② देखिए अग्रिम पृ० पाद० १

① इन्द्रो रूपेणाग्निर्वहेन प्रजापतिः परमेष्ठी विराट्।
विश्वानरे अक्रमान्नुह्यक्रमत।
सोऽद्दृंहयत सोऽधारयत॥ (अथर्व ४,३,११,७-८)
मध्यमेतदनुडुहो यत्रैष वह आहितः।
एतावदस्य प्राचीनं यावान् प्रत्यङ् समाहितः॥

सायणाचार्य ने व्रात्य की व्याख्या इस प्रकार की है — 'जो विद्वानों में उत्तम, महाधिकारी पुण्यशील, विश्वपूज्य है और जिससे कर्मकाण्डी ब्राह्मण विद्वेष करते हैं'[२],

जैन परम्परा में आदिनाथ ब्रह्मा को शिवगति प्राप्त होने का वर्णन पहले ही (दे. पृ. ४१) किया जा चुका है। इस प्रकार जब आदिनाथ ब्रह्मा भरत ऋषभशिव की तरह स्वयं भी निराकारी अवस्था वाले हो जाते हैं तब सम्पूर्ण योगी ब्रह्मा और ~~सदा~~ सर्वदा सम्पूर्ण सदाशिव में दोनों ही समान स्वरूप और अवस्था वाले हो जाते हैं अर्थात् उन दोनों में कुछ काल के लिए अभेद स्थापित हो जाता है। यही कारण है ग्रन्थों में अनेकशः इनकी उपाधियों का साम्यादि इनके अलग-अलग व्यक्तित्व को समझने में भ्रान्ति ~~सदा~~ उत्पन्न करता रहा है।

भगवद्गीता में परकायप्रवेश का उल्लेख करते हुए कहा गया है — 'मेरा जन्म[३] और कर्म दिव्य है।' × 'यद्यपि मैं अजन्मा हूँ, मेरा स्वरूप अव्यय है और मैं सब प्राणियों का ईश्वर हूँ फिर भी मैं अपनी प्रकृति का आश्रय लेकर अपनी मायाशक्ति से जन्म धारण करता हूँ'[१]। 'मूर्ख लोग मनुष्य तन का आश्रय लेने

---

(३) जन्म-कर्म च मे दिव्यं यो मे वेत्ति तत्त्वतः (गीता ४, ९)

(२) लक्ष्मिद्विद्वत्तमं महाधिकारं पुण्यशीलं विश्वसंमान्यं कर्मपरैर्ब्राह्मणैर्विद्विष्टं व्रात्यमनुलक्ष्य वचनमिति मंतव्यम् (ह. ग्रंथ पृ. ६१८)

(१) स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यत् तत् प्राजनयत्।
--तज्ज्येष्ठमभवत्। तद्ब्रह्माऽभवत्--सोऽवर्धत् स महानभवत् स महादेवोऽभवत्। स देवानामीशां पर्येत् स ईशानोऽभवत् स एक व्रात्योऽभवत्--। (अथर्व १५, १, १, २ से ६)

वाले मुझ परमेश्वर को अवहेलना करते हैं, वे भूतों के अधिपति मेरे स्वरूप को नहीं जानते।' इसी प्रकार लिङ्ग पुराण में भी महेश्वर द्वारा प्रकृति (नारीरूप) और पुरुष में प्रवेश करने का स्पष्ट उल्लेख आया है।

जिनसेनाचार्य ने परकाय प्रवेश का संकेत इस प्रकार दिया है — 'सोलहवें स्वप्न (साक्षात्कार) में उस (मरुदेवा भारतमाताओं) ने जलती हुई प्रकाशमान निर्धूम अग्नि (ज्योतिर्लिङ्गम) देखी। वह अग्नि ऐसी मालूम होती थी मानो होने वाले पुत्र का मूर्तिधारी प्रताप हो। इस तरह १६ स्वप्न देखने के बाद उसने देखा कि स्वर्ण के समान पीली कान्ति का धारक और ऊँचे कन्धे वाला एक ऊँचा बैल (ब्रह्मा) मरुदेवी के मुखकमल में प्रवेश कर रहा है।' इसी प्रकार हेमाचार्य ने लिखा है — 'त्रिलोकी के उच्च तेजस्वी पदार्थों

---

(३) उज्ज्वलद्भासुरनिर्धूमवपुषं विषमार्चिषम्।
प्रतापमिव पुत्रस्य मूर्तिरूपं निचायत॥
न्यशामयच्च तुङ्गांसं पुङ्गवं रुक्मसच्छविम्।
प्रविशन्तं स्ववक्त्राब्जं स्वप्नान्ते वृषभध्वरम्॥
(महापु० १२, ११६-२०)

(४) परमात्मा का ब्रह्मा तन में दिव्य अवतरण होने पर भारतीय कन्याओं माताओं को विविध प्रकार के दिव्य साक्षात्कार होते हैं जिन्हें जैन ग्रन्थों में स्वप्न कहा गया है। (दे० प्रकरण ७)

(२) महेश्वरात्त्रयो देवा जज्ञिरे जगदीश्वरात्
प्रधानं पुरुषं चैव प्रविश्य स महेश्वरः। (लिङ्ग भाग १ पृ० ५५८)

(१) (क) देखिए पृ० २० पर पाटि० २

(ख) अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
(गीता ४, ६)

के पिण्डीभूत हुए तेज के समान प्रकाशमान निर्धूम अग्नि (ज्योतिर्लिंगम् शिव) को मुख मे घुसते हुए देखा।[१] आचार्य हेमचन्द्र ने परकाय प्रवेश के समय होने वाली शरीरकम्प आदि — स्वाभाविक रूप से होने वाली ब्रह्मा की शारीरिक चेष्टाओं (विकृतियों) का वर्णन बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है — "उस समय (स्वधर्मा) इन्द्र (ब्रह्मा) के नेत्र काँपने के आटोप से लाल हो गए। ललाटपट्ट पर भृकुटी चढ़ाने से उनका चेहरा विकराल हो गया। भीतरी क्रोधरूपी अग्नि की शिखा की तरह उनके होठ फड़कने लगे। --- इन्द्र को कुपित केशरी सिंह की तरह देखकर मानो मूर्तिमान हो ऐसे (बुद्धि रूपी) सेनापति ने आकर कहा 'स्वामिन् मुझ जैसे सिपाही के होते हुए आप स्वयं आवेश में क्यों आते हैं। आज्ञा कीजिए मैं आप के किस शत्रु का मानमर्दन करूँ। उसी क्षण अपने मन का समाधान कर इन्द्र ने अवधिज्ञान से देखा तो उसे मालूम हुआ कि ऋषभदेव का जन्म हुआ है।[२]

---

(२) ततश्च सौधर्मपतिः कोपाटोपारुणेक्षणः।
ललाटपट्टघटितभ्रुकुटीविकटाननः॥३२०
अधरं स्फोरयन्नन्तः क्रोधवन्हेः शिखामिव।
उच्छ्वसन्नधिष्ठानैकेन स्थिरीकर्तुमिवासनम्॥३२१
-- एवं पुरन्दरं प्रेक्ष्य क्रुद्धकेशरिसोदरम्।
मूर्तो मान इवानीकपतिर्नत्वा व्यजिज्ञपत्॥३२३
किमावेशः स्वयं स्वामिन् पदातौ मयि सत्यपि।
समादिश जगन्नाथ कं मदनामि तव द्विषम्॥३२४
ततो मनः समाधानमाधाय विबुधाधिपः। [त्रि०२,]
प्रयुयुजेऽवधिज्ञानमासीज्जिन्मादिमं जिनप्रभोः॥३२५]

(१) तेजस्विनां पदार्थानां त्रैलोक्योदरवर्तिनाम्।
संपिण्डितं तेज इव निर्धूमोऽग्निर्मुखेऽविशत्॥
(त्रि० २, २२६)

पतित अर्थात् विकारी मानवीय शरीर में प्रवेश !—

पतित पावन ऋषभशिव का परकाय प्रवेश कलियुगी महापतित मानवीय शरीर मे ही होता है अर्थात पावन देवताओ मे नहीं। इसीलिए परमपिता परमात्मा को अजामिल जैसे पापियों का भी उद्धारकर्ता कहा गया है। ऋग्वेद मे कहा है → 'जो हम सबका पिता ज्ञानी सर्वज्ञ परमात्मा है उसने इन सब भुवनों का समर्पण किया और (बच्चों के लिए) स्वर्ग धन की इच्छा करने वाला वह प्रथम स्थान (परमधाम) के योग्य होता हुआ भी कनिष्ठों (नीच व्यक्तियों) में प्रवेश कर गया' (ऋ॰ १०,८१,१) × 'अग्नि स्वयं अमर हैं किन्तु मर्त्यधर्मा मनुष्यों में रहते हैं' × 'मरणशील मनुष्यों में अमर स्वभाव अग्नि की महिमा को मैं देखता हूँ'

ब्रह्मा मनुष्य था; देवता नहीं !—

छान्दोग्य उपनिषद् में ब्रह्मा को स्पष्टतः मनुष्य कहा है। आधुनिक भारतीय परम्परा में ब्रह्मा और वैदिक परम्परा में इन्द्र की दाढ़ी मूँछ का उल्लेख (दे॰ पृ॰ ६२, पाटि॰ ३-४) पहले ही कर चुके हैं जिससे सिद्ध होता है कि निर्विकारी देवी देवताओं की दाढ़ी मूँछ न होने के कारण ब्रह्मा कोई पावन देवता नहीं थे, अपितु कलियुगी पतित (विकारी) मनुष्य ही थे।

---

④ 'मानवो ब्रह्मा' (छान्दोग्य ४,१७,१०; उपनिषद्वाक्यकोश)
③ उपश्यमस्य महतो महित्वममर्त्यस्य मर्त्यासु विक्षु (ऋ॰ १०,६६,१)
② सुमेधा मर्त्येष्वग्निरमृतो निधारा (ऋ॰ १०,४५,७)
① य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आविवेश ॥
⊗ वैदिक मान्यता है कि अभोक्ता शिव स्वर्गादिक भुवनों में नहीं जाते।

जिसने ऋषभशिव के सत्य ज्ञान द्वारा पूर्व पतित संस्कारों से मर कर ब्रह्मा नाम से ब्राह्मण का दिव्य (मरजीवा) जन्म पाया था। इसी लिए मैत्री उपनिषद् में (वेदोल्लिखित मरुतों की भाँति) भरत (ब्रह्मा) प्रभृति को 'मरुत्त'[1] कहा गया है जिसका अर्थ है 'है जीते जी अपने पूर्व पतित संस्कारों से मृत। गीता वर्णित नर से नारायण बनने वाला अर्जुन भी शरीर रूपी रथ का धारणकर्ता पतित (विकारी) मनुष्य ही बताया गया है, देवता नहीं; तभी तो उसे कामविकार रूपी महाशत्रु का हनन करने का उपदेश दिया गया है।

इसके अतिरिक्त १० वीं ११ वी सदी की जावा के सिंगापुरी के[2] स्थान पर 'चण्डी जागो' मन्दिर में शिव की एक भैरव मूर्ति पाई गई है जिसमें शिव को कुत्ते पर सवार दिखाया गया है। डा० यदुवंशी का कहना है कि कभी-कभी शिव के साथ एक कुत्ता भी होता है, जिससे सिद्ध होता है कि ऋषभशिव का परकाय प्रवेश कामी कुत्ते जैसे पतित मानवीय शरीर में होता है।

वृद्ध ब्रह्मा :— ऋग्वेदोल्लिखित इन्द्र (ब्रह्मा) के वृद्ध अवस्था में जन्म लेने के उल्लेख से भी परकाया प्रवेश की बात पक्की हो जाती है →

'सकृत प्रसूता गौ जैसे वत्स प्रसव करती है उसी तरह इन्द्र की माता (भारतमाता अदिति) अपनी इच्छा से संचरण करने के लिए अवस्था में वृद्ध इन्द्र को पैदा करती है।'[3]

---

③ गृष्टिः ससूव स्थविरं तवागमनादृष्यं वृषभं तुम्रमिन्द्रम्।
अरीलहं वत्सं चरथाय माता स्वं मातु तन्व इच्छमानम्॥
(ऋ० ५, १८, १०)

④ वेरियर पृ० ७५

② शैवमत पृ० १८३ से उद्धृत

① 'मरुत्तभरतप्रभृतयः' (मैत्री उप० १, ४ ; उपनिषद्वाक्यकोश)

चूंकि निराकार परमात्मा का परकाय प्रवेश ब्रह्मा के वृद्ध शरीर मे होता है अतः सामान्य लोग अजर-अमर सदाशिव को भी ~~वृद्ध~~ देहधारी वृद्ध मनुष्य समझने लगते हैं। इसी लिए ऋग्वेद मे कहा है — 'जो धन के मद में मत्त हुए पापी लोग कल्याण-वाहो बृहस्पति को बूढ़ा बैल (ब्रह्मा) समझते हैं, हे बृहस्पति तुम उन्हें (सतयुग में) धन नहीं देना' (दे० पृ० १२६ का पाटि० १)। महाभारत मे भी उल्लेख है — 'जब (शरीर रूपी) रथ शिथिल हो गया और (कामादिक) शत्रु भी गरज रहे थे--- तब नारायण ने उस (रथ) के क्षर (विनाशी) भाग से बाहर निकल कर वृषभ (ब्रह्मा) का रूप धारण कर लिया और शिव के रथ को स्वयं ऊपर उठाया। उस समय शिव ने वृषभ (ब्रह्मा) के मस्तक और (उनके मन रूपी) अश्व की पीठ पर सवार हो कर (कलियुगी) दानवनगर को देखा।'[१]

भारतीय संस्कृति ही नहीं अपितु भारतेतर संस्कृतियों मे भी परमात्मा के परकाय प्रवेश के प्रमाण पाए जाते हैं। कुरान मे लिखा है — 'तुम्हारे प्रतिपालक ने फरिश्तों (देवात्माओं) को कहा कि मैं मिट्टी मे से एक पुरुष बनाने लगा हूं। तो जब मैं उसको सम्पूर्ण कर चुकूं और अपनी

---

(१) सीदमाने रथे चैव नर्दमानेषु शत्रुषु।
--ततो नारायणस्तस्माच्छरभागाद् विनिःसृतः॥
वृषरूपं समास्थाय उज्जहार महारथम्॥
वृषभस्य स्थितो मूर्ध्नि हयपृष्ठे च मानद।
तदा च भगवान् रुद्रो निरैक्षद दानवं पुरम्॥
(महाभा० कर्ण० ३४, १०२ से ४)

रूह (आत्मा) उसमें फूंक दूँ तो तुम उसके आगे मस्तक टेकने वास्ते गिर पड़ना। अतः फरिश्तों ने प्रणाम किया।[१]'

बाइबल में भी लिखा है — 'और मैंने सिंहासन में से एक बड़ी ऊँची आवाज ऐसा कहते हुए सुनी कि देखो! देखो! मनुष्यों के बीच ईश्वर का वासमन्दिर। अब वह मनुष्यों के साथ निवास करेगा और ईश्वर स्वयं उनके साथ रहेगा।[२]' यहाँ यह ध्यान में रखने योग्य बात है कि ईसाई लोग निराकार ज्योति को ही ईश्वर मानते हैं, साकार को नहीं।

इस प्रकार पूर्णतः सिद्ध होता है कि भारतीय ग्रन्थों में वर्णित 'इन्द्र' या 'भरत' नामधारी आदिनाथ ब्रह्मा भरत के तन द्वारा ही देवाधिदेव निराकार ऋषभशिव का प्रत्यक्षीकरण अथवा प्राकट्य होता है। तभी तो ऋग्वेद में कहा है- 'जिस समय अग्नि (ऋषभशिव) सूर्य की तरह विशाल प्रतापशाली हो कर प्रकाश पाते हैं उस समय वे भरत (ब्रह्मा) द्वारा प्रसिद्ध पाते हैं।[३]'

---

[३] प्रप्रायमग्निर्भरतस्य शृण्वे वि यत्सूर्यो न रोचते बृहद्भाः। (ऋ॰ ७, ८, ४)

[२] बाइबल दर्शन २१, ३ (रिवस्तधर्मसार)

[१] कुरान ३८, ७१ से ७३

प्रकरण-६. भरत ने हिंसक युद्ध द्वारा दिग्विजय नहीं की

भारतीय संस्कृति में जहाँ 'अहिंसा परमो धर्मः' का तुमुल नाद गूँजता रहा है, वहीं दूसरी ओर कालक्रमानुसार अज्ञान और अन्धविश्वास के कारण दुर्भाग्यवश हमारे परमधर्मनिष्ठ राम, कृष्ण, भरत आदि पूज्य पूर्वजों पर हिंसक होने का लाञ्छन भी लगाया गया है; जब कि वास्तविकता यह है कि उन्होंने अपने पूर्व पुरुषार्थी कलियुगी अन्तिम जन्म में योगी बनकर ज्ञानास्त्रों से कामक्रोधादिक आत्मा के शत्रुओं की हिंसा कर के सत् और त्रेतायुगी भोगभूमि में सच्ची स्वतन्त्रता (आत्मतन्त्र) अर्थात् निर्विघ्न अखण्ड स्वराज्य प्राप्त किया था। यही कारण है कि भारतीय परम्परा में आज तक 'माया जीते जगत्-जीत' अथवा 'इन्द्रजीत सो जगज्जीत' की उक्ति प्रसिद्ध है। ढाई हजार वर्ष का उपलब्ध इतिहास इस बात का साक्षी है कि आज तक किसी हिटलर, नैपोलियन जैसे विश्व-विख्यात वीर ने भी बाहुबल के आधार पर सम्पूर्ण विश्व में निर्विघ्न शासन नहीं किया, क्यों कि यह बात ईश्वरीय सिद्धान्त के ही विरुद्ध है। अहिंसा सत्य आदि आत्मा के मूल सद्गुणों ने सदा ही हिंसा, असत्य आदि भौतिक (दैहिक) दुर्गुणों पर विजय पाई है, क्यों कि आध्यात्मिक बल भौतिक बल से महान है। अतः न तो वैदिक मान्यतानुसार नर से नगन्नाथ नारायण की पदवी को प्राप्त करने वाले अर्जुन ने हिंसक युद्ध किया था और न जैन मान्यतानुसार धर्मचक्री पिता की उपस्थिति में

उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत ने ही हिंसक युद्ध द्वारा दिग्विजय प्राप्त की थी। कोई भी जैन शास्त्र जगत् को हिंसा कर के दिग्विजयी बनने का उपदेश नहीं देता, बल्कि सब ही धर्मग्रन्थ माया जीते ही जगज्जीत बनने का उपदेश देते हैं। महापुराण में कहा है — 'जो हिंसा का उपदेश देने वाला वाक्य है वह वेद नहीं है, वह तो यमराज का ही वाक्य है, ऐसा पुराण या शास्त्र धूर्तों का बनाया हुआ है[1]।' यह बात भी असम्भव है कि जगत् उपदेशक प्रभु ने 'दीपक तले अंधेरा' की कलियुगी कहावत को चरितार्थ करते हुए अपने ही ज्येष्ठपुत्र को ऐसे जैन धर्मोपदेश से वञ्चित रखा हो जिसका मूलाधार ही अहिंसा है, क्यों कि भरत को तो प्रभु की सेवा करने वालों में सबसे ज्येष्ठ और अग्रगण्य[2] कहा गया है। अतः श्रेष्ठ उपासक में सच्चे उपास्य के गुणों का समावेश न हो यह कैसे सम्भव हो सकता है? भरत से योग्यता में कम-छोटे भाइयों को भी ऋषभदेव ने त्याग, तपस्या और अहिंसा से प्रापणीय निर्विघ्न, ज्येष्ठ और प्रशंसनीय सतयुगी अध्यात्मिक राज्य की प्राप्ति का ही लक्ष्य दिया था[3], क्यों कि कलियुगी, गर्हणीय, वैश्या के समान भौतिक राज्य वैभव तो विघ्नयुक्त होने तथा झूठ, हिंसा और परिग्रहपूर्वक प्राप्त होने के कारण वैश्या की ही भाँति त्याग करने योग्य है।

---

③ इति ज्यायस्तपो राज्यमिदं श्लाघ्यपरिच्छदम् (महापु. ३४, १२४)

② राजर्षिः परमोदयो जिनजुषामग्रेसरः सोऽभवत् (महापु. ४१, १४८)

① हिंसोपदेशि यद्वाक्यं न वेदोऽसौ कृतान्तवाक् ॥
पुराणं धर्मशास्त्रं च तत्स्याद् वधनिषेधि यत् ।
वधोपदेशि यच्चात्र ज्ञेयं धूर्तप्रणेतृकम् ॥ महापु. ३९, २२-२३

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में प्रतीकात्मक, अलङ्कारिक, कवित्वमयी शैली में वर्णित सर्वथा अहिंसक आध्यात्मिक युद्ध का अर्थ परवर्ती काल में (कालक्रमानुसार क्षीण बुद्धि वाले कलियुग या पञ्चमारे में) हिंसक युद्ध से ले लिया गया, क्योंकि तत्कालीन कलह्युगी कलियों-टीकाकारों की बुद्धि स्वयं ही राजाओं के बीच होने वाले युद्धादि के हिंसक वातावरण से प्रभावित थी। इस प्रकार देश, काल, परिस्थितियों के बदलने से प्रमुखतः टीकाकारों द्वारा अर्थ का अनर्थ होने के साथ ही सत्साहित्य का क्रमशः लोप और असत्-साहित्य का प्रादुर्भाव होने लगा। तत्कालीन जिनसेनाचार्यादि जैन कवियों ने ही नहीं, परवर्तीकाल के तुलसीदास प्रभृति कवियों ने भी इस बात का स्वयं अनुभव किया था। जिनसेन ने लिखा है—'दुःखम नामक पाँचवे काल के दोष से मानवों की बुद्धि उत्तरोत्तर घटती है जिससे (वास्तविक) पुराण का ग्रन्थविस्तार भी घटता जावेगा।'[1] इसी प्रकार तुलसीदास ने भी लिखा है—

'कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भये सद्ग्रन्थ।
दम्भिन निजमति कल्पि कर प्रगट किए बहु पंथ॥

कहने का तात्पर्य है कि ग्रन्थों में आध्यात्मिक युद्ध का वर्णन हिंसक युद्ध की भाँति प्रतीकात्मक शैली में किया गया है, जहाँ आत्मा रूपी राजा और मन रूपी प्रतीहार है, बुद्धि रूपी सेनापति और मस्तिष्क रूपी आयुधागार है जिसमें ज्ञानरूपी

---

① दोषाद् दुषमकालस्य प्रहास्यन्ते धियो नृणाम्।
तासां हानेः पुराणस्य हीयते ग्रन्थविस्तरः॥ महापु० २, १३६

अनेकानेक अस्त्रशस्त्र (ज्ञानासि, ज्ञानगदा, ज्ञानबाण) आदि भरे पड़े हैं, यहाँ शरीर ही रथ और परमात्मा सारथी है, कषाय (विकार) ही शत्रु है आदि-आदि। भरत की दिग्विजय से सम्बन्धित इन प्रतीकों तथा घटनाओं के रहस्यात्मक विवरण के आधार पर उनके द्वारा किए गए सर्वथा अहिंसक आध्यात्मिक युद्ध के अकाट्य प्रमाण प्राप्त हो जाते हैं।

अनादि सृष्टि रूपी विश्वनाटक ही चक्ररत्न है :—

हिन्दुओं की मान्यता है कि भगवान विष्णु ने युद्ध भूमि में चक्र घुमा कर अनेकों पापियों के गले काट दिए। यहाँ विचार करने की एक बात यह है कि अहिंसा रूप परमधर्म की संस्थापक परमपिता परमात्मा ही यदि ऐसी क्रूर हिंसा कर के अहिंसा की स्थापना करता है तब तो क्रोध से शान्ति, वैर से प्रेम, असत्य से सत्य और अधर्म करके धर्म की स्थापना का शाश्वत सिद्धान्त और परम्परा ही बन जानी चाहिए थी क्यों कि 'महाजनो येन गतः स पंथः'। दूसरे कोई कलियुगी बाप भी अपने पापी पुत्र की हत्या नहीं करता, तो निश्चय ही पोषणकर्ता परमपिता परमात्मा के द्वारा अपने ही पुत्रों के हत्याकाण्ड की बात कैसे स्वीकार की जावे? अतः स्पष्ट है कि विष्णु (भरत) ने कोई हिंसक शस्त्र जैसा चक्र ग्रहण नहीं किया था, अपितु अनवरत रूप से घूमने वाले अनादि सृष्टि रूपी चक्र के आदि, मध्य, अन्त का सारा ज्ञान ही उनकी बुद्धि में घूम रहा था जिसके कारण उन्हें स्पष्ट स्मृति आ रही थी कि सत-त्रेता युगों स्वर्ग या भोग-भूमि में वह स्वयं भी निर्विकारी देवता थे और अब

द्वापर से ले कर इस कलियुगी अन्तिम जन्म मे काल-चक्रानुसार कामादिक शत्रुओं के पंजे में फँस कर प्राणी मात्र एक दूसरे को मन,वचन,कर्म से दुःख देने वाला दैत्य बन चुका है। अब पुनः हमें सतयुग में वही देवता बनना है,क्यों कि चक्र को जो अरनीचे जाती है वह अवश्य ही ऊपर आवे गी। जो मेरा 'भारत' सतयुग मे सरताज था वह आज कलियुग में मुहताज और कङ्गाल हो गया है परन्तु अवश्य पुन सिरताज बने गा।' इस प्रकार ज्ञानयुक्त दृढ़ और शुभ सँकल्प-शक्ति के द्वारा भविष्यकालीन, आत्मा के सतयुगी श्रेष्ठ संस्कारों को आकर्षित करने के कारण जहाँ गीता के प्रथम अध्याय में नपुंसकों जैसी कमजोर बात करने वाला अर्जुन ज्ञान प्राप्त होने पर अन्तिम अध्याय में निश्चय पूर्वक 'स्मृतिर्लब्धा' कह कर कामादिक शत्रुओं से डट कर युद्ध करने के लिए तैयार हो जाता है, वहाँ जैन धर्मसर परम्परा मे वर्णित भरत भी मस्तक रूपी आयुधागार[1] में चक्रोत्पत्ति होने के बाद ही दिग्विजय के लिए कटिबद्ध होते हैं।

वैदिक और जैन दोनो ही परम्पराओं में इस चक्र का नाम 'सुदर्शन' रखा गया है। जिनसेन ने लिखा है — 'उन दिग्विजयी भरत के सुदर्शन' नाम का चक्र था जो समस्त दिशाओं मे आक्रमण करने मे समर्थ था और देदीप्यमान होते हुए शत्रुओं द्वारा देखा भी नहीं जा सकता था[2] (?)।

---

(२) चक्ररत्नमभूज्जिष्णोः दिक्चक्राक्रमणक्षमम्।
नाम्ना सुदर्शनं दीप्तं यद्दुर्दर्शमरातिभिः॥ महापु. ३६,१६६

(१) इक्षानीमायुधागारे चक्ररत्नमजायत (त्रि. ३,५१४)

यह 'सुदर्शन' शब्द 'स्वदर्शन' का ही बिगड़ा हुआ अथवा अपर रूप है जिसका अर्थ है— 'अपने जन्मों के चक्र को देखना (स्व + दर्शन)'। हेमाचार्य ने लिखा है — 'भरत ने (पवित्रता रूपी) मयूर-पिच्छ को लेकर चक्र को पोंछा, यद्यपि ऐसे अनुपम रत्न को धूल नहीं लगती।[1]' स्पष्ट है कि यह चक्र कोई स्थूल शस्त्र नहीं था क्यों कि ब्रह्मचर्य वा पवित्रता के ग्रहण करने पर ही सृष्टि के आदि-मध्य-अन्त का ज्ञान प्रदायक यह चक्ररत्न मस्तिष्क में उज्ज्वल बना रहता है।

आज की भारतीय परम्परा में इसी सृष्टिचक्र का द्योतक 'स्वस्तिक' अथवा 'चौपियां' का चिन्ह अत्यन्त प्रसिद्ध है। आदिनाथ ब्रह्मा भरत द्वारा नवीन सृष्टि निर्माण जैसे मंगलमय कार्य की ही भाँति आज भी परम्परानुसार प्रत्येक शुभ कार्य के आरम्भ में इसका स्मरण (पूजन) किया जाता है। अतः हेमचन्द्र ने भी लिखा है — 'शहर के धनीमानी लोगों ने भी चक्र की पूजा का उत्सव किया, क्यों कि पूजित या मान-नीय लोग जिसकी पूजा करते हैं उसे दूसरा कौन नहीं पूजता।[2]'

स्वस्तिक की चार भुजाओं में दाएँ हाथ की दो भुजाएं शुभसूचक होने से स्वर्ग की सूचक हैं क्यों कि दानादि शुभकार्यों में आज भी दायाँ हाथ उपयोग में लाया जाता है। इसतरह दाएं हाथ वाली ऊपर की भुजा से इंगित सतयुग कौनसी

---

② चक्रपूजोत्सवश्चक्रे पौरैरपि महर्षिभिः।
पूजितैः पूज्यमानो हि केनकेन न पूज्यते॥ त्रि॰ ४, १२

① रोमहस्तकमादाय भरतस्तदमार्जयत् (त्रि॰ ४, ३)

(१६१)(क)

स्वदर्शन
सृष्टि रूपी चक्र रत्न

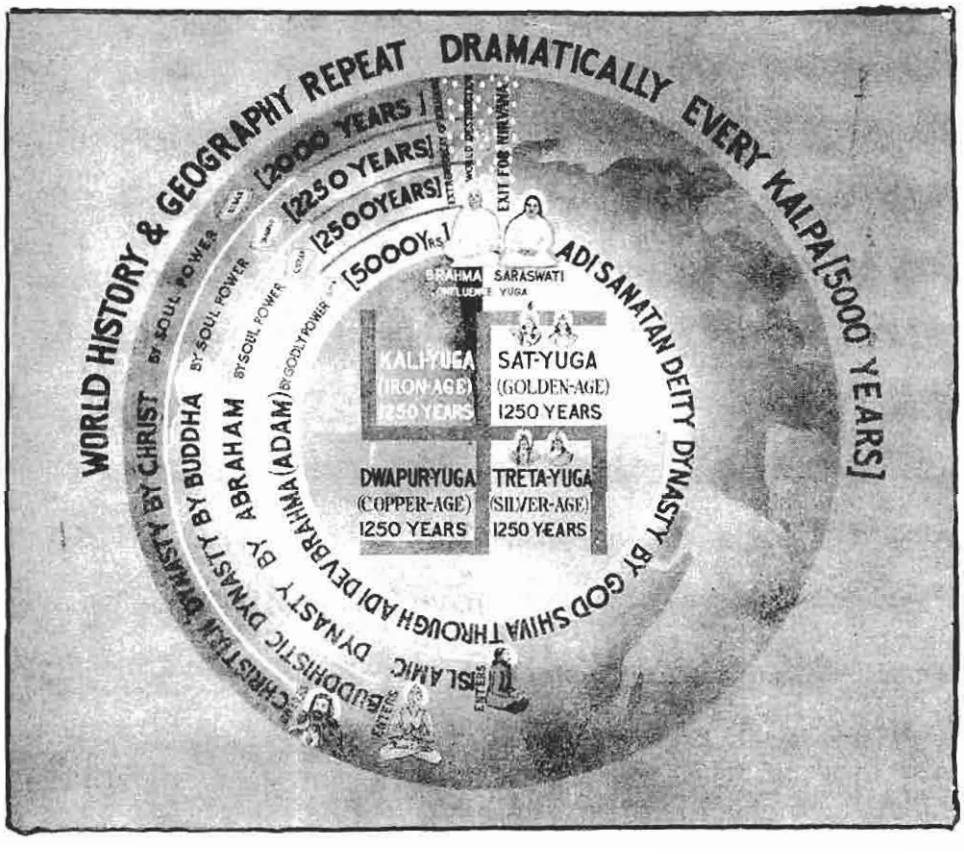

निर्विकारी सृष्टि ही सुखी स्वर्ग है जिसे जैन परम्परा में 'प्रथम आरे' की संज्ञा दी गई है। उस समय के सदा सुखी लोगों का वर्णन करते हुए हेमाचार्य ने लिखा है —

'प्रथमारे में लोग सदासुखी, क्रोध, मान, माया और लोभ रहित होते हैं। तथा स्वभाव से ही अधर्म का त्याग करने वाले होते हैं (अर्थात् धर्मपालन के लिए उन्हें शास्त्र आदि के पठन-पाठन का आयास नहीं करना पड़ता)।[१] इस नवीन आत्माभिमानी सृष्टि में शिशु की भाँति पवित्रता और सत्त्वगुण की प्रधानता होती है जिससे सदाकालीन सुख का ही अनुभव होता है। दायीं ओर की दूसरी त्रेतायुगी भुजा नीचे की ओर दिखाई गई है जिससे सिद्ध होता है कि यहाँ सतयुग की तुलना में स्वर्गीय सुख तथा पवित्रता में कुछ न्यूनता आजाती है और सत्त्वगुण प्रधानता से घट कर सामान्य स्थिति में रह जाता है, अतः इसे सामान्य (सैमी) स्वर्ग कहा जा सकता है। जैन परम्परा में इसे द्वितीय-तृतीयारे की संज्ञा दी गई है। यह सत्-त्रेता युगी सुखी सृष्टि ही ब्रह्मा का दिन कही जाती है।

इस तरह सत्-त्रेता युगी भोगभूमि अर्थात् स्वर्ग के आत्माभिमानी देवताएं ही अनेक जन्म और शरीर धारण करते-करते त्रेता (तृतीयारा) के अन्त और द्वापर के आदि में देहअभिमानी हो पड़ते हैं जिससे रजोगुण के सूचक कामादिक विकार उत्पन्न होते हैं

---

[१](क) तत्रारे प्रथमे मर्त्याः -- सदा सुखाः।
अपक्रोधा, गतमाना, निर्मायालोभवर्जिताः॥
सर्वदारं स्वभावेनाप्यधर्मपरिहारिणः॥ त्रि॰ २, ११८ से १२०

(ख) तुलनीय पृ॰ १६७ का पाटि॰ १

और मैथुन वृत्ति के कारण दुःखों का आरम्भ होता है। महाभारत में कहा है — 'पहले के लोगों में मैथुन धर्म की प्रवृत्ति नहीं हुई थी। इन सबको संकल्प (योगबल) से ही संतान पैदा होती थी। तदनन्तर त्रेता में स्पर्श मात्र से सन्तति होती थी। यहाँ भी मैथुन धर्म का प्रचार नहीं हुआ था। द्वापर में प्रजा के मन में मैथुन धर्म का सूत्रपात हुआ। इसी तरह कलियुग में भी लोग मैथुन धर्म को प्राप्त हो गए[1]'। लिङ्ग पुराण में भी विकारों का सूत्रपात द्वापर से बताया है[2]। त्रिषष्टि में तृतीय आरे के अन्त में क्रोधादिक कषायों का प्रादुर्भाव बताया है जिसका समर्थन लोकप्रकाश में भी किया गया है[3] (लोकलोक २६, २८४-२८७)। यहाँ द्वापर का इंगित करने वाली तीसरी भुजा देवताओं के वाममार्ग अर्थात उल्टे विकारी मार्ग में जाने की सूचक है।

---

(३) (क) तृतीयेऽस्य त्रिभागे तु समतिक्रामतिक्रमात्।
~~कल्पवृक्षेषु पर्याप्तेष्वल्पाँतराशनाः प्रेम-रागद्वेषसमधिकाः॥~~ (लोकप्रकाश)
(ख) प्रादुरासन् कषायाँश्च मिथुनानाँ क्रुधादयः।
लोहालकला इवाश्वत्थपादपानाँ शनैः शनैः॥ त्रि० २, २६४

(२) '— कामद्वेषौ तथैव च। द्वापरे तु प्रवर्तन्ते रागो लोभो मदस्तथा' (लिङ्ग २६, ५५-५६)

(१) न चैषां मैथुनो धर्मो बभूव भरतर्षभ।
संकल्पादेव चैतेषां अपत्यमुत्पद्यते॥
ततस्त्रेतायुगे काले संस्पर्शाज्जायते प्रजाः।
न ह्यभून्मैथुनो धर्मस्तेषामपि जनाधिप॥
द्वापरे मैथुनो धर्मः प्रजानामभवन्नृप।
तथा कलियुगे राजन् द्वन्द्वमापेदिरे जनाः॥
(महाभा० शान्ति २०७, ३८ से ४०)

ऊपर उठती हुई चक्र की चौथी भुजा कलियुग में विकारों की वृद्धि के साथ दुःखों के उत्कर्ष की सूचक है। यही तामसी कलह युगों नकी कहा गया है जिसका वर्णन जैन परम्परा में पंचम-छेह आरे के रूप में किया है। इस प्रकार इस सृष्टि रूपी नाटक-चक्र में सुख और दुःख का समय बराबर है जिसे क्रमशः स्वर्ग और नर्क कहा जाता है। अतः मार्कण्डेय पुराण में कहा है — 'जो प्रमाण ब्रह्मा की रात्रि का है वही उनके दिन का है(१)'

पुरुषोत्तम संगम युग :— कलियुग और सतयुग के संध्यांश भाग अर्थात् पुरुषोत्तम संगम युग में ऋषभशिव दिव्यजन्म लेकर अविनाशी रुद्र ज्ञानयज्ञ में ज्ञानयोगाग्नि प्रज्वलित कर के समस्त कलियुगी विकारो की आहुति दिलवाते हैं। यह कार्य ५० वर्षों मे पूरा होता है, अतः ऋग्वेद में कहा है — 'मनुष्यो! जिन्होंने पर्वत मे छिपे शम्बर असुर (देहाभिमान) को ५० वर्ष मे खोज कर प्राप्त किया था। बल प्रकाशक अहि (कामविकार रूपी सर्प) नाम के सोए हुए(२) दैत्य का विनाश किया था, ये वे ही इन्दु (ब्रह्मा) हैं।' (ऋ. २, १२, ११)। देहाभिमान सहित विकारों का समूल नाश कलियुग के अन्तिमांश में होने के उपरान्त सतयुग के आदि में भरत (ब्रह्मा) का इस नवीन कल्प में प्रारब्धवान प्रथम जन्म होता है और २०-२५ वर्ष की अवस्था होने पर नारायण नाम से इनका

---

(२) य शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविंदत्।
ओजायमानं यो अहिंजघानु दानुं शयानुं सजनास इन्द्रः॥

(१) 'तत्प्रमाणैव सा रात्रिः' (मार्क. १, ३८, ४१)

महाराज्याभिषेक कर दिया जाता है। इस प्रकार कुल मिला कर लगभग ६० वर्षीय पुरुषोत्तम संगम युग में भरत (ब्रह्मा) को दिग्विजय प्राप्त होती है; परन्तु बड़ा आश्चर्य है कि जैन ग्रन्थों में ६० वर्ष के बजाय ६० हजार वर्ष का उल्लेख कैसे कर दिया गया और यह उल्लेख आदिनाथ-चरित्र-ग्रन्थों में कई बार (१) आया है।

उपरिवर्णित स्वस्तिक की भुजाओं द्वारा होने वाले चार बराबर विभागों से स्पष्ट है कि प्रत्येक युग की आयु बराबर-बराबर होती है। पिछले प्रकरण (२) में सन्ध्या और सन्ध्यांशों सहित कलियुग की आयु लगभग १२-१२½ सौ वर्ष निर्धारित की गई है। इस प्रकार चारों युगों की कुल आयु मिला कर सम्पूर्ण कल्प (चतुर्युगी) की आयु पाँच हजार वर्ष निर्धारित होती है। इस तरह यद्यपि चारों युगों की आयु तो समान ही होती है, परन्तु सतयुग से कलियुग तक मानवीय आयु में क्रमशः प्रत्येक युग में चौथाई का ह्रास होता जाता है (३) क्यों कि नई सतयुगी सृष्टि में आत्मबल के

---

(३) अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः (~~सत्कृते~~)
कृते त्रेता युगे त्वेषा पादशः ह्रसते वयः (महाभा. शान्ति. २३१, २५)

(२) देखिए पृ. ११० और १११ का पाटि. १

(१) आयप्रयाणविक्लसादीतक्रान्तेषु सत्स्वथ।
(क) षष्टौ वर्षसहस्रेषु चक्रमार्गानुगोऽचलत ॥ त्रि. ४/५६
(ख) भरतं गृह्णतस्तस्य वर्षषष्टिसहस्र्यगात। त्रि. ५, ५०४
(ग) भरते भारतं वर्षं निर्जित्य सह पार्थिवैः।
षष्ट्या वर्षसहस्रैस्तु दिशं निवृते जयात ॥ महापु. ३८, ४
(घ) पुण्योदयान्निधिपतिर्निजितारिबलाश-
स्तन्निर्जितौ गमितषष्टिसमा सहस्रः॥ महापु. ३३, २०२

अधिक होने से उतने ही समय में (१२५० वर्ष में) मनुष्य के जन्म कम और औसत आयु अधिक होती है; परन्तु अगले तीन युगों में क्रमशः औसत आयु कम और जन्म अधिक होते जाते है (दे० प्रकरण १२)। तात्पर्य है कि वैदिक या जैन ग्रन्थों में वर्णित युगों या आरों की आयु का उत्तरोत्तर दोगुना, तीनगुना आदि वृद्धिक्रम त्रुटिपूर्ण है।

सृष्टिचक्र की हूबहू पुनरावृत्ति :—

इस प्रकार यह सृष्टिचक्र खपो बना-बनाया सृष्टिनाटक प्रति ५००० हजार वर्ष बाद हूबहू पुनरावृत्त होता रहता है। जैन ही नहीं समूची भारतीय परम्परा में इस (५००० वर्षीय) सृष्टिचक्र अथवा काल-चक्र की हूबहू पुनरावृत्ति को शाश्वत—अटल सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद मे कहा गया है—'प्राचीन काल के अनुसार ही ईश्वर ने सूर्य, चन्द्र, स्वर्गलोक, पृथ्वी और अन्तरिक्ष की रचना की[1]।' अथर्ववेद के अनुसार पुरातन काल मे जैसा इन्द्र था वैसा ही इस काल मे हुआ। जैसे सोम, अग्नि, त्वष्टा और धाता पुरातन सृष्टि मे थे वैसे ही इस सृष्टि मे भी हुए[2]।'

महाभारत मे सृष्टि की हूबहू पुनरावृत्ति का उल्लेख मानो इन ऋचाओं के व्याख्या रूप मे इस प्रकार दिया गया है—"क्षय और अक्षय, जड़ और चेतन प्राणियों के जो और जैसे कर्म पूर्व कल्प

---

② इन्द्रादिन्द्रः सोमात्सोमो अग्नेरग्निरजायत।
त्वष्टा ह जज्ञे त्वष्टुर्धातुर्धाताऽजायत॥(अथर्व ११,४,८,६)

① सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः(ऋ०१०,१९०,३)

को सृष्टि में लिए गए होते हैं, दूसरे कल्पों में बारम्बार जन्म लेते हुए वे उन पूर्वकृत कर्मों की वासना से प्रभावित होने के कारण वैसे ही कर्म करने लगते हैं। हिंसा-अहिंसा, कोमलता-कठोरता, धर्म-अधर्म और सच-झूठ आदि जिन गुणों या दोषों को अपनाते हैं, उनके संस्कारों से प्रभावित हो कर (दूसरे कल्प में भी) उन्हीं गुणों को पसंद करते और वैसे ही कार्यों में लग जाते हैं --- ब्रह्मा जी आदि अन्त रहित (यथार्थ) वेदवाणी का उच्चारण करते हुए ऋषियों के नाम, पदार्थों के नाम, प्राणियों के अनेक विधि रूप तथा उनके कर्मों का विधान — यह सब कुछ सृष्टि के आदिकाल में वेदोक्त शब्दों के अनुसार ही रचते हैं। वेदों में ऋषियों के नाम तो हैं ही, सृष्टि में उत्पन्न सब पदार्थों के नाम भी हैं। (इस प्रकार) अजन्मा ब्रह्मा जी अपनी रात्रि के अन्त अर्थात् नूतन सृष्टि के प्रभातकाल (१) में स्वरचित पदार्थों का दूसरों के लिए नामनिर्देश करते हैं।

---

(१) अव्ययं च व्ययं चैव द्वयं स्थावरजङ्गमम् ॥१५
तेषां यो यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रत्यपद्यत।
तान्येव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः ॥१६
हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते।
तद्भाविता प्रपद्यन्ते तस्मात् तत्तस्य रोचते ॥१७
--- अनादिनिधना विद्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ॥२४
ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु सृष्टयः।
नामरूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम् ॥२५
वेदशब्देभ्यः एवादौ निर्ममीते स ईश्वरः।
नामधेयानि चर्षीणां याश्च वेदेषु सृष्टयः ॥२६
शर्वर्यन्ते सुजातास्ता मन्वन्तेषु विदधात्यजः ॥२७॥ शान्तिपर्व 232अ.

महाभारत मे आए हुए यही उपरिवर्णित श्लोक एक दो शब्दों के परिवर्तन के साथ अनेक पुराणों, स्मृतियों तथा सूत्रादि ग्रन्थों के भाष्यों में भी उपलब्ध हो रहे है (१)।

जैन ग्रन्थों के अनुसार आदिनाथ भरत (ब्रह्मा) को दिग्विजय के प्रसंग में अपने सम्पूर्ण ज्ञानयुक्त ब्राह्मण परिवार के साथ सदैव ही इस हूबहू पुनरावृत्त होने वाले सृष्टिचक्रीय ज्ञान का अनुसरण करना पड़ता था (२) जिसका उल्लेख हेमाचार्य ने अनेक स्थलों पर किया है। तात्पर्य है कि पुरुषार्थ मे पुनः पुनः बल भरने के लिए योगमार्ग के विघ्नों, बाधाओं, कठिनाइयों, अनिष्ट आदिक परिस्थितियों के उपस्थित होने पर वे (ब्रह्मा और उनका ब्राह्मणपरिवार) साहसी हो कर इस दृढ निश्चय के साथ उनका सामना करते थे कि ये परिस्थितियाँ तो आज से ठीक ५००० वर्ष पहले भी इसी रूप मे हमारे सामने आई थीं और इन पर हमने विजय पाई थी। इतना ही नहीं, असंख्य कल्पों मे मैं असंख्य बार हमने इन पर विजय पाई है तो इस बार हार खाने या पीठ दिखाने का प्रश्न कैसे उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार कदम-कदम पर

---

(२) (क) 'गच्छैश्चक्रानुगश्चक्री' (ख) 'चक्री चक्रानुगोऽचालीत्'
(ग) 'अनुयीपमिवालोकोऽनुचक्रं भूपतिर्ययौ।'
(घ) 'चमूः संचचार सुखं चक्ररत्नानुगन्नृपानुगा।'
(त्रि० ४, ७६-१६५-२१५ और ३११)

(१)= ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य १, ३, २८ और ३०
मनु० १, २१ और २६; वायु ६, ५२ से ६०;
कूर्म १, २, २८-२६; १, ७, ६५ से ६६;
मार्कण्डेय ४०, ३८ से ४५; वायु ८, ३१-३२;
ब्रह्माण्ड पुराण १, ८, ६५ और आगे; विष्णु १, ५, ६० से ६५।

इस त्रिकालदर्शक सृष्टि चक्रीय ज्ञान का अनुसरण-स्मरण करते हुए उन्हें विशेष सफलता की प्राप्ति होती थी।

सदा मुक्ति नहीं होती :— ऊपर वर्णित 'ज्यों का त्यों पुनरावृत्ति' के सिद्धान्त से यह भी निश्चित् हो जाता है कि इस अनादि निर्मित अविनाशी सृष्टि चक्र रूपी नाटक का अनुसरण अकेले भरत ब्रह्मा या तत्सम्बन्धी ब्रह्मर्षियों को ही नहीं, अपितु येन केन प्रकारेण प्राणी मात्र को करना ही पड़ता है, क्यों कि सभी जीवात्माएं सृष्टि की भाँति ही अनादि और अविनाशी हैं। अतः कोई भी प्राणी लाख प्रयत्न करने पर भी इस ५००० वर्षीय सृष्टि चक्र का अतिक्रमण कर के सदा काल के लिए मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता।

इस चक्र का वर्णन करते हुए ऋग्वेद में कहा गया है — "हे अश्विनीकुमारो! सूर्य (ब्रह्मशिव) की मूर्ति को प्रदीप्त करने के लिए तुम दोनों ने (ब्रह्मा-) रथ के एक दीप्तिमान (सृष्टि-) चक्र को नियमित किया है। अपनी सामर्थ्य से मनुष्यों के अहोरात्रादि काल को निरूपित करने के लिए तुम (सृष्टि) चक्र द्वारा (स्वर्गनिर्कादि) लोकों में परिभ्रमण करते हो।" अथर्ववेद के अनुसार "उस पुराने के चक्र → ⊕ ← में सम्पूर्ण जगत स्थित है। उसके भार वाला अक्ष स्वयं संतापित नहीं होता। वह पुरातन होने पर भी नहीं टूटता।" × "हमने संरक्षक आत्मा को संसार रूप चक्र में घूमते देखा। उसी को इहलोक

---

① ईर्मान्यद्वपुषे वपुश्चक्रं रथस्य येमथुः।
पर्यन्या नाहुषा युगा महा रजांसि दीयथः॥ऋ.५,७३,३

परलोक में सत्त्वरजस्तमात्मक मार्गों में घूमते हुए भी देखा। वह अपने में व्याप्त इन्द्रियों सहित लोकों में विचरण करता है।[1]' महाभारत में कहा है — 'पहले जो चक्ररत्न महात्मा श्रीकृष्ण (भरत) के (बुद्धिरूपी) हाथ में था वह चला गया। वह पुनः समय आने पर (अग्रिम कल्प में) उनके हाथ में आ जावेगा।[2]' अर्थात् ज्ञान स्वरूप सृष्टिचक्र भरतविष्णु के मस्तिष्क में हर कल्प के अन्तिम जन्म में प्रगट होता है। 'सौरपु. में कहा गया है कि कृष्ण ने अपना चक्र शिव से पाया था।[3]' अर्थात् त्रिकालदर्शक सृष्टिचक्र का बोध शिव ही कराते हैं। इस चक्र का उल्लेख कुरान में इस प्रकार है — 'निःसंदेह, तुम जो कुछ कहते हो मेरे प्रतिपालक के चक्र में है (कुरान, सूरत ११, आयत ६२)।

<u>दण्डरत्न और सेनापतिरत्न</u> :—

चक्ररत्न की ही भाँति दिग्विजय प्रसंग से सम्बन्धित भरत को प्राप्त होने वाले अन्य रत्न भी हिंसक युद्ध से सम्बंधित नहीं हैं। देवाधिदेव ऋषभशिव की श्रीमत् आदेश ही 'दण्डरत्न' है और भरत का सुषेण (सु + सेन = सह इनेन प्रभुणा वा; यहाँ आत्मा ही प्रभु है जिसके साथ भली प्रकार से रहनेवाली है 'बुद्धि') नाम का बुद्धि रूपी सेनापति रत्न ही जानियों की सेना का सञ्चालन करता है।

---

(३) शैवमत पृ. १३५ से उद्धृत (सौर ५१, १४५)

(२) महाभारत, महाप्रस्थानिक पर्व ६, ५०।

(१) (क) पञ्चारे चक्रे परिवर्तमानेयस्मिन्त्रातस्थुर्भुवनानि विश्वा।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न छिद्यते सनाभिः॥
(अथर्व ६, ५, ६, ११)

(ख) अपश्यं गोपमनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः॥
(अथर्व ६, ५, १०, ११)

जिनसेनाचार्य ने चक्ररत्न सहित दण्डरत्न तथा सेनापतिरत्न का उल्लेख इस प्रकार किया है — 'सूर्यमण्डल के समान देदीप्यमान और चारों ओर से (ब्राह्मण) देवों द्वारा घिरा हुआ जाज्वल्यमान-चक्ररत्न आकाश में (१) भरतेश्वर के आगे-आगे चल रहा था। जिस प्रकार मुनियों का समूह गुरु की इच्छानुसार चलता है उसी प्रकार निधियों के स्वामी महाराज भरत की वह (ज्ञान-) सेना (विश्वनाटक रूपी) चक्ररत्न की इच्छानुसार उसके पीछे-पीछे चल रही थी। दण्डरत्न को आगे कर (बुद्धिरूपी) सेनापति सबसे आगे चल रहा था और वह (प्रतिकूल परिस्थितियों रूपी) ऊंचे नीचे दुर्गम वनस्थलों को लीलापूर्वक चौरस करता जाता था। सबसे आगे चलने वाला (श्रीमत् रूपी) दण्डरत्न सब मार्ग को राजमार्ग के समान विस्तृत और सम करता जाता था। इस लिए वह सेना किसी भी जगह स्खलित न होती हुई इच्छानुसार जा रही थी।

× 'सेना में सबसे आगे (श्रीमदादेश रूपी) दण्डरत्न और उसके पीछे (विश्वनाटक रूपी) चक्ररत्न चलता

---

(१) चक्रमस्य ज्वलद्व्योम्नि प्रयाति स्म पुरो विभोः।
सूरेः परिष्कृतं विष्वक् भास्वद्बिम्बप्रभास्वरम्॥
चक्रानुयायि तद्भेजे निधीनामीशितुर्बलम्।
गुरोरिच्छानुवर्तिन्यो मुनीनामिव मण्डलम्॥
दण्डरत्नं पुरोधाय सेनानीरग्रणीरभूत्।
स्वपुटानि समीकुर्वन् स्थलदुर्गाण्यतन्द्रितः॥
अरण्या दण्डरत्नेन पथिराजपथीकृते।
यथेष्टं प्रययौ सैन्यं क्वचिदप्यस्खलद्गतिः॥
(महापु० पर्व २६, ८६ से ९२)

था तथा इन दोनों के द्वारा साफ किए हुए मार्ग में सुखपूर्वक चक्रवर्ती की (ज्ञान) सेना चलती थी।[1] जिनसेनाचार्य ने भरत के सैनापति का नाम ही 'अयोध्य'[2] दिया है, फिर उसी के द्वारा किसी हिंसक युद्ध की आशा कैसे की जा सकती है। जिनसेनाचार्य की तरह हेमाचार्य ने भी लिखा है — 'किसान जिस तरह ऊँची नीची जमीन को चौरस करते हैं उसी तरह (ज्ञान-) सेना के आगे-आगे चलने वाला (बुद्धिरूप) सुषेण सेनापति (भूमिदादेश रूपी) दण्डरत्न से विषम राहों को समान करता जाता था।'[3]

काकिणीरत्न और मणिरत्न :—

भरत की दिग्विजय प्रसंग में वर्णित 'काकिणीरत्न' ज्योतिर्लिङ्गम् शिव का तथा मणिरत्न ज्योतिबिंदु रूप आत्मा का सूचक है। इस प्रसंग में हेमाचार्य ने लिखा है — 'हाथी के दाहिने कुम्भस्थल के ऊँचे भाग पर (आत्मा रूपी) मणिरत्न स्थापित कर (भरत) महाराज ने गुफा में प्रवेश किया।'[4] यहाँ भरत (ब्रह्मा) का कलियुगी तामसी अर्थात महाविकारी शरीर ही 'हाथी' कहा गया है जिसके भृकुटि मध्य में ज्योतिबिंदु आत्मा को स्थापित करने अर्थात् आत्मिक

---

④ आरुढः करिणः स्कन्धं कुम्भदेशे च दक्षिणे।
मणिरत्नं निवेश्योच्चैस्तां विवेश गुहां नृपः॥ त्रि॰ ४,५६२

③ विषमं सुसमीचक्रे सैन्यस्य पुरतो व्रजन्।
सेनानीर्दण्डरत्नेन मतेनेव कृषिक्षितिम्॥ त्रि॰ ४,५०

② 'चमूपतिरयोद्धारव्यो' (महापु॰ ३७,१७५)

① पुरः प्रतस्थे दण्डेन चक्रेण तदनन्तरम्।
तास्यां विशोधिते मार्गे तद्बलं प्रययौ सुखम्॥ महापु॰ २६,७

स्थिति मे स्थिर होने का वर्णन है। आचार्य ने एक अन्य स्थल पर भी लिखा है — "(तामसी शरीर रूपी) गजरत्न पर सवार हो कर प्रौढ पराक्रम वाले महाराज ने चन्द्रमा की तरह तामिस्रा गुफा मे प्रवेश किया। प्रवेश करते समय उन्हों ने चार अंगुल प्रमाण का सूर्य के समान प्रकाशमान (आत्मा रूपी) मणिरत्न ग्रहण किया। वह १००० (अन्यान्य ज्ञानी आत्मा औंरूप) यक्षों से अधिष्ठित था। यदि वह शिखाबंध के समान मस्तक पर धारण किया जाता है, चोटी में बाँधा जाता है (यहाँ ऊर्ध्वस्थल में आत्मस्मरण से तात्पर्य है) तो तिर्यञ्च, देव, मनुष्य सम्बधी उपद्रव नहीं होते। उस रत्न के प्रभाव से (सतयुग में) सारे दुःख अन्धकार की तरह नाश हो जाते हैं तथा शस्त्र के घाव की तरह रोग भी निवारण हो जाते हैं। सोने के घोड़े पर जिसतरह सोने का चक्कन रखते हैं उसी तरह रिपुनाशक राजा ने हाथी के दाहिने कुम्भस्थल पर उस रत्न को रखा। पीछे-पीछे चलने वाली (चतुर्विध संघ रूप) चतुरङ्गिणी (ज्ञान-) सेना सहित (विश्वनाटक रूपी) चक्र का अनुसरण करने वाले, केशरीसिंह के समान चक्रवर्ती चार अंगुल प्रमाण का दूसरा काङ्किणी रत्न (ज्योतिर्लिङ्गम्) भी ग्रहण किया। वह रत्न सूर्य, चन्द्र और अग्नि जैसा कान्तिमान था। आकाश में अधिकारी के बराबर हजार (आत्म स्वरूप) यक्षों से अधिष्ठित था। इसमें

= आत्मा के आकार या प्रमाण के सम्बन्ध में सदा ही मतभेद रहा है। किसी ने इसे अणुरूप या अंगुष्ठाकार बताया तो किसी ने उसे शरीर के अनुसार घटने-बढ़ने वाला मान लिया किन्तु वास्तविक सूक्ष्म रूप ज्योति बिन्दु मात्र ही है।

(शिव की अष्टमूर्ति रूप) आठ कोणकारें थीं और वह[1] १२ योजन के (अज्ञान-) अन्धकार को नष्ट कर सकता था।

यज्ञोपवीत का रहस्य :— जैनग्रन्थों में यह भी उल्लेख है कि श्रावकगण इस काकिणी रत्न को तीन रेखाओं से चिन्हित किए जाते थे। वे आत्मगुणों का बोध देने के कारण 'माहन' से क्रमशः बाद में ब्राह्मण कहलाने लगे और काकिणीरत्न की तीन रेखाओं के बदले यज्ञोपवीत[2] धारण करने लगे।

---

[2] श्रावकाः काकिणीरत्नमालंब्यन्त तथैव हि। २४२
-- जितो भवानित्यादुच्चैर्माहनास्ते ततोऽभवन् ॥२४३
-- क्रमेण माहनास्ते तु ब्राह्मणा इति विश्रुताः।
काकिणीरत्नरेखास्तु प्रापुर्यज्ञोपवीतताम् ॥त्रि. ६, २४८

[1] हस्तिरत्नं समारूढः प्रगृढप्रौढविक्रमः।
अधायथौ तमिस्रायां नरेन्द्रश्चन्द्रमा इव ॥
मूर्धस्थेन शिखाबन्धेनेव येन कदापि हि।
उपसर्गा न जायन्ते तिर्यग्नरसुरोद्भवाः ॥
अन्धकारमिवाशेषं येन दुःखं प्रणश्यति।
शस्त्रघाता इव रुजः प्रभवन्ति न येन च ॥
नृपो यक्षसहस्रेणाधिष्ठितं चतुरंगुलम्।
उद्योतकं भास्करवन्मणिरत्नं तदाददे ॥
दक्षिणे कुम्भिनः कुम्भस्थले सोऽरिनिषूदनः।
पूर्णकुम्भ इव स्वर्णपिधानं निदधे च तत् ॥
चतुरङ्गचमूचक्रयुक्तश्चक्रानुगस्ततः।
प्रविवेश गुहाद्वारं केशरीव नृकेशरी ॥
सर्वदाधिष्ठितं यक्षसहस्रेणाष्टकर्णिकम्।
योजनानि द्वादशाध्वलाघवकारणम् ॥
अधिकरिणीसंस्थानं सूर्यचन्द्रानलप्रभम्।
नृपतिः काकिणीरत्नं चतुरङ्गुलमादधे ॥
(त्रि. सर्ग-४ श्लोक २६६ से ३०७)

वास्तव में काङ्किणी रत्न की तीन रेखाएं या तीन सूत्र ऋषभशिव के आदेशानुसार आदिनाथ भरत(ब्रह्मा) द्वारा स्थापित ब्राह्मणों के स्थापना-पालना विनाश— इन तीन कर्तव्यों के सूचक हैं क्यों कि सन्तान भी पितानुगामी हुआ करती है। अर्थात् नवीन दिव्यगुण-स्वभाव-संस्कारादि की स्थापना, प्राचीन जर्जरित हुए संस्कारादि का विनाश और नवीन ग्राह्य गुणादि की पालना अथवा स्थिरता— यह तीनों ब्राह्मणों के भी कर्तव्य हैं जिनका उल्लेख पहले भी 'त्रिपदीय ज्ञान' के प्रसंग में किया जा चुका है (दे० पृ० २२)। तात्पर्य है कि यह काङ्किणी रत्न कोई ऐसी स्थूल वस्तु नहीं थी जिससे गिलहरी की भाँति पीठ पर तीन रेखाएं दाग दी जाती हों, अपितु वह तो ज्योतिर्लिङ्गम् शिव का स्मरणीय चिन्ह मात्र है। अतः आधुनिक ब्राह्मणों या जैन ग्रन्थों में वर्णित श्रावकों के तीन सूत्र या रेखाएं भी ऋषभशिव के तीन ज्ञान सूत्रों या आज्ञा रेखाओं के सूचक हैं।

अन्यान्य रत्न :— भरत(ब्रह्मा) के अन्यान्य रत्नों के वर्णन-प्रसंगों से भी स्पष्ट हो जाता है कि भरत ने कोई हिंसक युद्ध नहीं किया था। इस बात की पुष्टि में यहाँ त्रिषष्टि से दो एक उद्धरण और दे कर इस प्रसंग को समाप्त किया जाता है। →

"(जब) आकाश में फिरते हुए सूर्यबिम्ब की तरह हजार (आत्मरूप) यक्षों से अधिष्ठित (विश्वनाटक रूपी) चक्ररत्न सेना के आगे-आगे चलने लगा तो (आदेशरूपी) दण्डरत्न को धारण करने वाला 'सुषेण' नामक (बुद्धि रूप) सेनापति (मनरूपी) अश्व रत्न के ऊपर चढ़ कर (अर्थात् चञ्चल

मन को बुद्धि द्वारा संयत कर के) चक्र की तरह आगे-आगे चला। (ज्ञान) सेना के लिए हर मुकाम पर (आत्मा-का ध्यान रूपी) दिव्य भोजन कराने में समर्थ (ऋषभाचल स्वरूप) गृहपति रत्न अन्नशाला की भाँति चल पड़ा।--चक्रवर्ती के सब स्कन्धावारों के प्रमाण और विस्तार की शक्ति वाला होने से अपूर्व (ज्ञानबीजरूप) चर्मरत्न और (योग रूपी) छत्ररत्न महाराजा के साथ चले। अपनी कान्ति से सूर्य और चन्द्रमा की तरह (अज्ञान) अंधकार को नाश करने में समर्थ (ज्योतिर्लिङ्गम्) काकिणीरत्न और (स्वात्मरूप) मणिरत्न (अर्थात् स्वयं आत्मरूप भरत) भी साथ चलने लगे। (१) ×

"जिस तरह उत्तर दिशा की हवा से मेघ बढ़ता है उसी ~~स्पष्टं तत्र~~ तरह भरत चक्रवर्ती के (बुद्धि रूपी) हस्त-स्पर्श से (ज्ञानबीजरूपी) चर्मरत्न बारह योजन बढ़ गया। (संसार-) सागर के बीच में जमीन हो, इस तरह जल के ऊपर रहने वाले चर्मरत्न पर महाराज

---

(१) तत्सैन्याग्रेसरं यक्षसहस्राधिष्ठितं ततः।
चक्ररत्नमभूद्बिम्बं भानोरिव नभश्चरम्॥
दण्डरत्नधरो वाजिरत्नमारुह्य तत्परः।
नाम्ना सुषेणः सेनानीरत्नं चक्रमिवाचलत्॥
निःशेषशान्तिकलिधौ शान्तमंत्र इवाङ्गवान्।
पुरोधारत्नमचलत्समं वसुमतो भुजा॥
सैन्ये पत्याज्ञयं दिव्य भोजनोपादनक्षमम्।
अचालीद्गृहरत्नं च सत्रशालेव जङ्गमा॥
-- चचाल चर्मरत्नं च छत्रत्रयमिवाद्भुतम्।
चक्रिणः सकलस्कंधावारविस्तारशक्तिमत्॥
रत्ने च मणिकाकिण्यौ ध्वान्तविध्वंसनक्षमे।
सह प्रचेलतुर्भाभिः सूर्याचन्द्रमसाविव॥ त्रि.श.पु.च. ६, ४० से ४६

सेना समेत रहे। फिर प्रवाल या मूँगों से जिस तरह क्षीरसागर शोभता है उसीतरह सुन्दर कान्तिमयी सोने की ६६ हजार (आत्म-किरण रूप) शलाकाओं से शोभित, नाल से कमल की तरह छेद और गांठों से रहित, सोने के (स्मृति रूप) दण्ड से सुन्दर और (अज्ञानरूपी) जल, (कुसंगकी) हवा, (दुःखों का) ताप और (विकर्मों की) धूल से रक्षा करने मे समर्थ (योगरूपी) छत्ररत्न राजा के छूने (अर्थात् स्मृति) मात्र से चर्मरत्न की तरह बढ़ गया। उस (योगरूपी) छत्रदण्ड के ऊपर (अज्ञान) अन्धकार नाश करने के लिए सूर्य के समान तेजस्वी (अपना ज्योतिर्बिन्दु आत्म रूप) मणिरत्न स्थापित किया। छत्ररत्न (अर्थात् योग) और चर्मरत्न (ज्ञान) की वह सम्पुट तैरने वाले अण्डे की तरह दीखने लगा। -- मानों महलों मे रहते हों।

---

(१) स्पृष्टं तच्चक्रिहस्तेन चर्मरत्नमवर्धत।
योजनानि द्वादशोदक् पवनेनेव वारिदः॥
तस्मिन् जलस्योपरिस्थे घनाब्धेरिव भूतले।
चर्मरत्ने समारुह्य तस्थौ राजा ससैनिकः॥
मण्डितं नवनवत्या सहस्रैश्चारुरोचिषाम्।
चामीकरशलाकानां क्षीराब्धिमिव विद्रुमैः॥
व्रणग्रन्थिविहीनेन सरलत्वैकशालिना।
नालेन नलिनीमिव स्वर्णदण्डेन शोभितम्॥
तीयातपमरुद्वेणुत्राणक्षमीमिलापतिः।
पश्पर्श पाणिना छत्रं चर्मवद्ववृधे च तत्॥
छत्र दण्डस्योपरि च ध्वान्तध्वंसकृते नृपः।
तेजसाऽतिनभोरत्नं मणिरत्नं न्यवेशयत्॥
तरदण्डमिवाराजत्सम्पुटं छत्रचर्मणोः।
(त्रि० ५२७ से ५३३, सर्ग ५)

इस तरह जगत्पति भरत (योग रूपी) क्षत्ररत्न और (ज्ञानरूपी) चर्मरत्न के बीच मे परिवार सहित सुख से रहने लगे।[1]

ज्ञानबाण :— जैनग्रन्थों मे वर्णित राजा भरत द्वारा राजदरबारों मे फेंके गए बाण भी भरत के आध्यात्मिक बल से प्राप्त हुए चक्रवर्तित्व के अकाट्य प्रमाण हैं क्यों कि बाण शब्द भी ज्ञान का प्रतीक है। यह तो पहले ही इंगित किया जा चुका है कि कलियुग के अन्त में राजा लोग नहीं रहते; परन्तु उस समय ऋषभशिव से पूर्वकल्प में राजयोग सीखने के फलस्वरूप सतयुग से लेकर कलियुग तृतीयांश तक अपने पूर्वजन्मों मे राज्य करने वाले वे भव्य जीवात्माएँ (देवगण) पृथ्वी तल पर साधारण प्रजा के रूप में अवश्य उपस्थित होती हैं। आत्मिक जीवन[2] को दृष्टि से वर्णन किए जाने के कारण ही ग्रन्थों मे इन रजोगुण[3] प्रधान आत्माओं को राजा कहा गया है। यह भव्य देवात्माएं क्रमशः अनेक जन्मों में पतित होते-होते अन्तिम कलियुगी जन्म में घोर अन्धश्रद्धालु बन कर कर्मकाण्डादि मे अन्धानुकरण करने के कारण अपने-अपने पंथ वा सम्प्रदाय की कट्टरता को ग्रहण कर लेती हैं। ऐसी परिस्थिति मे जब सारी अन्ध-परम्पराओं को नष्ट करने वाला ऋषभशिव का सच्चा ज्ञानबाण जब इन्हें पहले-पहल लगाया जाता है तो अकस्मात् कान मे सुई चुभोने के सदृश इन्हें उद्वेग

---

[2] जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त दैहिक जीवन माना जाता है; परन्तु यहाँ सम्पूर्ण कल्प में आत्मा के कुल जन्मों के आधार पर आत्मिक जीवन माना गया है।

[1] चर्मरत्नरत्नमध्येमध्य जगत्पतिः। (त्रि॰ ४, ४३८)
प्रासादस्य इव स्वस्पोऽवतस्थे सपरिच्छदः॥

उत्पन्न कर देता है, परन्तु बुद्धि रूपी मन्त्री द्वारा जब भलीभाँति विचारपूर्वक समझने की चेष्टा की जाती है तो तत्काल उन्हें ज्ञात हो जाता है कि यह तो साक्षात् परमात्मा ऋषभशिव के ज्येष्ठ पुत्र भरतब्रह्मा का आदेश है। उदाहरण के लिए — "जब मागधपति की सभा में हृदय के भीतर शल्य के समान वह बाण जागिरा तो लाठी की चोट लगने से सर्प जिस तरह क्रुद्ध होता है उसी तरह बाण के गिरने से मागधपति क्रुद्ध हो गया। भयङ्कर धनुष की तरह उसकी दोनों भौंहें चढ़कर गोल हो गईं। जलती हुई आग के समान उसके नेत्र लाल हो गए।[१] -- मागधपति का सारा परिवार जिस समय ऐसी विचित्र कोप की चेष्टाएं कर रहा था, उसी समय (बुद्धि रूपी) मन्त्री ने आकर (जान) बाण को अच्छी तरह देखा। इतने में उसे उसके ऊपर मोती दिव्य मन्त्राक्षर हों, ऐसे उदार और बड़े सारपूर्ण अक्षर दीखे → 'साक्षात् सुरासुर और नरों के ईश्वर ऋषभस्वामी के पुत्र भरत (ब्रह्मा) तुम्हें ऐसा आदेश देते हैं कि यदि (स्वर्गीय) राज्य और जीवन की कामना हो तो हमें अपना सर्वस्व दे कर हमारी सेवकाई करो' ← ऐसे अक्षरों को देखकर मन्त्री ने अवधिज्ञान से सारा मामला समझ लिया। --- गन्ध हस्ती को सूंघ कर जिस तरह दूसरे हाथी शान्त हो जाते हैं उसी तरह मन्त्री की बातें सुन कर और बाण पर लिखे अक्षर देख कर मागधपति का क्रोध

---

① अकाण्डकाण्डपातेन तेन मागधतीर्थराट्।
उच्चैश्चुकोप दण्डाभिघट्टनेनेव पन्नगः ॥११॥
चक्रीकुर्वन् भ्रुवोर्युग्मं कोदण्डमिव दारुणम्।
ददाहेवेक्षुणा तामे दीप्ताग्निविशिखानिव ॥ त्रि. ४, ११२

हवा हो गया।[1]"

ठीक इसी प्रकार वरदामपति, प्रभासपति हिमाचलकुमारदेव, नमि और विनमि के प्रसंग में उल्लेख किया गया है → 'मागधपति की तरह वरदामपति ने भी बाण के ऊपर पूर्वोक्त अक्षर देखे। जिसतरह नागदमनी औषधि से नाग शान्त होता है, उसी तरह उन अक्षरों को पढ़कर वह तत्काल शान्त हो गया और कहने लगा – अहो! मैं मेढक की तरह काले साँप को थप्पड़ मारने को तैयार हो बैठा![2]' × 'बाण को देखते ही प्रभासेश्वर कुपित हुए, परन्तु उस पर लिखे हुए अक्षर देखकर अन्य रस को प्रगट करने वाले नट की

---

② मागधेश्वर इव वरदामेश्वरस्ततः।
तानि तत्राक्षराणीक्षांचक्रे पत्रिणि चक्रिणः॥१७६
तान्यक्षराणि संप्रेक्ष्याहिन्नागदमनीमिव।
वरदामपतिः सद्योपशाम्यदिति चाब्रवीत्॥१७८
मण्डूक इव कृष्णाहेश्चपेटां दातुमुत्सुकः॥त्रि॰ ४,१७६

① इत्यभूच्चित्रसरम्भचेष्टो यावत्परिच्छदः।
तस्य तावदमात्यस्तं सम्यग्बाणं न्यरूपयत्॥१२८
महासाराण्युदाराणि तत्र पत्रिणि मन्त्रिराट्।
दिव्यमन्त्राक्षराणीवेत्यक्षराणि व्यलोकयत्॥१२६
राज्येन यदि वः कार्यं जीवितव्येन वा यदि।
ततः सेवां कुरुध्वं नः स्वसर्वस्वोपढौकनात्॥१३०
इत्यादिशति वः साक्षात्सुरासुरनरेशितुः।
ऋषभस्वामिनः सूनुर्भरतश्चक्रवर्त्ययम्॥१३१
मन्त्री दृष्ट्वाक्षराण्येवं विज्ञायावधिनाचतत्॥त्रि॰ ४/१३२
--- आकर्ण्य मन्त्रिवाचं तां दृष्ट्वा तान्यक्षराणि च।
गंधेभगंधमाघ्राय करीव प्रशशाम सः॥त्रि॰ ४,१३६

तरह तत्काल शान्त हो गए[१]।' × 'बाण हिमाचल कुमार देव के सामने गिरा। अङ्कुश को देखकर मतवाला हाथी जिस तरह कुपित होता है उसी तरह शत्रु के बाण को देख कर उसके नेत्र लाल होगए; परन्तु (ज्ञानी)बाण को (बुद्धिरूपी) हाथ में लेते ही उस पर सर्प के समान, मयूकारक नामाक्षर पढ़कर वह दीपक के समान शान्त हो गया[२]।' × 'तत्पश्चात् भरत ने नमि तथा विनमि नाम के विद्याधरों के प्रति (पूर्व-जन्मकृत कुकर्मों के) दण्ड माँगने वाला बाण फेंका। बाण को देखते ही दोनों विद्याधरपति क्रोधावेश में आकर इस प्रकार मन्त्रणा करने लगे[३]।' ये दोनो विद्याधर लम्बे काल तक ज्ञान का संघर्ष करने के उपरान्त जब अन्त में भरत (ब्रह्मा) के आधीन होते हैं तो पश्चा-ताप के स्वरों में इस प्रकार से निवेदन करते हैं →

'हे ऋषभपुत्र! आज आप को देखने से हम साक्षात् ऋषभदेव को ही देख रहे हैं। हमने अज्ञानतापूर्वक (व्यर्थ तर्कवितर्क करके) आप को जो कष्ट दिया है, उसके लिए

---

③ ततो नमिविनम्योरब्यौ विद्याधरपती प्रति।
प्रजिघाय विशाम्मीशो मार्गणं दण्डमार्गणम् ॥४६८
आलोक्य मार्गणं तं च विद्याधरपती वरौ।
कोपाटोपासमाविष्टावित्थमन्त्रयतां मिथः॥ त्रि-४,४८६

② शरः स गत्वा हिमवत्कुमारस्य पुरोऽपतत् ॥४६८
स समालोक्य तं बाणमारां व्याल इव द्विपः।
कोपादजनि तत्कालं लोहितायतलोचनः॥४६६
स करेण गृहीत्वेषुं तत्र नामाक्षराणि च।
दृष्ट्वा शमं ययौ दीप इव पन्नगदर्शनात्॥ त्रि०४,४७०

① क्रुद्धः सोऽपि शरं प्रेक्ष्य प्रेक्ष्य तत्राक्षराणि च।
सद्योऽशाम्यन्नट इव प्रादुष्कृतरसान्तरः॥ त्रि०४,२०५

क्षमा कीजिए। जिस तरह पहले हम (भगवान) ऋषभ (शिव) के दास थे उसी तरह अब से हम आप के सेवक हुए।'① यहाँ तात्पर्य यह है कि ये नमि विनमि नाम के भव्य जीव पहले भी भगवान को तो दृढ़ निश्चय पूर्वक मानते ही थे किन्तु उनके परकायप्रवेश के रहस्य को न जानने के कारण भरत (ब्रह्मा) की अवहेलना किया करते थे।

अज्ञानान्धकार# रूपिणी# तमिस्रा गुफा :—

'योगबल द्वारा ही विश्व की बादशाही प्राप्त होती है।' इस बात का और अधिक स्पष्टीकरण करने के लिए सम्पूर्ण अहिंसक भरत (ब्रह्मा) के दिग्विजय प्रसंग से सम्बन्धित कलियुग-अन्त कालीन घोर अज्ञानान्धकार रूपिणी तमिस्रा गुफा का संक्षिप्त वर्णन करना अत्यावश्यक है। → 'गुफा के दोनों ओर एक एक योजन के फासले पर एक के बाद एक अनुक्रम से गोमूत्र के सदृश इधर-उधर (ज्ञानयोगाश्रम-) मण्डल मण्डल लिखते हुए (वास्थापित करते हुए) चक्रवर्ती चलने लगे। प्रत्येक (आश्रम-) मण्डल ५०० धनुष के विस्तार वाला तथा एक योजन तक (ज्ञान-) प्रकाश करने वाला था। वे सब गिनती में ४९ हुए।② ---(सृष्टि-) चक्रा-

② गोमूत्रिकाक्रमात्तेन स गुहा पार्श्वयोर्द्वयोः।
योजनान्ते योजनान्ते मण्डलान्यालिखन् ययौ॥३०८
धनुःपंचाशतानामान्यैकैकमेकयोजनम्।
उद्योतकारीण्येकोनपञ्चाशत्तानि जज्ञिरे॥त्रि० ४, ३०९

⓪ भगवान ऋषभशिव को ४९ जोड़ली सन्तानों द्वारा ही इन ज्ञानयोगाश्रमों का सञ्चालन किया जाता है।

① नमो भगवान् साक्षादद्य दृष्टस्त्वमार्षभे।
अज्ञानाद्वोधितोऽस्माभिः कुलस्वामिन् सहस्वनः॥
ऋषभस्वामिनो भृत्यौ पुरा वामधुनातु ते॥त्रि० ४, ५१२-१३

नुगामी राजा भरत के पीछे चलने वाली उनकी (ज्ञान-) सेना (आश्रम-) मण्डलों के (ज्ञान-) प्रकाश से निश्चिंत हो कर चलने लगी। सञ्चार करने वाली चक्रवर्ती की सेना से वह गुफा (कषाय रूप) असुरों की सेना से रत्नप्रभा के मध्यभाग (द्वापर के आरम्भ) जैसी शोभने लगी (अर्थात् उस घोर अज्ञान रूपी गुफा में ज्ञानियों के प्रवेश करने से क्रोधादिक कषायों की कालिमा द्वापर के आदि-काल की भाँति सीमित हो कर रह गई)[१]।--- जिस (अज्ञान गुफा) में भरत (ब्रह्मा) से पूर्व किसी ने भी सञ्चार नहीं किया था ऐसी गुफा का मार्ग मानो (सर्व-गम्य) राजमार्ग बन गया[२]।--- चलते-चलते राजा उन्मग्ना (= पश्चिमी सभ्यता की बुद्धिवादी भौतिकता) और निमग्ना (पूर्वी सभ्यता की कोरी भावनामयी अश्रद्धा ध्यातिमकता) नाम की दो नदियों के निकट पहुँचे। उनमें से (भौतिकवादी) उन्मग्ना नदी में (हृदय हीन बुद्धिवादी - नास्तिकों रूपी) पत्थर तुम्बी की तरह तैरते थे (अर्थात् सामाजिक सम्पन्न स्थिति में मूर्धन्य रहते थे) और (अंधी आध्या-त्मवादी) निमग्ना नदी में तुम्बी (की तरह पोथी श्रद्धा और थोथे विश्वास को धारण करने वाली भक्तमाल) भी पत्थर की तरह डूब जाती थी। वे दोनों (भौतिकवादी और भक्तिवादी) नदियाँ (अज्ञान रूपिणी) तमिस्रा गुफा की पूर्व भित्ति (भारतदेश) से ही निकलती हैं और

---

② जज्ञे पुरीषपथ इव सरिवलोऽपि गुहापथः ॥ त्रि० ४, ३१४

① मण्डलानां प्रकाशेन तेनापस्खलिता चमूः।
सञ्चचार सुखं चक्ररत्नानुगनृपानुगा ॥ ३११
सा गुहा सञ्चरन्तीभिश्चमूभिश्चक्रवर्तिनः।
असुरादिबलैः रत्नप्रभामध्यमिवाबभौ ॥ त्रि० ४, ३१२

और पश्चिम भित्ति के बीच में हो कर सिन्धु नदी में मिल जाती है। उन नदियों के ऊपर मानो वैताल कुमार देव की विशाल एकान्त शैय्या हो, ऐसी एक निर्दोष (आदीश्वर की रहस्यमयी जीवनी रूपा) पुलिया (ज्ञानबीजरूप) वर्धकीरत्न ने शीघ्र ही तैयार कर दी। उस पुलिया के ऊपर अच्छी तरह से जोड़े हुए पत्थर इस तरह से लगाए गए थे जिससे सारी पुलिया और ऊपर की राह एक ही पत्थर से बनी हुई की तरह शोभती थी। हाथ के समान समतल (अर्थात् सुगम्य) और वज्रवत् मजबूत होने के कारण वह पुलिया और राह गुफाद्वार के दोनों (जैन और जैनेतर शास्त्र रूपी) किवाड़ों से बनाई हुई सी जान पड़ती थी (?)। पदातिधि की तरह समर्थ चक्रवर्ती भरत (ब्रह्मा) (ज्ञानियों की) सेना सहित उन दोनों दुस्तर नदियों के पार उतर गए। (ज्ञान) सेना के साथ चलने वाले महाराज (भरतब्रह्मा) अनुक्रम से उत्तर दिशा के मुख जैसे गुफा के उत्तर द्वार के पास पहुँचे। उसके दोनों किवाड़ (अंधश्रद्धा और अंधविश्वास) मानो (पहले वाले) दक्षिणी दरवाजे के (जैन और जैनेतर शास्त्र रूपी) किवाड़ों का शब्द सुनकर भयभीत हो गए हों इस तरह आप से आप खुल गए। --- पीछे सूर्य जिसतरह बादलों में से निकलता है

---

(0) देवाधिदेव ऋषभशिव ही सर्वप्रथम सिन्धहैदराबाद में ऋग्वेदप्रसिद्ध सिन्धु के रथ (दे॰पृ॰१३१) ब्रह्माभरत द्वारा शुद्धज्ञान देकर एकदूसरे के प्रतिकूल बहने वाली भौतिकवादी और भक्तिवादीनदियों का समन्वय करते हैं।

(0) आज भी कुछ भारतीयों द्वारा अमेरिका आदि भौतिकवादी पश्चिमी देशों में भी अंधी भक्ति की गंगा बहाई जा रही है।

इसतरह सर्वप्रथम चक्रवर्ती का अग्रगामी चक्र गुफा में से निकला (अर्थात ५९००० वर्षीय विग्रहनाटक चक्र को प्रत्यक्षता हुई), फिर पाताल में से निकले बलीन्द्र की तरह भरत (ब्रह्मा) को प्रत्यक्षता हुई।

(१)-- नृपः प्राप्तदण्डोत्सृज्यानिमग्ने नाम निम्नगे ॥ क्षुद्र ३१६
याम्योदग्भरतक्षेत्रार्द्धमध्यासागच्छतां नृणाम् ।
आज्ञालेखे इव कृते ते नद्यौ क्षुद्धैतोऽद्रिणा ॥ ३१७
तुंबीफलमिवैवास्यामुन्मज्जति शिलापि हि ।
शिलेव तुंबीफलमप्यन्यस्यां तु निमज्जति ॥ ३१८
तमिस्रायाः पूर्वभित्तेर्निर्गतिं ते तु गच्छतः ।
भित्तेः प्रतीच्या मध्येन सिंधौ संगममाप्नुतः ॥ ३१९
बबंध वर्द्धकिः प्राच्यामनवद्यां ततस्तयोः ।
वैताढ्याद्रिकुमारस्य रहःशय्यामिवायताम् ॥ ३२०
पद्या क्षणेन सा जेजे चक्रभृद्वर्द्धकैः खलु ।
गेहाकारद्रुमेभ्यो हि कालक्षेपो न वास्तुनः ॥ ३२१
भूयोभिरपि पाषाणैः कृतसुश्लिष्टसंधिभिः ।
रेजे तावत्प्रमाणैकपाषाणघटितेव सा ॥ ३२२
सा पाणिवत्समतला वज्रवच्च दृढीयसी ।
गुहाद्वारकपाटाभ्यामिवालक्ष्यत निर्मिता ॥ ३२३
ससैन्योपि सुखेनैव निम्नगे दुस्तरे अपि ।
समर्थः पदवीविद्धचक्रवर्त्युत्तितार ते ॥ ३२४
गुहायामुत्तरद्वारमुत्तराशामुखोपमम् ।
सह चम्वा क्रमाद्गच्छन्नासदन्मेदिनीपतिः ॥ ३२५
आकर्ण्याघातनिर्घोषं याम्यद्वारकपाटयोः ।
भीतानिवोज्झघटाते तत्कपाटौ स्वयं क्षणात् ॥ ३२६
--- अथ प्रथमतश्चक्रं पुरोगं चक्रवर्तिनः ।
निर्जगाम गुहामध्यादभ्रमध्यादिवार्यमा ॥ ३२७
महीयसां महीनाथो गुहाद्वारेण तेन च ।
बलीन्द्र इव पातालविवरेण विनिर्ययौ ॥ त्रि० ४, ३३०

इसी तरह आगे ज्ञानयोग के अन्यान्य पुरुषार्थियों → महारथियों*, हाथीसवारों, घुड़सवारों, यदातियों आदि ← को प्रत्यक्षता का उनके पुरुषार्थ अनुसार वर्णन क्रमशः रथ, हाथी, घोड़े, पैदल आदि के रूप में किया है।

कलियुगी अज्ञानान्धकार रूपिणी तमिस्रा गुफा का भेदन करने के उपरान्त इसी प्रसंग में महाभारत प्रसिद्ध अत्यन्त अभिमानी उन (खसो-योरोपवासी) यादवों का 'अपात' नामक भीलों के रूप में वर्णन किया गया है, जिनके बुद्धि रूपी पेट में से अणुबम रूपी मूसलों (Missiles) की उत्पत्ति प्रमुखतया उन्हीं के आपसी महाविनाश के लिए हुई थी — "वहाँ अपात (अ+पात) (अर्थात् जो कभी न गिरे, न झुकें) नामक दुर्मद (अभक्ष्यभोजी नीच जाति के) भील रहते थे वे पृथ्वी पर रहने वाले दानवों जैसे धनाढ्य, पराक्रमी और महातेजस्वी थे। अनेक बड़ी हवेलियों, शयन, आसन और वाहन एवं बहुत सा सोना-चाँदी होने के कारण कुबेर के गोती भाइयों से दीखते थे। वे बहुकुटुम्बी और बहुत से दास-परिवार वाले थे और देवताओं के वृक्षों के बगीचों की तरह उनका कोई भी पराभव नहीं कर सकता था। बड़े-बड़े गाड़े के भार को खींचने वाले बैलों की तरह वे अनेक (जापान-जर्मनी-नियत्ना आदि) युद्धों में अपनी शक्ति और पराक्रम प्रकाशित करते थे। निरन्तर जब यमराज के समान भरतपति ने उन पर बलात्कार पूर्वक चढ़ाई की तब अनिष्ट सूचक बहुत से उत्पात

---

* 'निरीयुः स्यंदना;' 'निर्ययुर्दन्तिनो;' 'निर्गच्छति स्म वाजिनः;' 'पत्तयोपि विनिष्पेतुः' (त्रि. ४, ३३१ से ३३४)

होने लगे।[1] इसके उपरान्त इन भीलों के महाविनाश का वर्णन है जिसका उल्लेख (पृ० ८६ से ८८) पहले ही किया जा चुका है।

जिनसेनाचार्य ने कलियुगी अज्ञानान्धकार रूपिणी तमिस्रा गुफा का वर्णन इस प्रकार किया है— "तमिस्रा नाम की गुफा (कलियुग रूपी) पहाड़ की चौड़ाई के बराबर लम्बी थी, आठ योजन ऊँची थी और १२ योजन चौड़ी थी। जो अपनी ऊँचाई के बराबर ऊँचे और कुछ अधिक छः योजन चौड़े (षड्आगमयुक्त जैन और जैनेतर शास्त्र रूपी) वज्रमय किवाड़ों के युगल धारण कर रही थी। जिसके दरवाजे का चौखटा (अर्थात् चारों वेद) महामूल्यवान् (ज्ञान-) रत्नों से बना हुआ होने के कारण अत्यन्त देदीप्यमान था जो अपने नीचे (के आधार भाग) से निकलते हुए सिन्धु नदी के (ज्ञान-) प्रवाह से सुशोभित था। (बुद्धि रूपी, भरत के) सेनापति को छोड़कर जिसे और कोई उघाड़ नहीं सकता था। जो (अज्ञान गुफा) यद्यपि जगत की सृष्टि के समान अनादि थी तथापि किसी (माया रूपी रावण या

= ज्ञान और अज्ञान दोनों ही अनादि हैं, परन्तु दिन और रात्रि की भाँति इनका क्रमशः आपेक्षिक कल्प के बाद प्रादुर्भाव और तिरोभाव होता रहता है।

[1] किरातास्तत्र निवसन्त्यापाता नाम दुर्मदा।
आढ्या महौजसो द्वीपा भूमिष्ठा इव दानवाः॥३३६
तेऽविच्छिन्नमहाहर्म्यशयनासनवाहनाः।
अनल्पस्वर्णरजताः कुबेरस्येव गोत्रिणः॥३३७
बहुजीवधनास्ते च बहुदासपरिच्छदाः।
अजाताभिभवा प्रायः सुरोद्यानद्रुमा इव॥३३८
अनेकसम्परायेषु निर्व्यूढबलशक्तयः।
महाशकटभारेषु महोक्षा इवते सदा॥त्रि०प०, ३३६

शैतान) के द्वारा बनाई हुई सी मालूम होती थी। अत्यन्त गम्भीर होने से मुनिलोग जिसे जिनवाणी के समान (अत्यन्त गम्भीर) मानते थे। जो जीवित रहने की आशा के समान लम्बी थी। (आत्मा के) मूर्छा के समान अन्धकारमयी थी, गरमी निकल जाने तथा भीतर का प्रदेश शुद्ध हो जाने से नीरोगावस्था को प्राप्त हुई के समान जान पड़ती थी। प्रसूता की कुटी के समान जिसमें भरत की सेना को छोड़ कर अन्य किसी का प्रवेश करना मना था। सुई की नोक से भी जिसका भेदन नहीं हो सकता ऐसे काजल के समान गाढ़ (अज्ञान) अन्धकार से भरी हुई इस गुफा को देख कर भरत चक्री की (ज्ञान) सेना दूर से भयभीत हो गई थी।(१)---

(१) तमिस्रेति गुहा याऽसौ गिरिव्याससमायतिः।
उच्छ्रिता योजनान्यष्टौ ततोऽर्द्धाधिकविस्तृतिः॥८
वाजं कपाटयोर्युग्मं या स्वोच्छ्रायमितोच्छ्रिति।
दधे पृथक् स्वविष्कम्भसार्धिकद्व्यंशविस्तृतिः॥७
परार्द्ध्यमणिनिर्माणरुचिमद्द्वारबन्धना।
तदधस्तलनिस्सर्पत्सिन्धुस्रोतोविराजिता॥८
अशक्योद्घाटनाऽन्येषां मुक्त्वा चक्रिचमूपतिम्।
तन्निर्गलितत्वाच्च प्रागेव कृतनिर्वृतिः॥९
जगत्स्थितिरिवानाद्या घटितेव च केनचित्।
जैनी श्रुतिरिवोपात्तगाम्भीर्या मुनिभिर्मता॥१०
व्यायता जीविताशेव मूर्च्छेव च तमोमयी।
गतेवोल्लाघतां कृच्छ्रात् मुक्तोष्मा शोधितोदका॥११
कुटीव च प्रसूताया निषिद्धान्यप्रवेशना।
कृतरक्षाविधिर्दीर्घं घृतमल्लसंविधिः॥१२
तामालोक्य बलं जिष्णोः दूरायासीत्ससाध्वसम्।
तमसा सूचिभेद्येन काजलेनेव समृताम्॥१३॥
(महापु० पर्व ३२)

-- भरत ने गुफा की दोनो ओर की दीवालों पर काकिणी (सर्वज्योतिर्लिङ्गम) और अन्त(ज्योतिर्बिन्दु रूप आत्मारूपी) चूडामणि रत्न से एक एक योजन की दूरी पर [10] सूर्य (ऋषभशिव) और [11] चन्द्रमा (ब्रह्माभरत) के (आश्रम) मंडल लिखे। तदनन्तर उन (आश्रम) मंडलों के (ज्ञान) प्रकाश से जिसका सारा (अज्ञान) अन्धकार नष्ट हो गया है ऐसी गुफा के मध्य में (ज्ञानियों की) सेना ने प्रवेश किया। वह सेना सिंधु नदी के प्रवाह के पूर्व तथा पश्चिम की ओर के दोनों मार्गों में सिन्धु के (ज्ञान) जल का उपयोग करती हुई जा रही थी। [1] --- जहाँ पर (भौतिकवादी) उन्मग्नजलानदी, (भक्तिवादी) निमग्न-जलानदी के साथ-साथ, दोनों तरफ की दीवालों के कूडों से निकल कर सिन्धु नदी में प्रविष्ट होती है, उस स्थान पर (सिंध हैदराबाद में) भरत की सेना जा पहुंची। [2] --- इन दोनों में से (अंधी भक्तिवादी) निमग्नजला तो लकड़ी आदि (हल्के पदार्थों) को शीघ्र ही नीचे ले जा रही थी है और दूसरी (भौतिकवादी) उन्मग्नजला प्रत्येक पदार्थ को शीघ्र ही ऊपर को

---

[2] यत्रोन्मग्नजलासिन्धुः निमग्नजलया समम्।
प्रविष्टा तिर्यगुद्देशं तं प्राप बलमौशितुः॥ महापु० ३२।२१

[10] सूर्य और चन्द्रवंशी राजाओं की स्थापना इन्हीं आश्रमों द्वारा होती है।

[1] काकिणीमणिरत्नाभ्यां प्रतियोजनमालिखत्।
गुहाभित्तिद्वये सूर्यसोमयोर्मण्डलद्वयम्॥१५
तत्प्रकाशकृतोद्योतं सज्ज्योतिर्ज्ञातमन्निधिम्।
गुहामध्यमपध्वान्तं व्यगाहत ततो बलम्॥१६
परिसिंधुनदीस्रोतः प्राक्पश्चाच्चोभयोः पथोः।
बलं प्रापज्जलं सिंधोः उपयुज्योपयुज्य तत्॥१७
(महापु० पर्व ३२)

और उछाल रही है। यद्यपि ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, तथापि (ऋषभशिव के पास) यहाँ आकर सिन्धु में मिल रही हैं।① --- माता के गर्भ के समान (गुप्तरीति से) गुहागर्भ में चिरकाल तक निवास कर वहाँ से बाहर निकले हुए सैनिकों (ज्ञानियों) ने ऐसा माना था मानो (द्विजन्मा) दूसरा जन्म ही प्राप्त हुआ हो। सेना को बाहर (विश्व में) प्रगट (या प्रख्यात) करती हुई वह गुहा ऐसी जान पड़ती थी मानो पहले वह बड़ी भारी तृष्णा इस मानवसमूह को निगल गई थी परन्तु पचाने को शक्ति न होने से अब फिर उसे बाहर उगल रही है।② ।

भावुक भरत हिंसक नहीं थे :—

आदीश्वर-चरित्र ग्रन्थों में दिग्विजय प्रसंग से सम्बन्धित, भरतचक्री द्वारा अष्टम भक्त रूप तप किए जाने का, प्रग-पग पर उल्लेख किया गया है जिससे भी सिद्ध होता है कि भरत जैसे भक्तशिरोमणि, भावुक व्यक्ति द्वारा हिंसक युद्ध सम्बन्धी ऐसा नृशंस नरसंहार नहीं किया गया था।③

---

③ (क) चक्रेऽष्टाह्निकोत्सवं।१६४; (ख) चक्रे चाष्टान्हिकोत्सवं।२१४;
(ग) चक्रेऽष्टमतपोऽचालीत्।२३६ (घ) देवस्याष्टाह्निकोत्सवं।२४८
(ङ) पपेदेऽष्टमभक्तं सोऽर्घसिद्धेः।८४ (च) अष्टमभक्तं व्यधात्।१६८
(छ) चक्रेऽष्टमतपः सर्वास्तपोमूला हि सिद्धयः।२८७ & २६६
(ज) चक्रेऽष्टमं कार्यसिद्धेस्तपोमङ्गलमादिमम् [त्रिषष्टिसर्ग ४से]

② अधिशय्य गुहागर्भं चिरं मातुरिवोदरम्।
लब्धं जन्मान्तरं मेने निःसृतैः सैनिकैर्बहिः॥३५
गुहेयमतिगृध्येव गिलित्वा जनतामिमाम्।
जरणाशक्तितो नूनं उज्जगाल बहिः पुनः॥महापु.३२,३६

① एलाऽध: पातयत्यन्या दार्वाद्युत्प्लावयत्यरम्।
मिथो विरुद्धसाङ्गत्ये सङ्गते ते कथञ्चन॥महापु. 32/23

उपरिवर्णित प्रसङ्गों से पूर्णतः सिद्ध हो जाता है कि आदिनाथ भरतब्रह्मा ने योगबल से ही विश्व का साम्राज्य प्राप्त किया था; हिंसक युद्ध से नहीं। यही नहीं, उन्होंने उस समाज्य का पालन भी योगबल से ही किया था। इसी लिए तो हेमचंद्र ने भरत के महाराज्याभिषेकोत्सव प्रसंग में लिखा है- राजा ने पौषधशाला में जाकर अष्टमतप किया क्यों कि (आत्मध्यानरूप) तप से मिला हुआ राज्य तप से ही सुरक्षित रहता है।[1]' यही कारण है कि भरत के सतयुगी राज्य में 'यथा राजा तथा प्रजा' के तपस्वी होने का वर्णन महाभारत आदि वैदिक ग्रन्थों मे अनेकशः आया है।[2]

---

(२) (क) 'ध्यानं परं कृतयुगे' (वायु. ८, ६४)
(ख) 'तपोभिस्तप एव च' (महाभा. शांति. २३२, ३३)
(ग) ता: प्रजा: कामचारिण्यो मानसीं सिद्धिमास्थिता:।
(वायुपु. ८, ४८)

(१) गत्वा पौषधशालायां राजाऽष्टमतपोऽग्रहीत्।
राज्यं तपसाऽऽप्तमपि तपसैव हि नन्दति॥ त्रि. ४, ६७३

प्रकरण-७. मरुदेवा-श्रेयांस आदि के स्वप्न और दान का रहस्य

मरुदेवा के स्वप्नों का रहस्य :— यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि 'मरुदेवा' शब्द कलियुगी भारतभूमि के साथ ही साथ उन भारतीय कन्याओं माताओं के लिए भी प्रयुक्त हुआ है जिन्होंने ऋषभशिव के आदेशानुसार अपने और दूसरों के जीवन को सर्वथा पवित्र और निर्विकारी बनाया था। इन्हीं कन्याओं-माताओं को ऋषभदेव के जन्म अर्थात् प्राकट्य से पूर्व कुछ साक्षात्कार होते हैं जिन्हें जैन परम्परा में स्वप्न कहा गया है, क्योंकि दिव्य साक्षात्कार भी प्रायः स्वप्न के सदृश बंद नेत्रों से ही होता है। इन दिव्य साक्षात्कारों के द्वारा भारतमाताओं को प्रमुखतः ज्योतिर्लिङ्ग म ऋषभशिव, (भरत) ब्रह्मा, सतयुगी स्वर्ग और इनसे सम्बन्धित ब्राह्मणपरिवार की स्थापना आदि का पूर्व परिचयात्मक निश्चय बैठ जाता है। जैनग्रन्थों में वर्णित मरुदेवा के १४ स्वप्नों में से 'बैल', 'हाथी', 'सिंह' और 'चन्द्रमा' ब्रह्मा (भरत) के सूचक हैं; 'सूर्य', 'क्षीरनिधि' और 'निर्धूम अग्नि' ऋषभशिव के अस्तित्व की सूचना देने वाले प्रतीक हैं। इसी प्रकार लक्ष्मी, माला, महाध्वजा, कुम्भ, सरोवर, विमान और रत्नपुञ्ज क्रमशः स्वर्ग की राज्यलक्ष्मी, ब्राह्मणों के संगठन, विश्वविजय, ज्ञानकलश, योगाश्रम, स्वर्ग और देवोंगुणों के पुञ्ज के प्रतीक रूप में प्रदर्शित किए गए हैं। कहने का तात्पर्य है कि भारतमाताओं ने कोई इन स्थूल प्रतीकों का साक्षात्कार नहीं किया था, अपितु परमात्मा ऋषभशिव द्वारा भविष्य में किये जाने वाले विश्वनवनिर्माण का प्रारूप समझने के लिए इन प्रतीकों के अर्थस्वरूप का साक्षात्कार किया था।

उपरियुक्त दृष्टिकोण को अच्छी तरह समझने के लिए यहाँ हेमचन्द्र वर्णित चौदह स्वप्नों का स्वरूपावलोकन आवश्यक प्रतीत होता है। प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ स्वप्न में निराकार ऋषभशिव के साकार मादराम भरत (ब्रह्मा) का बैल, हाथी और सिंह के रूप में वर्णन करते हुए कहा गया है — 'जिस (अज्ञान) रात्रि को च्यवन कर प्रभु माता के गर्भ में आए उस रात को (अज्ञान-) निद्रा में सोई हुई (भारतमाता) मरुदेवा ने चौदह महास्वप्न देखे। उन्होंने उन स्वप्नों में से पहले स्वप्न में एक उज्ज्वल वृषभ देखा जिसके कन्धे पुष्ट थे। पूँछ लम्बी और सरल थी और जो स्वर्णनिर्मित घुँघुरुओं की माला पहने हुए बिजली समेत शरद् ऋतु के समान था। दूसरे स्वप्न में उन्होंने सफेद रंग का क्रमोन्नत निरन्तर झरते हुए मद की नदी से रमणीय, चलते हुए कैलाश जैसा चार दाँत वाला हाथी देखा। तीसरे स्वप्न में उन्होंने पीले नेत्र, दीर्घ जिह्वा और चपल अयालों वाला, शूरवीरों की जयपताका की तरह पुंछ हिलाता हुआ केशरी सिंह देखा।'(१)

---

(१) तत्रावतारयामिन्यां वासागेह प्रसुप्तया।
मरुदेव्या ददृशिरे महास्वप्नांश्चतुर्दश॥२१२
आदौ वृषः सितः पीनस्कन्धो दीर्घर्जुवालधिः।
सस्वर्णकिङ्किणीमालः शरन्मेघ इवोत्तडित॥२१३
दन्तिराजश्चतुर्दन्तः श्वेतवर्णः क्रमोन्नतः।
क्षरन्मदनदीरम्यः कैलाश इव जङ्गमः॥२१४
पिङ्गेक्षो दीर्घरशनः केशरी लोलकेशरः
पताकामिव शूरेषु तन्वन्पुच्छेनच्छलात्॥त्रि२,२१५

यहाँ शुक्लवर्ण वृषभ श्वेतवस्त्र-
धारण करने वाले ब्रह्मा का प्रतीक है (देखिए पृ.१२२)
जिसके पुष्ट कन्धे उत्कृष्टतम पुरुषार्थ के द्योतक
हैं। लम्बी और सबल पूँछ सौभाग्यशाली और यशस्वी
होने की सूचक है। सोने के घुँगुरूओं की माला स्वर्ण-
काल के निर्माता और विजेता होने की प्रतीक है तथा
शरदकालीन मेघ के समान वर्ण उनके धवल यश
का सूचक है। दूसरे स्वप्न में हाथी, कामुकता का
प्रतीक है जिसे निरन्तर झरते हुए वासना रूपी मद
की नदी से रमणीय, चलते हुए कैलाश पर्वत जैसा
कहा गया है। अर्थात् भरत (ब्रह्मा) अपने अन्तिम
कलियुगी जन्म में 'ब्रह्मा' नाम धारण करने से पूर्व
महाविकारी होने से हाथी के रूप में प्रदर्शित किए गए
जिसका श्वेत रंग उनके पूर्वजीवन काल में बगुला
भगत होने का भी सूचक है। पुरुषार्थ में क्रमशः
ऊँचा चढ़ने का स्वभाव प्रदर्शित करने के लिए यहाँ
हाथी को 'क्रमोन्नत' बताया गया है जिसके चार दाँत
पुरुषार्थ चतुष्टय के सूचक हैं। परमात्मा ऋषभशिव
ऐसे ही पतित 'अजामिल' जैसे मानवीय तन मे प्रवेश
कर पतित विश्व का भी उद्धार करते हैं। कल्पसूत्र
पुण्यविजय पृ.१५ में हाथी प्रथम स्वप्न मे दिखाए
जाने का सुरत्य कारण यही है कि ब्रह्मा (भरत) पहले
पतित (महाकामुक) रूप मे होते हैं। इसीप्रकार तीसरे
स्वप्न में सिंहस्वरूप सम्पूर्ण पुरुषार्थी ब्रह्मा को केशरीसिंह
के रूप में दिखाया है जिसके पीले नेत्र ब्रह्मा के रजोगुणी
स्वभाव के सूचक हैं। ब्रह्मा (भरत) को त्रिलोकी को हड़पने
की आकांक्षा ही दीर्घजिह्वा तथा उनका अस्खलित
पराक्रम ही सिंह की चपल अयालों के रूप में

प्रदर्शित किया गया है। शूरवीरों की जयपताका की तरह हिलती हुई सिंह की पूँछ गीता वर्णित अर्जुन अर्थात् अखंड भरत की पूर्वनिश्चित विजय की सूचक है।

सातवें, ग्यारहवें और चौदहवें स्वप्न में ऋषभशिव के प्रतीकों का क्रमशः (ज्ञान-)सूर्य, (सुख) सागर और अग्नि के रूप में इस प्रकार वर्णन किया गया है — 'सातवें स्वप्न में (भारत) माता मरुदेवा ने (कलियुगी अज्ञान-)रात्रि में भी तत्काल दिन का भ्रम करने वाले, सम्पूर्ण (अज्ञान-) अन्धकार के नाशक, फैलती हुई अर्थात् विकसित होती हुई (आत्म-रूप) किरणों वाले (ज्ञान-)सूर्य (ज्योतिर्लिङ्गम् ऋषभशिव को) देखा।[1]' × 'ग्यारहवें स्वप्न में (शक्ति स्वरूप से) पृथ्वी पर फैला हुआ, शरदृतु के मेघ की लीला को चुराने वाला अर्थात् यशस्वी और उत्ताल (ज्ञान-) तरङ्ग-समूह से चित्त को प्रसन्न करने वाला क्षीरसागर (अर्थात् आनन्दसागर परमात्मा ऋषभशिव को) देखा।[2]' × 'चौदहवें स्वप्न में) त्रिलोकी के तेजस्वी पदार्थों के पिण्डीभूत हुए तेज के समान प्रकाशमान निर्धूम अग्नि को मुख में घुसते हुए देखा' (दे० पृ० १५० पाटि० १)।

चौथे स्वप्न में अनासक्त व निर्विकार नेत्रों की सूचक कमलनयनी पद्मनिवासिनी सरस्वती अर्थात् ब्रह्मा-पुत्री ब्राह्मी का वर्णन है जिसके अगल-बगल अपनी सूंड़ों में पूर्ण (ज्ञान-) कलश उठाए हुए दिग्गज शोभित हैं। यह सरस्वती ही सतयुग में महारानी लक्ष्मी का पद पाती हैं।

---

[2] भुव्यास्तीर्णशरन्मेघमालालीलामलिम्लुचैः।
उद्वीचिनिचयैश्चेतोऽभिरामाः क्षीरनीरधिः॥त्रि० २/२२

[1] निशायामपि तत्कालं वासरभ्रमकारकः।
सर्वान्धकारच्छिदुरः स्फुरद्द्युतिरहर्पतिः॥त्रि० २, २१६

अतः उन्हें यहाँ लक्ष्मी रूप में प्रदर्शित किया गया है।[1] पाँचवें स्वप्न में मस्तक पर वहनीय अर्थात् पूज्य, माला हो संगमयुगी संगठित ब्राह्मण परिवार को सूचक है जिसका सीधा होना ब्राह्मणों के भोलेपन और सरलस्वभाव का परिचायक है। वह लम्बी है अर्थात् चला सुखवंशावली ब्राह्मणों का परिवार छोटा भी नहीं है। (सतयुग-त्रेतायुग रूपी) वृक्षों के (भव्यजीव रूपी) फूलों से यह माला (ज्ञान) सूत्र द्वारा गूंथी जाती है। यह माला चढ़ाए हुए धनुष के समान है अर्थात् अब इसके तैयार होने में देरी नहीं है, मानो तैयार हो है।[2] छठे स्वप्न में वर्णित चन्द्रमण्डल भी ब्रह्मा (भरत) के प्रतीक चन्द्र और उसके चारों ओर मंडल बना कर रहने वाले ब्रह्ममुखवंशावली ब्राह्मणों के संघ का प्रतीक है। यह चन्द्रमण्डल मरुदेवा के मुख के प्रतिबिम्ब समान बताया गया है क्योंकि ~~भले~~ आनंद के कारण स्वरूप ~~ब्राह्मण~~ ब्राह्मण हो तो भारत के सिरमौर हैं जो सतयुग में १६ कला सम्पूर्ण, सर्वगुण सम्पन्न, सम्पूर्ण अहिंसक मर्यादा पुरुषोत्तम देव पद पाकर अपनी कांति समूह से दिशाओं को प्रकाशित करते हैं।[3] आठवें स्वप्न में वर्णित महाध्वजा ब्रह्मा (भरत) के धर्मध्वज तथा दिग्विजयी होने का प्रतीक है, जो ज्ञानघुघुरियों की परम्परा रूपी लड़ी से भारयुक्त है।[4] नवें स्वप्न में ज्ञानजल से

---

④ किङ्किणीमाल भारिण्या प्रचलन्त्या पताकया। त्रि॰ २,२२०

③ निजाननप्रतिच्छन्दमिवानन्दनिबन्धनम्।
कान्तिपूरद्योतिताशामण्डलं चन्द्रमण्डलम्॥ त्रि॰ २,२१८

② नानाविधामरतरुप्रसून परिगुंफितम्।
दामप्रलम्बधन्वेव मञ्जु रोहितधन्वनः॥ त्रि॰ २,२१७

① देवी च पद्मनिलया पद्मसदृग्विलोचना।
दिक्कुञ्जरकरोत्क्षिप्तपूर्णकुम्भोपशोभिता॥ त्रि॰ २,२१६

भराहुआ स्वर्णकुम्भ प्रसन्नचित्त और अनासक्त ब्राह्मणों रूपी खिले हुए कमलों से अर्चित है। वैदिक ग्रन्थों से सागरमन्थन वृत्तान्त में वर्णित अमृतकुम्भ से इस ज्ञान-कुम्भ की तुलना की गई है यद्यपि दोनों ही जगह इस (१) एक ही ऋषभकालीन ज्ञानकलश का वर्णन किया गया है। दसवें स्वप्न में पद्मसरोवर द्वारा इस ब्राह्मणस्थली (मुख्यालय अथवा समवसरणस्थली) का वर्णन है जहाँ से निकल कर अनेक ब्रह्ममुखवंशीय ब्राह्मण मानो अर्हन्त (शिव) की स्तुति के लिए बहुमुखी सरोवर हों इस तरह भ्रमरों के सदृश विभिन्न स्थानों पर जा कर ज्ञान की गुञ्जार करते हैं। वह ज्ञानयोगाम्भ रूपी सरोवर निर्लिप्त ब्राह्मणरूपी कमलों से सुशोभित था (२)। बारहवें स्वप्न में स्वर्ग के प्रतीक विमान का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह प्रभूत-कान्तिमान था और ऐसा जान पड़ता था मानो भाग्यवान् ब्रह्मा भरत के देवत्वपने में, उसमें निवास करने के कारण वह पूर्वस्नेह के कारण वहाँ (संगमयुग में) आया हो (३)। १३वें स्वप्न में अपने सम्पूर्ण पुरुषार्थ को प्राप्त हुए उन ब्रह्मण ऋषियों के समूह का रत्नपुञ्ज रूप में वर्णन है जो सूक्ष्म, पञ्चाशनीय शरीर धारण कर आकाश में तैरते हैं → मरुदेवा ने किसी कारण से एकत्र हुए (आत्मा रूपी) सितारों के समूह और एकत्र हुई निर्मल कान्ति के समूह जैसा

---

(३) यत्रोषितोऽभूद्भगवान् देवत्वे तदिवागतम्।
इहापि पूर्वस्नेहेन विमानमभितद्युति ॥त्रि०२,२२४

(२) स्तोतुं तमाद्यमर्हन्तं पद्मैर्भृङ्गनिनादिभिः
अनेकवदनीभूत इव पद्माकरो महान्॥ त्रि०२,२२२

(१) अम्भः कुम्भः शान्तकुम्भः स्मेराम्भोजार्चितानन:।
अम्भोधिमथनोद्गच्छत्सुधाकुम्भसहोदर॥ त्रि०२,२२१

रत्नपुञ्ज आकाश में देखा।[1] यहाँ रत्नपुञ्ज का अर्थ सर्वगुण-रत्नों के पुञ्ज परमात्मा ऋषभशिव भी हो सकता है जो अलोकाकाश में एकत्रित आत्मा रूपी सितारों के समूह में ही रहते हैं।

~~श्रेयांस आदि के स्वप्न और दान का रहस्य~~ :—

गजपुर निवासी श्रेयांस का अर्थ :— 'श्रेयस' (अतिशयेन प्रशस्यं ईयसुन्) शब्द अतिशय प्रशंसनीय, परम कल्याण-कारी, मोक्षदाता परमात्मा ऋषभशिव का वाचक है क्योंकि वही हम सब मनुष्यों के श्रेय और प्रेय हैं। इस प्रकार 'श्रेयांश' (श्रेय + अंश) शब्द का वास्तविक अर्थ उन ब्रह्मासुरवंशावली श्रेष्ठ आत्माओं से है जो सतयुग के आदि में देवपद प्राप्त करते हैं। वस्तुतः यही जैन ग्रन्थों में वर्णित भव्य जीव हैं जो सतयुगी स्वर्ग से ले कर कलियुगी नर्क तक क्रमशः आदिनाथ ब्रह्मा भरत के जीव के साथ जन्म-मरण के अनादि चक्र में घूमते हैं। इस बात का समर्थन त्रिषष्टि में इस प्रकार है — 'जिस तरह से सेवक एक गाँव से दूसरे गाँव को जाता है उसी तरह स्वर्ग और मृत्युलोक में बारीबारी से आठ जन्मों तक मैं प्रभु के साथ रहा हूँ।'[2] यद्यपि कलियुगी अन्तिम जन्मों में प्रायः इन जीवों का सान्निध्य नहीं रहता फिर भी अन्तिम जन्म में संयोगवश मिलाप होने से ये भव्य जीव पूर्व-जन्मों के संस्कारवश भरतब्रह्मा के अटूट सहयोगी बन जाते हैं। इनमें से कुछेक को छोड़ कर अधिकांश अपने

---

② अमुना स्वामिना सार्धमष्टौ जन्मान्तराण्यहम्।
भृत्यो ग्रामान्तरादीव पर्याटं स्वर्गमर्त्ययोः॥ त्रि. ३/२२१

① कुतोऽप्येकत्रमिलितस्तारकाणामिवोत्करः।
रत्नपुञ्जो महान् व्योम्नि पुञ्जीभूतामलद्युतिः॥ त्रि. २, २२५

अन्तिम जन्म में भारतवासी हो हुआ करते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में भी कलियुगी भारत को ही गजपुर कहा गया है क्योंकि हाथी अपनी कामवासना और देहाभिमान के प्रतीक रूप में प्रसिद्ध है। अन्य देशों की भेंट में कलियुग के अन्त में अधिक जनसंख्या वाले, भारतीय ही महाविलासी बन जाते हैं; अतः कलियुग के अन्तकालीन अतिशय कामवासना वाले मनुष्य रूपी हाथियों के मुख्य पुर को 'गजपुर'(१) कहा गया है जहाँ श्रेयांस देव निवास करते हैं।

ऋषभशिव का दिव्यावतरण होने पर मरु-देवा भारतमाता की भाँति ही इन श्रेयांसकुमारों या ब्रह्मावर्त्तों के साक्षात्कारों का वर्णन जैन ग्रन्थों में स्वप्न के रूप में इस प्रकार किया गया है। — (श्रेयांसकुमार ने स्वप्न में देखा) मैंने चारों ओर से श्यामरंग हुए सुवर्णगिरि को दूध के घड़े से अभिषेक कर उज्ज्वल कर दिया।'(२) यहाँ कलियुग के अन्त में विकारों की कालिमा से पूर्णतः श्यामरंग हुए सतयुगी स्वर्णिम भारत को श्रेयांश (ब्रह्मावर्त्तों) द्वारा (ज्ञान) दुग्ध से पुनः सत्त्वप्रधान-शुक्ल-वर्ण बनाने का वर्णन किया गया है। तात्पर्य है कि विकारों की अग्नि से दग्ध हुए होकर भिरवमंगा बने हुए भारत की कलंक कालिमा को सच्चे ब्रह्मासुरवंशीय ब्राह्मण ही धोते हैं। × 'सुबुद्धि नामक सेठ ने स्वप्न देखा कि (ज्ञान) सूर्य (ऋषभशिव) से गिरी (च्यवित) हुई हजार (असंख्य)(३) किरणें (बिन्दुरूप आत्माएं) श्रेयांसकुमार ने फिर सूर्य में

---

(३) सुबुद्धिश्रेष्ठिनाऽद्यैक्षि गोसहस्रं रवेश्च्युतम्।
श्रेयांसेनाहितं तत्र ततोऽक्षोभ्यति भासुरः॥ त्रि॰ ३, २४६

(२) अपश्यत् स्वर्णगिरिः परितः श्यामलो मया।
अभिषिच्य पयस्कुम्भैर्विहितोऽधिकमुज्ज्वलः॥ त्रि॰ ३/२४५

(१) पुरं गजपुरं प्राप पुरमण्डलमण्डनम्। त्रि॰ ३, २४३

लगा दों।' अर्थात_ सतयुग-आदि से कलियुग- अन्त तक शिवलोक या परमधाम से च्यवित हुई सारी जीवात्माएँ ब्रह्मावंशीय ब्राह्मणों के त्याग और तपस्या के बल से फिर ब्रह्मलोक वापस जाती हैं - ऐसा साक्षात्कार श्रेष्ठबुद्धि वालों (सुबुद्धि) को ही होता है। X

सोमयशा राजा (ब्रह्माभरत) ने स्वप्न मे देखा कि अनेक (विकारादिक) शत्रुओं से चारों ओर से घिरे हुए एक राजा (स्वयं ब्रह्माभरत) ने (अपने) पुत्र श्रेयांश (ब्राह्मणों) की सहायता से विजयलक्ष्मी (दिग्विजय) प्राप्त की।' ऋषभशिव ने इक्षुरससरूपी विषयरस का दान माँगा था।-

इस प्रकार इन स्वप्नों द्वारा यह बताया गया है कि ऋषभशिव इस पतित विकारी सृष्टि का उद्धार इन श्रेष्ठ श्रेयांस नामक भव्य जीवों के सहयोग से ही करते हैं। उनका यह सहयोग कोई धन-धान्यादि स्थूल वस्तुओं से सम्बन्धित नहीं होता क्योंकि भौतिक वस्तुओं के दान से तो भौतिक उन्नति ही सम्भव है; आध्यात्मिक उन्नति के लिए तो पञ्चविकारों का दान ही वैयक्तिक उत्कर्ष के साथ जगत_ का भी उत्कर्ष करता है क्योंकि स्थूल से सूक्ष्म दान, त्याग वा तपस्या में अधिक शक्ति होती है। स्थूल दान करना सरल भी है; परन्तु, पञ्चविकारों का यह सूक्ष्म दान करना विश्व की श्रेष्ठ (श्रेयांश) आत्माओं का ही कार्य है। इस श्रेष्ठ ~~कार्य का~~ दान का महत्त्व ऐसे समय में और ~~भी बढ़ जाता~~

(१) अदर्शि सोमयशसा राज्ञेको बहुभिः पैरः।
रुद्धः समन्ताच्छ्रेयांसः साहाय्याज्जयमीयिवान॥ त्रि.३,२४७

जैसे सूर्य ऋषभशिव का प्रतीक है वैसे ही सोम (चन्द्र) ब्रह्माभरत का प्रतीक है तथा किरणें या सितारे अन्यात्माओं के।

भी बढ़ जाता है जब कि सारा विश्व ही इन विकारों को चपेट में आगया हो। कलियुग के अन्तकालीन ऐसे घोर युग में, जब कि लोग विकारों का त्याग करना तो दूर रहा, इस तरह की बात सुनना भी पसन्द नहीं करते, देवाधिदेव ऋषभशिव को प्रत्येक गाँव नगरादिक में लम्बे समय तक भटकने पर यह श्रेष्ठ दान प्राप्त नहीं होता। हेमाचार्य ने लिखा है — 'पारणे के दिन भी भगवान को कहीं से भीख नहीं मिली क्यों कि लोग उस समय दान के अर्थ को नहीं समझते थे[1] (जैसे कि आज भी नहीं समझते हैं)। भगवान के भक्त होने के अभिमानी लोग प्रभु आगमन का संदेश मिलने पर भी मंदिरों में मात्र ढोंग करने के लिए पवित्रता के परिचायक श्वेत वस्त्र पहन कर (?) 'तुम मात-पिता हम बालक तेरे' (?) का स्तोत्रादि पत्नी सहित पढ़ने के उपरान्त भी घर में आकर नित्यप्रति पापाचरण करते हैं और परमपिता से सम्बन्धित भाई-बहन का नाता तोड़ डालते हैं। भला भगवान से भी ऐसा कपटाचरण करने वाले कच्चे भक्तों से परमपवित्र प्रभु कैसे प्रसन्न होते (?) अतः बड़ी खोजबीन के उपरान्त जब सच्चे भक्त श्रेयांस से प्रसन्न होकर प्रभु ने दान ग्रहण करते हुए उसे सब तरह से कृतार्थ कर दिया तब झूठे और कच्चे भक्तों को बड़ा पश्चाताप हुआ। वे श्रेयांस से कहने लगे — 'हे कुमार! आप धन्य हो और पुरुषों में शिरोमणि हो क्यों कि आप का दिया हुआ रस प्रभु ने ले लिया और हम सर्वस्व देते थे पर प्रभु ने

---

① भगवान पारणाहेऽपि भिक्षां न प्राप कुत्रचित्।
भिक्षादानाऽनभिज्ञो हि तदैकान्तमुजुर्जनः॥ कि ३, ६४

उसे तृणवत् समझ कर अस्वीकार कर दिया। प्रभु हम पर प्रसन्न नहीं हुए। ये एक वर्ष तक गाँव, खदान, नगर और जंगल में घूमते रहे तो भी हममें से किसी का आतिथ्य ग्रहण नहीं किया। इस लिए हम भक्त होने के अभिमानियों को धिक्कार है। हमारे घर में आराम करना एवं हमारी चीज लेना तो दूर की बात है, आज तक वाणी से भी प्रभु ने हमको सम्भावित नहीं किया। जिन्हों ने पहले पूर्वलक्षों तक हमारा पुत्र की तरह पालन किया है वे ही प्रभु मानों हमसे परिचय होने से इस तरह व्यवहार करते हैं।(१)

तात्पर्य है कि प्रभु की प्रसन्नता वही प्राप्त कर पाते हैं जो उनके आने का संदेश पाते ही विकारी संस्कारों की तिलाञ्जली दे कर पवित्र जीवन बिताते हैं। कहते भी हैं— 'जहाँ काम तहाँ राम नहीं, जहाँ राम तहाँ काम नहीं।' अतः परमपवित्र परमात्मा ऋषभशिव का सर्वसुखों की खान स्वरूप सत्-त्रेतायुगी भोगभूमि का आधे कल्प तक क्षय न होने वाला कल्याणकारी वरसा भी विकारों की होली जलाने वाले

(१) भो! भो!! कुमार! धन्योऽसि नृणामपि शिरोमणिः।
यदिक्षुरसलेशोऽपि स्वामिना ग्राहितस्त्वया॥३०६
प्रदीयमानमस्माभिः सर्वस्वमपि नात्तवान्।
नाऽमन्यत्तृणानामपि प्रसन्नोऽस्मासु न प्रभुः॥३०७
संवत्सरमटन् स्वामी ग्रामाकरपुराटवीः॥३०८॥
कस्याप्यादत्त नातिथ्यं धिगस्मान् भक्तिमानिनः॥
दूरेऽस्तु वस्तुग्रहणं दूरे वेश्मसु विश्रमः।
अद्य यावन्न वाचापि स्वामी नः समभावयत्॥३०९
पुत्रवत्पात पूर्वं नः पूर्वलक्षाण्यनेकशः।
असंस्तव इवेदानीं प्रभुरस्मासु वर्तते॥ त्रि॰ ३, ३१०॥

श्रेयांस' पुत्रों को ही प्राप्त होता है। यही कारण है कि आज भी होलिकोत्सव के बाद विकारों का दान करने के फल स्वरूप अक्षय पद को प्राप्त कराने वाली 'अक्षय अक्षयतृतीया' मनाने की परम्परा चली आ रही है। अतः हेमचन्द्र ने भी लिखा है — "वैसाख मास की तृतीया को दिया हुआ वह दान अक्षय हुआ (क्योंकि अन्यदान तो क्षयवान हैं यही एक ऐसा दान है जिससे अर्धकल्प तक अक्षय पद की प्राप्ति होती है) इस लिए वह पर्व अक्षयतृतीया के नाम से अब तक चला आता है।[1] इस प्रकार स्वतः सिद्ध है जैनग्रन्थों में वर्णित इक्षुरस रूपी विषयरस सभी विकारों के मूलभूत और प्रमुखतम कामविकार का सूचक है क्योंकि इक्षुरस की भाँति ही विषयरस भी हड्डियों को निचोड़ कर ही प्राप्त किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त विषयरस पान करने से इक्षुरसपान करने की तरह अल्पकालीन, आपातरमणीय आनन्द ही प्राप्त होता है। अतः जैनग्रन्थों में वर्णित ऋषभदेव का इक्षुरसपान वैदिकग्रन्थों में वर्णित शिव का विषपान कथा का ही अपरूप है।

त्रिषष्टि वर्णित इस कथा का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है — "निर्दोष भिक्षा देने की विधि को जानने वाले श्रेयांसकुमार ने कल्पनीय रस को ग्रहण करने की भगवान से प्रार्थना की। प्रभु ने अंजलि जोड़ कर हाथ रूपी बर्तन सामने किया। उसमें इक्षुरस के घड़े के घड़े ओज-ओज कर खाली किए गए।[1] (अर्थात् इक्षुरस रूपी विषयरस से भरे हुए बुद्धि रूपी

---

① राधशुक्लतृतीयायां दानमासीत्तदक्षयम् ।
पर्वाक्षयतृतीयेति ततोऽद्यापि वर्तते ॥ त्रि० ३, ३०१

अनेकानेक घड़ों के खाली करने से तात्पर्य है, न कि स्थूल घड़ों से नहीं)। भगवान के हस्तपात्र में बहुत सा रस समा गया। भगवान की अञ्जलि में जितना रस समाया उतना हर्ष श्रेयांस के हृदय में नहीं समाया (?) आकाश में जिसकी शिखाएं लग रही हैं ऐसा रस मानो स्वामी की अञ्जलि में (वैदिक ग्रन्थों में वर्णित शिव के गले में विष की भाँति) ठहर गया हो, इस तरह स्तम्भित हो गया क्यों कि तीर्थंकरों का प्रभाव अचिंत्य होता है (मानों वे कोई बाजीगरों का खेल दिखा रहे हों (?)) प्रभु ने (तो) उस रस से पारणा की (परन्तु) सुर, असुर और मनुष्यों के नेत्रों ने उनके दर्शन रूपी (योग) अमृत से पारणा किया (अर्थात् ऋषभशिव के सिवाय अन्य किसी में, जगत् का क्षय करने वाले उस इक्षुरस रूपी विषय विष को पान करने की सामर्थ्य नहीं थी)। इस समय मानो श्रेयांस के कल्याण की ख्याति करने वाले चारण भाट हों इस तरह आकाश में प्रतिनाद से बढ़े हुए (ज्ञान) बाजे बजने लगे (अर्थात् विकारों का त्याग करने पर ही ज्ञान के बाजे बजते हैं, अन्यथा अज्ञान की क्रां-क्रां ही होती रहेगी क्योंकि विकारी बुद्धि में ईश्वरीय ज्ञान नहीं टिकता) --- प्रभु के पारणे और उस समय की (ज्ञान-) रत्न वृष्टि देख कर विस्मित हुए (?) राजा और नगरनिवासी श्रेयांस के महल में आने लगे। --- श्रेयांस ने उन्हें (दान का रहस्य समझाते हुए) इस प्रकार कहा — जो हिंसक होते हैं वही सजीव फलादिक ग्रहण करते हैं, परन्तु ये प्रभु तो समस्त प्राणियों को अभयदान देने वाले

⇒ यहाँ विकारों का त्याग करने वाले श्रेयांस के सीमाहीन अतीन्द्रिय सुख की ओर संकेत किया गया है।

हैं; अतः ये उन्हें क्यों लेने लगे? ये तो केवल एषणीय, कल्पनीय और प्रासुक अन्न आदि को ग्रहण करते हैं। परन्तु तुम मूढ लोग इन बातों को नहीं जानते।'

यहाँ 'सजीव' शब्द द्वारा स्पष्ट किया गया है कि हवा, पानी, स्वादिक सभी वस्तुएं जीवयुक्त हैं जिन्हें संसार की सभी जीवात्माएँ ग्रहण करती हैं। इसप्रकार सृष्टि की सभी देहधारी जीवात्माएँ

---

(१) ततो विज्ञातनिर्दोषभिक्षादानविधिः सतु।
गृह्यतां कल्पनीयोऽयं रस इत्यवदद्विभुम् ॥२६१
प्रभुरप्यञ्जलीकृत्य पाणिपात्रमधारयत्।
उत्क्षिप्योत्क्षिप्य सोऽपीक्षुरसकुम्भान लोठयत ॥२६२
भूयानपि रसः पाणिपात्रे भगवतो मनौ।
श्रेयांसस्य तु हृदये ममुर्न हि मुदस्तदा ॥२६३
स्त्यानो नु स्तम्भितोन्वासीत् व्योम्निलग्नशिरोंऽसः
अङ्गलौ स्वामिनोऽचिन्त्यप्रभावाः प्रभवः खलु ॥२६४
ततो भगवता तेन रसेनाकारि पारणम्।
सुरासुरनृणां नेत्रैः पुनस्तद्दर्शिनामृतैः ॥२६५
दिवि दुंदभयो नेदुः प्रतिनादोन्मदिष्णवः।
श्रेयांस श्रेयसां ख्यातिकरा वैतालिका इव ॥२६६
रत्नवृष्टिरभूच्छ्रेयांसौकसि त्रिदिवौकसाम्।
रोमाञ्चानन्दसम्भूतजलनेत्राश्रुवृष्टिभिः ॥२६७
स्वामिपारणकादृत्य सम्पाताच्चाप्य विस्मिताः।

अधिक अथवा अल्प अंश में हिंसक ही हैं; परन्तु सदा-सर्वदा कर्मबन्धनरहित होने से कभी भी देह के बन्धन में न बँधने वाले सदा मुक्त परमात्मा ऋषभशिव ही ऐसे हैं जो अभोक्ता होने के कारण इन 'स+जीव' वस्तुओं का ग्रहण नहीं करते। वे तो एषणीय (इष्, एष् या कर्मणि अनीयर 'जायापती लौकिकमेषणीयम्') अर्थात् भोगियों के लिए 'इच्छा (इष्) करने योग्य' और योगियों के लिए 'जानने (एष्) योग्य' → कामविकारादि; कल्पनीय अर्थात् वह दान जो मात्र कल्पना करने के ही योग्य हो कि मैंने दिया, प्रत्यक्ष अथवा स्थूल रूप में दिया जाने योग्य न हो, ऐसा विकारादि अवगुणों का दान; प्रासुक (गत्यर्थक अव्यय 'प्र' + असु, अर्थात् प्राणहीन या जीवरहित अर्थात् भ्रान्ति-कीटाणु से सर्वथा वर्जित अजीव); अन्न (अद् + क्त, ~~अर्थात्~~ जो खाया जाता है अर्थात् खुराक या भोजन, यह भोजन दो प्रकार का होता है एक देह का पोषण या क्षय करने वाला भौतिक और दूसरा आत्मा का पोषण या क्षय करने वाला ज्ञानध्यान या विकारादि) ही ग्रहण करते हैं। जैन परम्परा में इसे अदत्ता दान' भी कहा जाता है जिसका अर्थ है कि 'जो वास्तव में दिया नहीं जाता, अपितु कथनी और करनी में ही आता है।'

इस प्रकार स्पष्ट है कि अभोक्ता ऋषभशिव लोकों के कामादिक विकारों और अवगुणों का ही दान माँगते है। उन सर्वशक्तिवान परमेश्वर को कभी भी अन्नादि का भिक्षा माँगने की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्यों कि त्रिषष्टि के अनुसार 'वे तो सदा ही देवताओं द्वारा लाए हुए (धर्म रूपी) कल्पवृक्षों के (ज्ञान) फलों को खाते और क्षीरसागर का (ध्यान) जल पीते थे।' (देखिए पृ. १२६ का पाटि.१ और पृ. १२५ भी)

प्रकरण-८. ऋषभदेव के अभिषेक और बलिउत्क्षेपकारहस्य

पानी को गंगा और चेतन ज्ञानगंगाएँ :- आजकेवैज्ञानिक युग में भी भारतीय भक्तिमार्गीय परम्परा में गंगा-यमुना आदि पानी की नदियों को पतितपावनी माना जाता है। अनेकों साधुसन्त-पण्डे आदि अन्धविश्वासी भक्तसमुदाय को साथ लेकर दूर देशों से आकर भी पानी में दैहिक स्नान कर आत्मा को पावन हुआ मानते हैं। यह एक आश्चर्य की बात है कि भौतिक जल के स्नान से आत्मा का मल कैसे साफ हो सकता है? प्राचीन भारतीय आगम साहित्य के यथार्थ अर्थ को न समझने के कारण ही इस प्रकार की अनेकानेक अन्धपरम्पराओं का प्रचलन होता रहा है। वस्तुतः 'जल' शब्द भारतीय आगम साहित्य में ज्ञान का प्रतीक है। परवर्ती टीकाकारों, पुराणकारों, कवियों आदि ने इस रहस्य को नहीं पहचाना अथवा पहचानते हुए भी जनसामान्य में उसे प्रगट नहीं किया क्योंकि परवर्ती काल में उत्तरोत्तर मानव-बुद्धि तीक्ष्ण होने के साथ ही तामसी भी होती गई है+ जिससे प्रायः सत्य अर्थ का प्रसव नहीं हो सका। कलियुग के अन्त में ज्ञानसागर परमपिता परमात्मा ऋषभशिव ही स्वयं अवतरित हो कर निगमागम का भेद खोलते हैं। उनके निर्मल ज्ञानरूपी जल में स्नान करने से तामसी और विकारी मानवीय बुद्धि सात्त्विक बनती है। ब्राह्मी (सरस्वती) सुन्दरी (सीता) जैसी भारतीय कन्याएँ-माताएँ ही ऋषभदेव के निर्मल ज्ञानजल को पहले-पहल धारण करती हैं क्योंकि शक्तिस्वरूपिणी होने के कारण उनमें धारणाशक्ति अधिक होती है; अतः वही चेतन ज्ञानगंगा-यमुना आदि नदियाँ हैं जिनके

पावन (~~विद्वानमचार्य~~ शास्त्रादि की मिलावट से रहित) ज्ञानजल में स्नान कर के कलियुगी पतित मनुष्य सतयुगी पावन देवता बन जाते हैं। भारत में ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती (ब्राह्मी) मानी जाती जाती है जैसे कि धन की देवी लक्ष्मी और शक्ति की देवी दुर्गा, जिसका प्रमुख कारण यही है कि ऋषभशिव द्वारा ज्ञान का कलश भारतमाताओं को दिया जाता है क्योंकि इनमें स्वभावतः सहनशीलता, कोमलता, शीतलता, दयालुता, सहानुभूति आदि सृजनात्मक गुणों का आधिक्य होता है जिससे नई सृष्टि के सृजनकार्य में आसानी रहती है। ऋषभदेव के संघसमुदाय में श्रमणियों और श्राविकाओं की संख्या अधिक होने का कारण यही था। वहाँ उन्हें समुचित सम्मान प्राप्त था। जहाँ समाज ने 'नारी नरक का द्वार' कह कर उनको अबला अवहेलना ही नहीं की, अपितु जीते जी विधवा बना कर उनका त्यागन भी किया; वहाँ 'निर्बल के बल राम' → ऋषभशिव ने उन्हीं अबलाओं को शक्ति स्वरूपिणी सबला बना कर स्वर्ग का द्वार खोलने का निमित्त बनाया। पतित कलियुगी भारत को पावन बनाने वाली इन्हीं चेतन ज्ञानगंगाओं

लगभग समस्त जैनग्रन्थों में यह उल्लेख है कि ऋषभदेव के परिवार में श्रमणों की संख्या (केवल) चौरासी हजार थी (जबकि) साध्वियों की ३ लाख। इसी प्रकार श्रावकों की ३॥ लाख तो श्राविकाओं की ५ लाख ५५ हजार थी।

प्रभोरा केवलज्ञानाच्छ्रमणानां तु जज्ञिरे।
चतुरशीतिसहस्राः साध्वीलक्षत्रयं तथा॥४५१
अ पञ्चाशत्सहस्रं च श्राद्धलक्षत्रयं तथा।
श्राद्धीलक्षाः पंच सार्द्धाश्चतुःसहस्रसंयुताः॥ त्रि. ध. ५/५२

की स्मृति में आज भी उनकी प्रतीक भौतिक नदियों का इतना सम्मान है कि भक्त लोग उनको अर्चना-वन्दना पूर्वक अज्ञानता के कारण अर्थात् इस रहस्य की जानकारी न होने के कारण उनमें दैहिक स्नान भी करते हैं।

ऋग्वेदवर्णित जलदेवता ज्ञान का प्रतीक है :—

ऋग्वेद में जल नामक देवता उस ज्ञान का प्रतीक है जो ऋषभशिव कलियुग के अन्त में सृष्टि के आदिमध्य-अन्त सम्बन्धी त्रिपदीय ज्ञान के रूप में देते हैं। यहाँ वे ऋग्वेदीय स्थल प्रस्तुत हैं जिनसे इस बात की पुष्टि होती है कि 'जल' ज्ञान का ही प्रतीक है—

'अग्नि (ऋषभशिव) जल (ज्ञान) के चारों ओर जाते हैं; वह जल अग्नि को नहीं बुझाता (?) और (भौतिक) अग्नि क्षार नहीं सूखता (?) अन्तरिक्ष के पुत्ररूप अग्नि (निराकार ज्योतिर्लिंग ऋषभशिव के शरीर रूपी) वस्त्र द्वारा ढके नहीं जाते, परन्तु (ज्ञान-) जल से ढके होने के कारण वे नङ्गे भी नहीं हैं। सनातन, नित्य और तरुण सप्त नदियाँ अग्नि को (ज्ञान-) गर्भ रूप से धारण करती हैं।[1]' × 'हे सरस्वती! तुमने देवनिन्दकों को मारा, तुम्हीं सहायता से इन्द्र (ब्रह्मा) ने संहार किया है। तुमने मनुष्यों के लिए (ज्ञान-) जल वर्षण भी किया है।[2]' (ऋ. ६, ६१, ३)। यद्यपि वर्षणकार्य इन्द्र का

---

② सरस्वति देवनिदो निबर्हय प्रजां विश्वस्यबृसयस्य मायिनः।
उत क्षितिभ्योऽवनीरविन्दो विषमेभ्यो असृवो वाजिनीवति॥

① वव्राजा सीमनदतीरदब्धा दिवो यह्वीरवसाना अनग्नाः।
सना अत्र युवतयः सयोनीरेकं गर्भं दधिरे सप्तवाणीः॥
(ऋ. ३, १, ६)

माना जाता है फिर भी यहा ज्ञान को देवी सरस्वती द्वारा ज्ञानवर्षा का वर्णन किया गया है। × "(ज्ञान) वृष्टि-जल स्वर्ग और पृथ्वी की उत्पत्ति को जानता है (?) जल स्तुतियों को श्रवण करता है (?)[१]। (ऋ० ७,३४,२)। अर्थात् ऋषभशिव के इस पवित्र ज्ञान से ही सृष्टि की उत्पत्ति की सही जानकारी मिलती है तथा आत्मा-परमात्मा के सच्चे ज्ञान के द्वारा ही हमारी प्रार्थित इच्छाओं की पूर्ति होती है। × "जिन जलों (नदी, कूप, तडागादि के जलों (ज्ञानभंडारों) मे समुद्र (ज्ञानसागर परमात्मा) ज्येष्ठ है वे जल प्रवाहयुक्त हैं। जलदेवता अन्तरिक्ष से आते हैं। इन्द्र (ब्रह्मा) ने जिन्हें मुक्त किया (बहाया) वे जल हमारे रक्षक हों[२]। (ऋ० ७,४९,१)। × "जो जल अन्तरिक्ष में उत्पन्न होते है और जो नदी आदि में प्रवाहित होते हैं, जो खोद कर (विचारमंथनकर) निकाले जाते हैं और जो स्वयं उत्पन्न हो कर (ज्ञान) सागर की ओर (स्तुति रूप में) जाते हैं वे ही पवित्र जल हमारी रक्षा करें[३]। (ऋ० ७,२,४९)। × "जो जल (ज्ञान) सूर्य (ऋषभशिव) के पास स्थित हैं अथवा सूर्य जिनके साथ हैं वे हमारे यज्ञ को सींचे। जिन जलों को हमारी (ज्ञानेन्द्रिय रूपी) गौएं पीती हैं उन (ज्ञान) जलों को हम चाहते हैं। जो (ज्ञान) जल बह रहा है उसे (स्मृति रूपी) हवि देनी है। जल के भीतर अमरत्व

---

③ या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति खनित्रिमा उत वा याः स्वयञ्जाः
समुद्रार्था या शुचयः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु॥

② समुद्रज्येष्ठाः सलिलस्य मध्यात्पुनाना यन्त्यनिविशमानाः।
इन्द्रो या वज्री वृषभो रराद ता आपो देवीरिह मामवन्तु॥

① विदुः पृथिव्या दिवो जनित्रं शृण्वन्त्यापो अधक्षरन्तीः।

और औषधि है (अर्थात् ऋषभदेव के ज्ञान से ही देवों को स्वर्ग में दीर्घायु एवं नीरोगी काया प्राप्त होती है) उस जल की प्रशंसा के लिए उत्साही बनिए। चन्द्रमा ने मुझसे कहा कि जल में औषधि है, इसने सर्वसुख-दाता अग्नि और आरोग्यतादायी (ज्ञान) जलों का गुण वर्णन किया है।--- हे जलो! मुझमें स्थित पाप को बहा दो (?) मेरे द्रोहभाव, अपशब्द और मिथ्याचरण को बहा दो (?)।[१]' (यहाँ स्पष्ट है कि पाप और अवगुणों का नाश ज्ञानगुणों से ही सम्भव है; अन्यथा यदि स्थूल जल से कुकर्मों का मल साफ हो कर मुक्ति मिले तो मेंढकों और मगरमच्छों को सर्वप्रथम मुक्ति हो जानी चाहिए)।

× 'जल बहाने वाली नदियाँ चारों ओर प्रवाहित होती हुई (ज्ञान-) सागर में मिल जाती हैं। (ज्ञान-) जल निचले मार्ग से ही चलता है।' (अर्थात् सतयुग-आदि में ऋषभ द्वारा निसृत शुद्ध ज्ञान प्रवाह धीरे-धीरे अन्यान्य मतावलम्बी मानवों के अपने विचारों की मिलावट से कलियुग के अन्त तक सर्वथा प्रदूषित और अधोमुखी हो जाता है) एक यजमान दान करता है, दूसरा उसका गुण-गान करता है। एक (ज्ञान) जल अवगुणों का शोधन करता है

---

(१) अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह। ता नो हिन्वन्त्वध्वरम् ॥१८
अपो देवीरुप ह्वये यत्र गावः पिबन्तिनः। सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः ॥१९
अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तये। देवा भवत वाजिनः ॥२०
अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।
अग्निं च विश्वशम्भुवमापश्च विश्वभेषजीः ॥२०
--ददमापः प्र वहत यत्किं च दुरितं मयि।
यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम् ॥२२
(ऋ॰ १, २३, १७ से २२)

करता है दूसरा (भौतिक) जल पशुहिंसा कर के हिंसा कर्ता बन जाता है (यहाँ एक अर्थ तो यह है कि ऋषभ का ज्ञानजल तो पावन बनाता है; परन्तु, अन्धश्रद्धावश भौतिक जल को नदी आदि में स्नान करने से जीवघात अर्थात आत्मा का पतन ही होता जाता है। दूसरा अर्थ है कि ऋषभ का निर्मल ज्ञान तो पावन ही बनाता है; परन्तु मानवनिर्मित शास्त्र आदि के दूषित ज्ञान से आपर के आदि से ही पशुहिंसा (नरमेधयज्ञादि) तथा आत्माओं का उत्तरोत्तर कलियुग अन्त तक पतन ही होता जाता है) × 'जीवितावस्था में अपनी महिमा द्वारा वृत्र (अज्ञान) ने जिस (ज्ञान) जल को रोक रखा था इस समय वृत्र उसी जल के पददेश के नीचे सो गया' (ऋ० १,३२,८)। (अर्थात ब्रह्मा (इन्द्र) के साकार माध्यम से प्रगट हुए ज्ञान से चारों ओर से घेर कर रहने वाले अज्ञान रूपी वृत्र का तिरोभाव हो जाता है)।

ज्ञान युक्त स्तुतियों द्वारा ही ऋषभदेव का ज्ञानाभिषेक होता है।

जैन परम्परा में वर्णित ऋषभदेव के जन्म के समय किए गए अभिषेक का अर्थ दैहिक स्नान से नहीं है क्योंकि रुधिरप्रभृति कलंक से युक्त गर्भजन्म धारण करने वाले शिशुओं को ही शरीर को जलादिक पदार्थों से शुद्ध करने की आवश्यकता होती है। कर्म मल से रहित होने के कारण स्थूल मल-मूत्र रुधिर प्रभृति कलङ्क से भी सर्वथा

---

② याश्चिदवृतो मोहना पर्यतिष्ठत्तासामहि पत्सुतः शीर्बभूव।

③ सद्यो मा यन्ति पयो चिभ्रतीः पयो विश्वस्यै प्रेषाय भोजनम्।
समानो अध्वा प्रवतामनुष्यदे - - - - - - - - - - - -।
अन्वेको वदति यद्ददाति तद्रूपामिनन्तदपा एक ईयते।
विश्वा एकस्य विनुदस्तितिक्षते (ऋ० २,१३,२से३)

और सर्वदा रहित दिव्य जन्म धारण करने वाले सदा पवित्रतम निराकार ऋषभदेव को स्थूल जलादिक से स्नान करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। अतः उनका अभिषेक ज्ञानजल द्वारा हुए अभिषेक का ही परिचायक है। यह ज्ञानाभिषेक ज्ञानी, भव्य और दिव्य आत्माओं के द्वारा ही किया जा सकता है, अर्थात् अज्ञानी लोगों द्वारा ज्ञानाभिषेक नहीं हो सकता। यही कारण है कि जैन-ग्रन्थों में ऋषभदेव का अभिषेक स्वर्गलोक से आने वाली दिव्य आत्माओं के द्वारा ही दिखाया गया है। अज्ञानी पुरवासी जन इस अभिषेकोत्सव में भाग नहीं लेते। इसका वास्तविक रहस्य यही है कि सतयुगी दिव्य या भव्य आत्मायें ही क्रमशः त्रेता-द्वापर-कलियुग में जन्म लेते हुए जब अन्तिम कलियुगी जन्म में सर्वथा अज्ञानी हो जाते हैं तब ऋषभदेव दिव्य जन्म धारण कर इन्हें सच्चा आत्मा-परमात्मा का परिचय देते हैं जिसे प्रयोगात्मक जीवन में धारण कर ये भव्य जीव मनसा-वाचा-कर्मणा तीनों ही प्रकार से देवाधिदेव ऋषभशिव की सच्ची स्तुति करने-कराने के अधिकारी बनते हैं। इन ब्राह्मणदेवों द्वारा की गई परमात्मा ऋषभशिव की इस ज्ञानयुक्त स्तुति अथवा ज्ञानगुञ्जार को ही जैनग्रन्थों में 'अभिषेक' कहा गया है जिसके द्वारा विश्व में पवित्रता, शांति और समृद्धि के द्वार खुलते हैं।

जिनसेनाचार्य ने इस ज्ञानाभिषेक के संकेत अपनी कवित्वमयी भाषा में अनेकशः दिए हैं → 'भगवान स्वयं पवित्र थे, उन्होंने अपने पवित्र अंगों से उस जल को पवित्र कर दिया (जो कालक्रम से प्रदूषित हो चुका था) और उस जल

ने समस्त दिशाओं में फैल कर इस सारे संसार को पवित्र कर दिया था। उस अभिषेकजल में डूबी हुई देवों की सेना क्षण भर के लिए ऐसी दिखाई देती थी मानो (सुखस्वरूप) क्षीरसागर में डूब कर व्याकुल हो रही हो। वह (ज्ञान) जल कलशों के मुख पर रखे हुए कमलों के साथ सुमेरु पर्वत के मुख पर पड़ रहा था मानो (श्वेतवस्त्रधारी ब्राह्मण रूपी) हंसों के साथ ही पड़ रहा है।[1] वह (ज्ञान) जल का बड़ा भारी प्रवाह (संसार) अरण्य के भीतर वृक्षों के समूह से रुक जाने के कारण धीरे-धीरे चलता था, परन्तु ज्यों ही उसने वन के मार्ग को पार किया त्यों ही वह शीघ्र ही दूर तक फैल गया। मेरुपर्वत पर फैलता और आकाश को आच्छादित करता हुआ वह जल का प्रवाह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो मेरुपर्वत को (ब्राह्मणों के)[2] श्वेत वस्त्रों से ढक रहा हो।-- वह जल का प्रवाह लोक के अन्त तक फैलने वाली अपनी (ज्ञान-बूंदों से ऊपर स्वर्ग तक व्याप्त होकर नीचे की ओर ज्योति-

---

② तत्रषण्डनिरुद्धत्वात् अन्तर्वर्णमनुल्वणः।
ननतीर्थरतीत्यारात्- प्रससार महाप्लवः ॥१४८
स बभाषे पयःपूरः प्रसर्पन्नधिशैलराट्।
सितैरिवांशुकैरैनं स्वगायन् स्वागितांबरः ॥महापु १३,१५६
ऋषभ की ज्ञान-वाणी पर्वतीय प्रदेश से ही प्रवाहित होती है।

① पवित्रो भगवान् पूतैः अङ्गैः स्तदुपनाञ्जलम्।
तत्पुनर्जगदेवेदमप्लावीत् व्याप्तदिग्मुखम् ॥१३०
तेनाम्भसा सुरेन्द्राणां पृतनाः प्लाविताः क्षणम्।
लक्ष्यन्ते स्म पयोवार्धौ निमग्नाङ्गय इवाकुलाः ॥१३१
तदम्भः कलशास्यस्थैः सरोजैः सममापतत्।
हंसैरिव परां कान्तिमवापाद्रीन्द्रमस्तके ॥महापु. १३,१३२

अटल तक पहुँच कर सब ओर व्याप्त हो गया (अर्थात- सतयुग मे आचरण रूप से व्याप्त हो कर कलियुग-अन्त तक उसी का विस्तार होता रहता है)। उस समय आकाश में चारों ओर फैले हुए (आत्मा रूपी) तारागण अभिषेक के जल मे डूब गए थे (१)।--- उस बहते हुए जलप्रवाह में (ब्रह्मा का प्रतीक) चन्द्रमा ऐसा मालूम पड़ता था मानो सर्दी से ठिठुर कर धीरे-धीरे तैरता हुआ बूढ़ा (ब्रह्मण रूपी) हंस हो (२)। उस समय (नौ प्रमुख जीवात्माओं का प्रतीक) (नव) ग्रहमण्डल भी चारों ओर फैले हुए जल के प्रवाह से आकृष्ट हो कर विपरीति दशा को प्राप्त हो गया था। मानो उसी कारण से वह अब भी वक्रगति का आश्रय लिए हुए है। उस समय जल में डूबे हुए तथा सीधी और शान्त किरणों से युक्त सूर्य (ऋषभ) को भ्रान्ति से चन्द्रमा (ब्रह्मा, देहधारी) समझ कर (आत्मारूपी) तारागण भी उसकी सेवा करने लगे थे (३)। --- स्वर्ग लोक को धारण करने वाले मेरुपर्वत के मध्यभाग से सब ओर पड़ते हुए भगवान के (ज्ञान) जल

---

(३) पयःपूरे बहत्यस्मिन् श्वेतभानुर्व्यभाव्यत।
जरद्धंस इवोद्वृढ जीडमा मन्थरं तरन्॥१६३
ग्रहमण्डलमाकृष्टं पर्यस्तैस्सलिलप्लवैः।
विपर्यस्तां गतिं भेजे वक्रचारमिवाश्रितम्॥१६४
भगवः प्रगुणीभूत किरणं जलविप्लुतम्।
सिषेवे पूषणं मोहात् प्रालेयांशुर्विशङ्कया॥महापु. १३/१६५

(१) देखिए पद्मचरण ६ का आरम्भ।

(२) शीकरैरावकिरन्नाकमालोकान्तविसर्पिभिः।
ज्योतिर्लोकमनुप्राप्य जजृम्भे सोऽम्भसांप्लवः।
स्नानपूरे निमग्नानां तारास्तरलरोचिषः॥महापु १३, १६०

ने जहाँ-तहाँ फैल कर समस्त मनुष्यलोक को पवित्र कर दिया था। उस (ज्ञान) प्रवाह ने समस्त पृथ्वी संतुष्ट कर दी थी, सब कुलाचल पवित्र कर दिए थे। सब देश अतिवृष्टि आदि ईतियों से रहित कर दिए थे और सारी प्रजा कल्याण से युक्त कर दी थी। इस प्रकार समस्त लोकनाड़ी को पवित्र करते हुए उस प्रवाह ने प्राणियों का ऐसा कौन सा कल्याण बाकी छोड़ा जिसे उसने न किया हो? (१) (यहाँ यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि इसी ज्ञानजल के प्रभाव से सतयुगी भोगभूमि अर्थात् स्वर्ग की स्थापना होती है, न कि भौतिक जल से)।

इसी ज्ञानाभिषेक वर्णन प्रसंग में त्रिषष्टि के कुछ निर्दिष्ट स्थलों से भी इस बात की पुष्टि हो जाती है। — 'अच्युतेन्द्र (ब्रह्मा) ने जिनेश्वर के जन्मोत्सव के लिए 'अभियोगिक देवताओं को सामग्री लाने की आज्ञा दी (२)। --- प्रत्येक देव ने सोना चाँदी, रत्न, मिट्टी आदि के (विभिन्न स्तर वाले) एक योजन ऊँचे १००८ सुन्दर (बुद्धिरूपी) कलश बनाए।

---

(२) आदिदेशाच्युतेन्द्रोऽथ त्रिदशानामभियोगिकान्।
जिनजन्माभिषेकोपकरणान्याहरन्तु ते॥ त्रि० २,४८५
कलियुग अन्त में अन्याय से दुखी होकर ऋषभ को प्रारंभ लेने वाले ब्राह्मणों को ही 'अभियोगिक' देव कहा है जिसका अर्थ है 'वादी'।

(१) पर्याप्तदृभिरुत्संगाद् गिरेः स्वर्लोकधारिणः।
विरलैः स्नानपूरैस्तैः नृलोकः पावनीकृतः॥१६८
निर्वापिता मही कृत्स्ना कुलशैलाः पवित्रिताः।
कृतनिरीतयो देशाः प्रजाः क्षेमेण योजिताः॥१६९
कृत्स्नमिति जगन्नाडीं पवित्रीकुर्वतामुना।
किं नामस्नानपूरेण श्रेयश्शेषितमङ्गिनाम्॥ महापु० १३/१७०

('अर्थात् एक-एक ब्राह्मण देव ने अनेको व्यक्तियों को विकारी बुद्धि को ऋषभदेव का ज्ञान धारण करने योग्य बनाया अर्थात- उनमें निश्चय पैदा किया')

--- पीढ़े वर्षा के जल की तरह क्षीरसमुद्र (सुख और ज्ञानसागर परमात्मा) से देवों ने वे (बुद्धिरूपी) घड़े (ज्ञान) जल से भर लिए। ~~मंगादिकानां च महानदीनां~~ --- जिस तरह खरीद करने वाले पुरुष बानगी लेते हैं उसी तरह (~~लक्ष्मी-सुन्दरी~~ जैसी चेतनज्ञान-) गंगा आदि महानदियों से उन्होंने जल ग्रहण कर लिया। --- उस समय इन्द्र (ब्रह्मा) की आज्ञानुसार चलने वाले आभियोगिक देवता उन (बुद्धिरूपी) घड़ों को (दूसरे क्षीरश्रेष्ठ) घड़ों के (ज्ञान) जल से भर देते थे। (अर्थात् ज्ञान का परस्पर आदान-प्रदान होता था)।'

इसी प्रसङ्ग में आगे हेमचन्द्र ने लिखा है—

'अच्युतेन्द्र ने करोड़ों घड़ों से प्रभु को स्नान कराया (?) और अपनी आत्मा (?) को पवित्र किया, यह बड़े आश्चर्य की बात है!'

---

(५) एवमच्युतनाथेन यथोष्टं कुम्भकोटिभिः।
स्वामिनो विदधे स्नात्रं चित्रमात्मा पवित्रितः॥ त्रि. २/५५८

(६) तानेव बिभराञ्चक्रुः कुम्भान् कुम्भान्तराम्बुभिः।
आभियोगिकगीर्वाणाः कुर्वाणाः स्वामिशासनम्॥ त्रि. (२,५३२)

(१) गंगादिकानां च महानदीनामुदकानि ते।
समुपादादिरे स्वैरं शैवलिका इव वणिजाम्॥ त्रि. २/५८

(२) कलशांस्तानुपादाय ते देवा आभियोगिकाः।
क्षीरोदधावावादिरे वारि वारिधरा इव॥ त्रि. २,५८च।

(३) रौप्यरत्नमयान्भौमान् कलशान् योजनोन्नतान्।
रम्यान् प्रत्येकमष्टाग्रसहस्रं ते विचक्रिरे॥ त्रि. २/५८

यहाँ स्वयं कवि का आश्चर्य ही इस बात को पुष्ट करता है कि ऋषभदेव कोई देहधारी व्यक्ति नहीं थे जिनके जन्मकाल को शिशु अवस्था में ही भौतिक जल से स्नान कराया गया हो, और वह भी करोड़ों घड़ों द्वारा। निमोनिया भी नहीं हुआ। फिर भौतिक जल से स्नान करने वाले का अपना शरीर तो पवित्र हो सकता है, साथ ही स्नान कराने वाले का शरीर भी दो-चार छींटे उड़ने से पवित्र हो सकता है; परन्तु स्थूल भौतिक जल से स्नान कराने वाले की आत्मा कैसे पवित्र हो गई? वस्तुतः यहाँ करोड़ों मानवीय बुद्धि रूपी कलशों द्वारा ज्ञानयुक्त स्तुतियों से ही ज्योतिबिन्दु निराकार ऋषभशिव के ज्ञानाभिषेक का वर्णन है क्यों कि परमात्मा की ज्ञानयुक्त सत्य स्तुतियों से ही स्तोता की आत्मा में पवित्रता आ सकती है। यह बात अकेले जैन परम्परा से ही सम्बन्धित नहीं है अपितु शिव मन्दिरों में आज भी बेचारे भक्तजन बावरे हो कर शिवलिंग पर अपनी बुद्धि रूपी घड़ा उँडेलने की बजाय मिट्टी के बने छेद हुए घड़े के घड़े पानी उँडेलने का वृथा परिश्रम करते हुए देखे जाते हैं।

ध्यानरूपी बलि उत्क्षेप और इसकी यथार्थ विधि :—

हिन्दुओं के अनेक मन्दिरों में किसी विशेष पर्व पर भोजन लुटाने की परम्परा प्रचलित है। मुसलमानों में भी कुछ विशेष पर्वों पर चावलों का बना भोजन आदि पुड़ियों में बाँध कर जनसमूह के बीच उछाला जाता है जिसे छोटे बड़े सभी लोग प्रायः बड़े चाव से लूट कर खाते हैं। जैनग्रन्थों में तीर्थङ्करों की देशना के उपरान्त बलि उत्क्षेप की परम्परा का उल्लेख आता है। विश्व के विभिन्न सम्प्रदायों में प्रचलित बलि उत्क्षेप की यह परम्परा ऋषभदेव कालीन ध्यान अथवा योग रूपी बलि उत्क्षेप का ही बिगड़ा हुआ अज्ञानतामरा रूप है। प्रश्न हो सकता है कि ध्यान अथवा योग भी कहीं लुटाया जाता है? इसका उत्तर है — हाँ, यौगिक बल भी आत्माओं को सबल बनाने के लिए लुटाया जाता है। जैसे भौतिक अन्न शरीर को सबल बनाता है वैसे ही ध्यान-योग रूपी आध्यात्मिक भोजन आत्मा को सबल बनाता है। सच्चे योगी के खुले हुए नेत्रों से सूक्ष्म शक्ति और प्रकाश की किरणें विकीर्ण होती हैं। अपने खुले नेत्रों से कोई भी अन्य व्यक्ति इन किरणों को ग्रहण कर सकता है। प्रसिद्ध है कि रामकृष्ण परमहंस ने इसी प्रकार विवेकानन्द में शक्तिपात किया था। यद्यपि आज के योगाभ्यासी बन्द आंखों से ध्यान करते हैं क्यों कि वे ऋषभदेव द्वारा सिखाई गई सच्ची सहजराजयोग की प्रक्रिया से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। खुली आँखों से ध्यानमुद्रा में बैठी हुई तीर्थंकर मूर्तियाँ इस बात की अकाट्य प्रमाण हैं कि ऋषभ देव ने बन्द नेत्रों से ध्यान करना नहीं सिखाया था।

योग की विधि :— सर्वप्रथम भृकुटिमध्य में अपनी ज्योतिबिन्दु, आत्मा का स्वरूपचिन्तन करते हुए अर्थात् आत्मस्थिति में भली प्रकार स्थिर हो कर खुली आँखों से सूर्य-चाँद-सितारों की दुनियाँ से परे, अरूप आभायुक्त परमधाम में रहने वाले सूक्ष्म 'ज्योतिर्लिङ्गम्' शिवबाबा का मनबुद्धि से स्मरण करना ही यथार्थ सहज राजयोग है। इस प्रक्रिया के लिए किसी विशेष आसन वा प्राणायाम करने की भी आवश्यकता नहीं है। किसी भी सहज और सुगमासन से प्रभु की स्मृति में स्थिरता पूर्वक बैठ कर यौगिक दृष्टि का ~~आत्म-सम्मुख~~ बैठे हुए व्यक्ति के साथ आदान-प्रदान करने से अपने तथा दूसरों के चित्त को सहज ही स्थिर होने का दृढ़ अभ्यास हो जाता है। परिपक्व अवस्था की प्राप्ति होने पर कर्म करते हुए भी प्रभु की स्मृति में स्थिर हुआ जा सकता है। इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करने से स्थिर हुई दृष्टि और वृत्ति वाले योगियों के द्वारा 'जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि' के नियम प्रमाण निर्विकारी देवी देवताओं की स्वर्णिम सृष्टि का सृजन किया जाता है।

तन, मन, धन आदिक बलों के बीच मनोबल ही सबसे अधिक श्रेष्ठ माना जाता है। यद्यपि आज कलियुग में निष्कृष्ट धनबल को ही सर्वाधिक प्रधानता दी जाती है; परन्तु कलियुग के अन्त में योगाचार्य ऋषभदेव ब्रह्मा (भरत) के साकार माध्यम से विश्वजन को यौगिक प्रक्रिया सिखा कर मनोबल का महत्त्व बढ़ाते हैं। संसार में चारों ओर हर क्षण भटकने वाले मन की शक्ति सूक्ष्म, चेतन ज्योति में एकाग्र करने से तथा

स्वाभाविक बीजरूप स्वरूपावस्था में स्थिर होने से आत्मिक शक्तियों का क्षिप्र गति से विकास होता है क्योंकि सूक्ष्म पदार्थ को पकड़ने के लिए सूक्ष्म औजार को ही काम में लाना पड़ता है, स्थूल नहीं। अतः सूक्ष्म बुद्धि रूपी औजार से ही सूक्ष्मतम आत्मा पकड़ में आ सकती है, न कि आसन, प्राणायाम तीर्थ यात्रा, कठोर व्रतादिक दैहिक स्थूल साधनोंसे। खुले नेत्रों द्वारा ध्यान-योग की आत्मिक शक्ति प्रकीर्ण करने की संक्षेप में बताई गई उक्त वैज्ञानिक विधि के रहस्य का वर्णन हेमाचार्य ने अपनी प्रतीकात्मक भाषा में "बलि उत्क्षेप वर्तनि पुंसग" इस प्रकार किया है— 'यह बलि अखण्ड तुषरहित उज्ज्वल चावलों से बनाया जाता है[1]।' यहाँ चावल बिन्दु रूप आत्माओं तथा परमात्मा शिवलिङ्ग का प्रतीक है। आज भी शैवों से भृकुटि मध्य में टीका या चँदोवा लगाते समय आत्मा के प्रतीक चावलों को भृकुटि मध्य में लगाया जाता है क्योंकि भृकुटि मध्य में ही आत्मा टिकने का स्थान है। ये 'अखण्ड-चावल' ही गीता (२,२४) वर्णित 'अक्लेद्योऽयं' आत्मा के प्रतीक हैं अर्थात् टूटे हुए चावल अभेद्य और अक्लेद्य आत्मा के सूचक नहीं। संकल्पविकल्पों से रहित आत्मा का शुक्ल ध्यान ही तुषरहित उज्ज्वल शाल का सूचक है। आगे कहा गया है— '(ब्राह्मण) देवों ने उस (ध्यानरूपी बलि) में (अनुभव की) गन्ध डाल कर उसे दुगुना सुगंधित कर दिया था तथा (गणधरादिक) प्रधान पुरुषों के

---

[1] अत्रान्तरे च कलमैरखण्डैर्निस्तुषोज्ज्वलैः ॥ त्रि. ३/६०

द्वारा उठा कर लाया गया था और (ब्रह्मा-) भरत द्वारा तैयार कराया गया था[1]।(तात्पर्य है कि ऋषभशिव ने ब्रह्मा के माध्यम से ध्यान-योग की प्रक्रिया प्रस्तुत की थी तथा उसे प्रमुख योगियों ने विश्वजन के समक्ष प्रस्तुत किया था) "उस समय (ब्राह्मण-) देवों की (ज्ञान-) दुंदुभी के निर्घोष-प्रतिघोष से दिशाएँ गूँज रही थीं तथा उसके पीछे होने वाले (ज्ञानयुक्त) विश्वमंगलकारी गीतों को गाने वाली ललनाएँ (ऋषिकाएँ व श्राविकाएँ) थीं[2]।(यहाँ स्पष्ट बताया गया है कि इस यौगिक प्रक्रिया के समय चित्त को सरलता से एकाग्र करने के लिए ज्ञानयुक्त गीत भी गाए अथवा बजाए जाते थे) "वह (ध्यानरूपी) बलि मानो प्रभु के प्रभाव से उत्पन्न हुई पुण्यराशि हो इस तरह वह अ+योद्धया (स्वर्ग-) निवासियों से घिर रहा था और समवसरण में पूर्वीय दरवाजे से लाया गया था[3]।(अर्थात् सूर्योदय की भाँति सहजराजयोग प्रक्रिया का उदय पूर्वदिशा-द्वार रूपी पूर्वीय देश भारत में ही होता है) "मानो बोने के लिए (विश्व-) कल्याणरूपी धान्य का बीज हो इस तरह वह (ध्यान रूपी) बलि प्रभु को प्रदक्षिणा करा कर लुटा दिया गया। जिस तरह मेघजल को चातक ग्रहण करता है उसी तरह आकाश से गिरने वाले उस बलि के आधे भाग को देवताओं ने बीच में ही लपक लिया। जो भाग पृथ्वी पर गिरा उसका आधा भरत

---

③ पौरैः स्वामिप्रभावोत्थ पुण्यराशिरिवावृतः।
पूर्वद्वारेण समवसरणे प्राविशद्बलिः॥ त्रि॰३,६७३

② देवदुंदुभिनिर्घोषप्रतिघोषितदिङ्मुखः।
अन्वीयमान प्रोद्गीतमङ्गलैर्ललनाजनैः॥ त्रि॰३,६७२

① दिविषन्निहितैर्गन्धैर्द्विगुणीकृतसौरभः।
प्रधानपुरुषैरीक्षप्तो भरतेश्वरकारितः॥ त्रि ३,६७१

(बला) ने ले लिया और जो बाकी बचा उसे राजा के गौती भाइयों ने आपस में बाँट लिया[1]।' (तात्पर्य है कि बला ही व्यक्तिगत रीति से यौगिक शक्ति का सर्वाधिक संचय करते हैं। इस प्रभूत योगबल के कारण ही वे सतयुगी स्वर्ग में सम्पूर्ण विश्व पर शासन करते हैं)।

'उस (योग रूपी) बलि का ऐसा प्रभाव है ~~कि~~ कि उससे अर्धवर्ष (अर्धकल्प अर्थात् द्वापर और कलियुग) की सारी (विकारों रूपी) बीमारियाँ नष्ट हो जाती हैं और अर्धवर्ष (अर्धकल्प अर्थात् सतयुग-त्रेता) तक नई बीमारियाँ उत्पन्न नहीं होतीं (तात्पर्य है कि भोगभूमि में नीरोगी काया होती है)[2]।'

---

[2] पूर्वोत्पन्नाः प्रणश्यन्ति रोगाः सर्वे नवा पुनः।
षण्मासानैव जायन्ते बलेस्तस्य प्रभावतः॥त्रि०३,६६

[1] प्रभुं प्रदक्षिणीकृत्य सोत्क्षिप्यत बलिः पुरः।
वर्तुं कल्याणसस्यानामिव बीजमुत्तमम्॥६६४
अन्तरिक्षान्निपतन्तोऽन्तरालेऽपि समाददे।
तस्यार्धमसुरैर्मेध्यधानीयमिव चातकैः॥६६५
तस्य भूमिगतस्यार्धं जग्राह भरतेश्वरः।
शेषं तु तु गोत्रिण इव विभज्य जगृहुर्जनाः॥त्रि०३,६६६

प्रकरण - ६. आठ, १०८, १६१०८ और १००८ की संख्या का रहस्य

हेमाचार्य ने लिखा है कि पुरुष के मान की सिद्धि अपना स्थान बताने से ही होती है[1]। ऐसे नहीं कि करोड़ों अथवा असंख्य जन मुक्त हुए उनमें हमारा भी एक स्थान है। ऐसा मानने पर तो मान्यता की जगह सामान्यता ही रह जाती है, विशिष्टता नहीं। एक व्यक्ति का पुरुषार्थ दूसरों से सदैव भिन्न ही रहता है। अतः स्पष्ट है कि पुरुषार्थ के अनुसार ही प्राप्ति भी होनी चाहिए, अन्यथा शुद्ध आध्यात्मिक क्षेत्र में भी 'अंधेर नगरी अनबूझ राजा, टका सेर भाजी टका सेर खाजा' वाली कहावत चरितार्थ हो जावे। असमान पुरुषार्थियों को समान प्राप्ति होना अन्याय है और यह अन्याय ईश्वरीय आध्यात्मिक क्षेत्र मे नहीं होता। तात्पर्य है कि अनुसार के सिद्ध-बुद्ध-मुक्त पुरुषों में से प्रत्येक को अपने पुरुषार्थ के ही अर्द्ध अथवा निम्न सिद्ध पद की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार किसी विश्वविद्यालय में प्रथम, द्वितीय, तृतीयादि श्रेणियों में उत्तीर्ण किए जाने वाले विद्यार्थियों की संख्या निश्चित की जाती है उसी प्रकार ऋषभका लोन ईश्वरीय विश्व विद्यालय में जगद्गुरु ऋषभशिव द्वारा ध्यान, ज्ञान दिव्यगुणसंग्रह और लोकसंग्रह (सेवाकार्य) इन चार विषयों मे पुरुषार्थ अनुसार उत्तीर्ण होने वाले जनों की संख्या भी निश्चित कर दी जाती है।

आठ की संख्या का महत्त्व :— इस प्रकार विश्वभर में ८ सर्वोच्च स्थान पाने वाले पुरुषार्थियों को 'अष्टसिद्ध' अथवा 'अष्टदेव' कहा जाता है क्यों कि

---

[1] मानिनां मानसिद्धिर्हि सफला स्थानदर्शिनाम। त्रि. ३/१/६४

वे ही सतयुगो स्वर्ग में क्रमशः वंशानुक्रम से विश्व का अखण्ड साम्राज्य प्राप्त करते हैं। यही विश्वमङ्गल कारी अष्टसिद्ध, सृष्टि की सर्वोच्च जीवात्माएँ घोषित की जाने के कारण ऋषभशिव की 'अष्टमूर्ति' के रूप मे प्रसिद्धि पाते हैं। तात्पर्य है कि जिस प्रकार आकाशादि पञ्चभूत सूर्य और चन्द्रादिक प्रतीक विश्व के भौतिक कल्याण के निमित्त हैं वैसे ही यह अष्टदेव विश्वजन के आध्यात्मिक कल्याण के निमित्त कारण बनते हैं। इसीलिए आजतक वैदिक और जैनमान्यता में इनकी पूजा और मान्यता अष्टमंगल के रूप मे प्रचलित है जिसका उल्लेख जैन ग्रन्थों मे अनेकशः उपलब्ध होता है[1]। ज० यदुवंशी ने लिखा है — 'पाँचवीं छठी सदी के 'माइसोर' प्रकाशधर्मवाले शिलालेख में शिव की अष्टमूर्तिका उल्लेख करते हुए कहा गया है कि इनके बिना सृष्टि का कार्य नहीं चल सकता' (शैवमत पृ.१७६)। यही अष्टसिद्ध परलोक की प्राप्ति कराने तथा कलियुगी इहलोक का अन्त कराने के निमित्त बनने के कारण जैन परम्परा मे वर्णित लोकान्तिक देवों के मुखिया भी हैं क्योंकि इन्ही की प्रार्थना या भक्ति से प्रसन्न हो कर ऋषभशिव धर्मसंस्थापना का कार्य करते हैं। दिगम्बर जैनग्रन्थों तथा मूलभाष्य में इनके आठ ही नाम गिनाए गए हैं, जब कि श्वेताम्बर ग्रन्थों मे १. सारस्वत २. आदित्य ३. वह्नि ४. अरुण ५. गर्दतोय ६. तुषित, ७. अव्याबाध ८. मरुत और ९ अरिष्ट — ये नौ नाम गिनाए गए हैं[2] जब कि यहाँ मरुत का नाम बढ़ाया गया है। जिनसेन ने

---

(२) (त्रि.२, १०३६-३८-३९ तथा तत्त्वार्थसू. पृ.१७४-५)

(१) अखण्डे रालिखन् लेखाः स्वामिनोऽष्टौ अष्टमङ्गलीमा त्रि. २ पृ.८६

महापुराण के १६वें पर्व के आरम्भ में ऋषभदेव के आठ प्रमुख पुत्रों के ही नाम गिनाए हैं जो इस प्रकार है — १. भरत २. वृषभसेन ३. अनन्तविजय ४. अनन्तवीर्य ५. अच्युत ६. वीर ७. वरबीर और ८ बाहुबली। जैन और वैदिक ग्रन्थों में आठ दिग्पालों के रूप में इन्हीं का उल्लेख है जहाँ इनके साथ ही आठ दिक्कुमारियों या आठ इन्द्राणियों का भी उल्लेख आता है[1]। अष्टमांगलिक पदार्थों के रूप में भी इन्हीं का स्मरण किया जाता है[2]। सतयुगी स्वर्णयुग में सोने की सी कान्ति के धारक यही आठ चक्रवर्ती राजाएँ ऋषभदेव के अनुसार मोक्षप्राप्त कर्ता कहे गए हैं[3]। ध्यान रूपी तेज का पान करने के कारण ही इन चक्रियों को काश्यप (काश्य+पा) गोत्री कहा गया है। चूँकि इन्हों ने पर्वत पर उत्कृष्ट तप कर के क्रमोन्नत तथा उत्कृष्टतम आठ पदों को अलंकृत किया था अतः पञ्चविकार रूप शत्रुओं पर विजय प्राप्त कराने वाले उस शत्रुञ्जय पर्वत को ही अष्टापद भी कहा जाता है। विश्वसम्माननीय इन सर्वोत्तम अष्टपदों का अतिक्रमण कोई भी हिटलर-नैपोलियन जैसा बाहुबली नहीं कर सकता। अतः हेमाचार्य ने लिखा है — 'भरत ने उस पर्वत पर मनुष्यों से न लाँघने योग्य आठ सीढ़ियाँ १-१ योजन के अन्तर पर बनवायीं तभी से उस पर्वत का नाम अष्टापद पड़ा।' (दे. पाटि. १ पृ. २२६) प्रमाण

---

(1) काश्यपाश्चक्रिणो हेमवर्णा अष्टैषु मोक्षगाः। त्रि. ६, ३२६, ६२६

(2) सिंहासननिषण्णस्य पौलोमी भर्तुरग्रतः।
दर्पणप्रभृतीन्यष्टमङ्गलान्यष्ट रेजिरे॥ त्रि. २, ३८५

(3) तस्याग्रे तण्डुलैरष्टैरालिखत् सोऽष्टमङ्गलीम्।
पृथक् पृथक् मंगलाग्रे वैष्टयदष्टकलुपच्छिदम्॥ त्रि. ४, ७

हेमाचार्य ने इन आठपदों के वंशानुक्रम का उल्लेख इस प्रकार किया है — "भरत राजा के बाद सूर्ययशा राजा हुए, इनके बाद महायशा, तब अतिबल, तब भंडुबल, फिर बलवीर्य, तब कीर्तिवीर्य, तब जलवीर्य और उनके बाद दंडवीर्य। इन आठ पुरुषों तक ऐसा ही आचार जारी रहा। इन्होंने भी भरतार्ध का राज्य भोगा और भगवान के मुकुट को धारण किया। फिर दूसरे राजाओं ने मुकुट को लं० चौ० देख कर उसे धारण नहीं किया।" अपने पूर्वपुरुषाओं जीवन में इन ८ जीवों ने ऋषभ के चरणों में ही सदैव रह कर कमल-पुष्प के समान अनासक्त योगी जीवन बिताया था अतः हेमाचार्य ने लिखा है कि ऋषभदेव के चरणों के नीचे सदैव ८ सुवर्ण कमल रहते थे।

भागवत में ८ के स्थान पर ९ ऋषभ देव के ९ महान भाग्यशाली आत्मविद्याविशारद वातरशना श्रमणों के नौ नाम इस प्रकार गिनाए गए हैं — १. कवि २. हरि ३. अन्तरिक्ष ४. प्रबुद्ध ५. पिप्पलायन ६. आविर्होत्र ७. द्रुमिल ८. चमस ९. और ~~करभाजन~~।

---

(२) वादाधस्पतया तस्य नवापि निधयोऽनिशम्।
हेमाब्जानीव वृषभप्रभोर्विहरतोऽभवन्॥ त्रि० ६, ७१५

(१) भरतादादित्ययशास्ततश्चासीन्महायशाः।
अतिबलोबलभद्रो बलवीर्यस्ततोऽपि च॥२४१
कीर्तिवीर्यो जलवीर्यो दंडवीर्यस्ततोऽष्टमः।
इत्यष्टौ पुरुषान् यावदाचारोऽयं प्रवृत्तवान्॥२४२
तैर्भूपैश्च बुभुजे भरतार्धं समंततः।
भगवन्मुकुटः शक्रोपनीतो मूर्ध्न्यधारि च॥२४३
शेषैर्महाप्रभावत्वान्न स बोढुमपार्यत॥ त्रि० ६, २४४

करभाजन ⑨।

इसीप्रकार बाइबल में भी स्वर्ग के वर्णन-प्रसंग में आदम (आदिनाथ ऋषभ) के वंशानुक्रम में नौ नाम गिनाए गए हैं — १. आदम २. शेथ ३. एनोश ४. केनान ५. माहलालएल ६. यारेद ७. हनोख ८. मथुशेलाह और इसका दूसरा भाई ९. लामेख ②।

जैन ग्रन्थों में जहाँ ऋषभदेव की प्रतिहार्य रूप आठ प्रकार की विभूति द्वारा उनकी लोकोत्तर महिमा के प्राकट्य ① का वर्णन है वहाँ कुरान में भी इन अष्टविभूतियों का फरिश्तों के रूप में इस प्रकार उल्लेख आया है — 'उस (प्रलय के) दिन तुम्हारे प्रतिपालक के आठ फरिश्ते प्रतिपालक के तख्त को अपने ऊपर उठाया होगा।' (कुरान, सूरत ६९, आयत १७)।

आठ और नौ का भेद :— ऋषभदेव के आत्मविद्या विशारद नौ श्रेष्ठ पुत्रों में से बाहुबली को छोड़ कर शेष आठ पुत्र ही सत्युग को नारायण नाम की आठ गद्दियों के सम्राट बनते हैं। इन्हीं की स्मृति में आज भी भारत में 'कृष्णाष्टमी' और राधाष्टमी मनाई जाती है क्यों कि नवमी नारायण की ही बाल्यावस्था का नाम राधा-कृष्ण होता है। उग्रतपस्वी बाहुबली, भरत को छोड़कर

---

① प्रतिहार्यमयी भूतिः इयमष्टतयी प्रभोः।
महिमानं तवाचष्टे विश्वष्टं विश्वपातिगम्॥ महापु. १३, १४६

② बाइबल उत्पत्ति ५-६ (सृष्टिवाद अने ईश्वर पृ. २१४)

⑨ नवाभवन् महाभागा मुनयो ह्यर्थशंसिनः।
श्रमणा वातरशना आत्मविद्याविशारदाः॥
कविर्हरिरन्तरिक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः।
आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः करभाजनः॥ भाग. ११, २, २०-२१

अन्य सात भाइयों से बड़ा होने पर भी पुरुषार्थ में अन्ततक अहंकारी बने रहने के कारण त्रेता में नौवीं गद्दी का श्रेष्ठ राजा बनता है। वैदिक ग्रन्थों में राम या बलराम के नाम से इसी जीवात्मा का वर्णन है। कृष्णाष्टमी के बाद रामनौमी इसी की स्मृति में मनाई जाती है। इस प्रकार सम्पूर्ण ~~अ~~ सतयुगी श्रेष्ठ पद तो आठ ही हैं जिन्हें प्राप्त करने वाले अष्टसिद्ध कहे जाते हैं; परन्तु ९ ग्रहों, नव निधियों अथवा नवरत्नों में बाहुबली (राम) को भी गिनती की जाती है।

<u>१०८ मणकों की माला का रहस्य</u> :—

१०८ मणकों की माला का महत्त्व जैन अथवा वैदिक परम्परा में ही नहीं अपितु मुस्लिम ईसाई, बौद्धों आदि में भी नामस्मरण के लिए माला का प्रयोग किया जाता है। ऋषभशिव कालीन उत्कृष्टतम पुरुषार्थ के उस पुरुषोत्तम संगम युग में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होने वाले पुरुषार्थियों की संख्या १०८ होती है। उन्हीं श्रेष्ठ बिन्दुरूप जीवात्माओं का स्मरण १०८ गोल मणकों के प्रतीकात्मक रूप में किया जाता है। माला में युगल रूप में प्रदर्शित ऊपरी भाग का 'मेरु' नामक मणका आदिनाथ ब्रह्मा (भरत) और सरस्वती (ब्राह्मी) का प्रतीक है। 'मेरु' से ऊपर का फूल—जिसे ही मस्तक से नमन किया जाता है—एकमात्र जगद्वन्दनीय परमपिता ऋषभशिव का प्रतीक है। उत्तराध्ययन सूत्र से आचार्य हस्तीमल जी महाराज ने ऋषभकाल के इन उत्कृष्ट अवगाहना वाले १०८ सिद्धों का वर्णन इस प्रकार किया है — "भगवान ऋषभदेव के समय में ५०० धनुष की अवगाहना वाले १०८ सिद्ध हुए। नियमानु-

सार उत्कृष्ट अवगाहना वाले दो ही एक साथ सिद्ध होना चाहिए, पर ऋषभदेव और उनके पुत्रादि एक सौ आठ, एक समय में साथ सिद्ध हुए, यह आश्चर्य की बात है।' (जैनधर्म का मौलिक इतिहास पृ. ३७६)

इस प्रकार जयन्ती माला के १०८ मणके, जो ऋषभशिव के १०८ विजयी वर्षों के प्रतीक हैं और जगतभर में श्रेष्ठ हैं, उन १०८ ~~आत्मा~~ आत्माओं के गुरु होने से केवल ऋषभशिव ही जगद्गुरु की उपाधि के धारण करते हैं। अर्थात् 'श्री-श्री १०८ जगद्गुरु' उपाधि धारण करने वाले, अपनी ही देह के बन्धन में बँधे हुए तथाकथित अन्यान्य देहधारी शंकराचार्य आदिक झूठे जगद्गुरु हैं क्योंकि जगत एक है तो सारे जगत का जगद्गुरु भी एक ही हो सकता है, अनेक नहीं।

जैसे पिता अपने सहायक पुत्रों को अपने ही शरीर के विभिन्न अंग मानता है वैसे ही प्राचीन कवियों की कल्पना में ऋषभदेव के शरीर के १०८ लक्षण भी उनके विश्वपरिवर्तन के कार्य में प्रथम चुने हुए सहयोगी १०८ पुत्रों के ही सूचक हैं। महापुराणादि जैन ग्रन्थों में ऋषभदेव के १०८ गुणवाचक और कर्तव्य-वाचक नामों के संग्रह का रहस्य भी इसी बात से सम्बन्धित है। ~~अतः~~ यही आत्माएँ ऋषभशिव के निर्देशानुसार कार्य करने से विश्व की आधारमूर्ति और उद्धारमूर्ति बनती हैं अतः ऋषभशिव की स्तुति में इन नामों का भी

---

(३) अष्टोत्तरशतं नाम्नां इत्यनुध्याय चेतसा। [महापु.
त्वामीडे नीडमीडानां प्रातिहार्याष्टकप्रभम्॥ १५,४६]

(२) लक्षणान्येतमादीनि विभोरष्टोत्तरं शतम्॥ महापु. १५,४४

(१) रिसहो रिसहस्स सुया अट्ठेण विवज्जिया नवनवई।
अट्ठेव भरहस्स सुया सिद्धिगया इग समयम्मि॥ उत्तराध्ययन (३६,५३)

स्मरण किया जाता है। कलियुगी संसार रूपी अरण्य में काँटों के समान दुःख देने वाले पतित व्यक्ति भी जब ऋषभशिव के इस राजसूय अश्वमेध जीवनाहुती रूद्रज्ञानयज्ञ में मन (रूपी भक्त), वचन और कर्म से धन सहित सम्पूर्ण समर्पण हो जाते हैं तब वही दिव्य गुणों की सुगन्ध देने वाले फूल बन कर १०८ के हार में, स्नेह रूपी सूत्र में पिरोये जा कर परमात्मा के गले का हार बनते हैं। अतः जिनसेन ने लिखा है कि जिसमें १०८ लड़ियाँ (या फूल) हों उसे हार[1] कहते हैं। मन्दिरों में तीर्थंकर-मूर्तियों वा शिवलिङ्ग पर हार अर्पण करने का यही रहस्य है। शिवलिंग पर तो आक-धतूरा आदि के विषैले कँटीले फलफूल भी अर्पण किए जाते हैं क्यों कि ऋषभशिव दुःखदायी जीवात्माओं को भी ग्रहण कर अपने गले का सुखदायी हार बना लेते हैं।

१००८ और १६१०८ की संख्या का रहस्य :— इसी प्रकार द्वितीय और तृतीय श्रेणी में उत्तीर्ण होने वाले पुरुषार्थियों की संख्या क्रमशः १००० और १६००० है क्यों कि ऋषभ-शिव द्वारा किए जाने वाले कार्य में ये भव्य जीव भी द्वितीय और तृतीय श्रेणी का पुरुषार्थ करते हुए सह-योगी बनते हैं। भागवत पुराण में इन्हीं १६१०८ आत्मा रूपी गोपियों का वर्णन प्रकारान्तर से किया गया है जिन्हों ने ऋषभशिव की (ज्ञान) मुरली से आकृष्ट हो कर उनमें सतयुगी देहधारी 'कृष्ण' (कृष+णिच्) के नामसाम्य की भ्रान्ति पैदा कर दी है। जैन ग्रन्थों में इन संख्याओं का अनेकशः उल्लेख आया है →

---

[1] शतमष्टोत्तरं यत्र यष्टीनां हार एव सः। महापु० १६,५८

महापुराण में (ब्रह्मा) भरत के १६००० संगठित देवों का उल्लेख अनेक बार आया है।[1] त्रिषष्टि मेवर्णित जन्माभिषेक के प्रसंग में विभिन्न प्रकार के १००८ (मानवीय बुद्धिरूपी) कलशों का निर्माण तथा उत्थान[2] इन्हीं ज्येष्ठ आत्माओं के ज्ञानस्वरूप होने का सूचक है। ज्ञानगंगा सरस्वती (ब्राह्मी) के बारे में कहा गया है कि उन्होंने प्रसन्न हो कर भरत को १००८ रत्नमय (ज्येष्ठ मानवबुद्धि रूपी) कलश प्रदान किये।[3] महापु. की तरह त्रिषष्टि में भी भरत (ब्रह्मा) के पास सदैव रहने वाले प्रतिहारी के समान १६००० यक्षों का अनेकशः[4] वर्णन है। ज्योतिर्लिंगम् ऋषभशिव का प्रतीक कार्डिनल रत्न १००० यक्षों से युक्त और आठ कोणिका ओं वाला बताया गया है (दे. कृ १६३ पाटि. १) इसी तरह (ब्रह्मा) भरत का प्रतीक मणिरत्न भी हजार यक्षों से अधिष्ठित बताया गया है (वहीं देखिए)। इसके अतिरिक्त महाराजा भरत को १६००० खेड़ों का शासनकर्ता भी बताया गया है[5] जिससे अनुमान होता है कि इन खेड़ों के मुखिया यही १६००० यक्ष (देव) थे। यहीं पर महाराजा भरत को ५ ६

---

(५) तथा खेटसहस्राणां षोडशानां प्रशासिता ॥त्रि. ५, ७२५

(४) सर्वदा सन्निधानस्थैः प्रतीहारैरिवावृतः।
(क) भक्तैः षोडशभिर्यक्षसहस्रैः परिवारितः॥त्रि. ५, ३१
(ख) (त्रि. ५, ४५१ और दे. ७१६ भी)

(३) स च राज्ञे विष्णवेयामास --- अष्टोत्तरं रत्नकुम्भसहस्रं च सरिद्वरा ॥त्रि. ५, ५५१

(२) (क) अच्युतेन्द्र उपादत्त समं सामानिकादिभिः।
कुम्भान् सहस्रमष्टाग्रं फलानीव स्वसंपदः॥त्रि. २/५०२
(ख) देखिए पृ. २१६ का पाटि. १

(१) षोडशास्य सहस्राणि गणबद्धामराः प्रभोः। [महापु. ३८, १४५]

छोटे-छोटे राज्यों का नायक भी बताया गया है जिससे यह भी अनुमान होता है कि ऋषभदेव की ५२ जोड़ली सन्तानें ही सतयुग में राजा रानी के रूप में इन राज्यों का संचालन करती हैं।

<u>६ लाख की संख्या का महत्व</u> :—

इन संख्याओं के अतिरिक्त ६ लाख की संख्या भी महत्वपूर्ण है जिसके आधार पर आज भी 'नौ लखा हार' प्रसिद्ध है। ऋषभकालीन पुरुषोत्तम संगम युग में घरगृहस्थ में रहते हुए ही जिन साढ़े तीन लाख श्रावकों और साढ़े पाँच लाख श्राविकाओं ने सामान्य रूप से भी ऋषभदेव की श्रीमत (आदेश) का पालन करते हुए पवित्र जीवन बिताया था, उन्हें भी सतयुग के आदि काल से ही उच्च कोटि का सुखी जीवन प्राप्त होता है।

---

② स पञ्चाशत्सहस्रं च श्राद्धलक्षत्रयं तथा। त्रि. ६, ४५२
श्राद्धीलक्षाः पञ्च साग्रश्चतुःसहस्रसंयुताः॥

① पञ्चाशतः कुराज्यानामेको नायश्च नायकः॥ त्रि. ६, ७२७

प्रकरण-१०. सांवत्सरिक दान, महाभिनिष्क्रमण, अशोकवृक्ष सिद्धार्थवाग, कायोत्सर्ग अवस्था और केशलोंच का रहस्य।

सांवत्सरिक दान — इस संसार का त्याग करने से पूर्व परमपिता ऋषभशिव अपने सभी मनुष्यात्मा रूपी बच्चों को उनकी योग्यतानुसार पदों का साक्षात्कार करा देते हैं। अर्थात् कौन सी मनुष्यात्मा अग्रिम कल्प में प्राप्त होने वाले जन्मों में कैसे-कैसे, किन-किन रूपों में अभिनय करेगी इस बात की पूरी-पूरी जानकारी हर मनुष्य को कल्पान्त में हो जाती है। सतयुगी भारत में क्रमशः आठ गद्दियों को अलंकृत करने वाले भरत वा विष्णु उपाधिधारी ज्येष्ठातिज्येष्ठ आठ पुत्रों को सर्वप्रथम अपने चक्रवर्ती पद का साक्षात्कार होता है। तदुपरान्त बाहुबली प्रभृति अन्यान्य पुत्रों को भी क्रमशः पुरुषार्थ अनुसार अपनी-अपनी प्राप्ति और पद का पता पड़ जाता है। परमपिता ऋषभशिव के १०० पुत्रों की संख्या (१०० कौरवों की भाँति ही) पुत्र रूप आत्माओं की अनेकता की भी सूचक है क्योंकि सारी सृष्टि की मनुष्यात्माएँ भी परमपिता परमात्मा की ही सन्तान हैं। वे सम्पूर्ण सृष्टि की मनुष्यात्माएँ अपनी-अपनी मनोगत कामना या वासनानुसार अग्रिम कल्प में जन्म और पद प्राप्त करती हैं। इस प्रकार परमपिता परमात्मा ऋषभशिव द्वारा कल्पान्त में दिए जाने वाले मनोवांछित 'वारसे' का वर्णन जैनग्रन्थों में 'सांवत्सरिक दान' के रूप में किया गया है जिसका अर्थ परवर्ती टीकाकारों ने 'एक वर्ष की अवधितक स्थूल वस्तुओं का दान' माना है। भला सारी सृष्टि में एकमात्र निष्काम हो कर कर्म करनकरावनहार परमात्मा ऋषभशिव को

पुण्यार्जन करने की क्या आवश्यकता है? वास्तविकता यही है कि जीवात्माएँ ही पाप और पुण्य का अर्जन करने से सुख-दुःख के चक्र में आती हैं। परमात्मा तो इन क्लेश कर्म-विपाकादि के बन्धन से सर्वथा मुक्त है (दे० पृ० ११६ पाद० १) यही कारण है कि वह देह के बन्धन में बँधता है और न गर्भजन्म मे ही पकता है। वह भी बन्धन मे आने लगे तो कालचक्र के नियमानुसार नई से पुरानी, सात्विकी से तामसी होने वाली इस भौतिक सृष्टि को ~~कौन~~ नई और सत्त्वप्रधान अर्थात सुखी बनाने का निमित्त कौन और कैसे बने?

संवत्सर का अर्थ 'कल्प' भी है— (सम्पूर्णाः वसन्त्यस्मिन् वर्षर्तुमासपक्षवारादय इति सं + वस् - निवासे + डा, सरन्)। इस प्रकार सांवत्सरिक दान का अर्थ परमात्मा द्वारा मनुष्यात्माओं को सम्पूर्ण (५००० वर्षीय) कल्पगत मनोवाञ्छाओं की पूर्ति से है। परन्तु परम+पिता का यह बेहद का वारसा या दान भी पात्र की ग्रहण करने की योग्यता पर आधारित है। जैसा उत्तम, मध्यम या कनिष्ट जाति का पात्र होगा वैसे ही दान की आकांक्षा करते हुए तथा उसकी प्राप्ति के लिए वैसा ही (योगादिक) पुरुषार्थ करते हुए सफल होने पर सन्तुष्ट हो जावेगा। हेमाचार्य आदि कवियों ने भरत को राज्याभिषेक ~~देने~~ के उपरान्त ही इस संवत्सरी * दान का उल्लेख करते हुए लिखा है— 'प्रभु ने बाहुबली प्रभृति अन्य पुत्रों को भी उनकी योग्यतानुसार देश बाँट दिए। इसके बाद प्रभु ने कल्पवृक्ष की तरह मनुष्यों द्वारा उनकी अपनी इच्छा से की हुई प्रार्थना के अनुरूप सांवत्सरिक दान देना आरम्भ किया। इसके सिवा उन्होंने शहर के चौराहों और

दरवाजों पर जोर से डौंडी पिटवा दो (अर्थात् सबको ज्ञात करा दिया गया) कि जिसे जिस-चीज़ की जरूरत हो वह आकर ले जाय। --- प्रभु संसार से विरक्त होने वाले हैं यह जान कर लोगों का मन भी विरक्त हो गया था। अतः वे लोग केवल आवश्यकता के अनुसार ही दान लेते थे। यद्यपि प्रभु इच्छानुसार दान देते थे तथापि लोग अति अधिक न लेते थे।[1]

महाभिनिष्क्रमण :— इस प्रकार मानवमात्र को, न कि केवल भव्यात्माओं (ब्राह्मणदेवों) को ही, इच्छाओं की पूर्ति कर के, नई दुनियाँ और धर्म की स्थापना का कार्य पूरा होने पर ऋषभ/शिव इहलोक को त्याग कर परलोक की ओर प्रस्थान करते हैं। उस समय सृष्टि की सारी आत्माएँ भी उनका अनुसरण करती हैं। वैदिक ग्रन्थों में भी शिव की बरात के रूप में इसका उल्लेख है जहाँ देव, दानव, मानव, तिर्यञ्चादि सब प्रकार के जीव उस बारात में सम्मिलित होते हैं। वहाँ दक्षयज्ञ से विनाश की ज्वाला उत्पन्न होने के उपरान्त ही इस बारात के जाने का उल्लेख है। अर्थात् सृष्टि का महा-विनाश होने पर ही सभी ज्योतिर्बिन्दु स्वरूप आत्माएँ अपना स्थूल शरीर छोड़ कर सूक्ष्म लोक (अन्तरिक्ष)

---

(1) अथो ददौ बाहुबलिप्रभृतिभ्यो यथोचितम् ।
अन्येभ्योऽपि च पुत्रेभ्यो विभज्य विषयान् विभुः ॥१८
ततश्च सांवत्सरिकं दानमारभत विभुः ।
कल्पद्रुम इव स्वेच्छापूर्वनानुगुणं नृणाम् ॥१९
यो यैनार्थी स तद्गृह्णात्येवमाघोषणां विभोः ।
चतुष्पथप्रतोल्यादिस्थानेषूच्चैरकार्यत ॥१९
-- जातसंस्कारवैराग्या दीक्षया स्वामिनो जनाः ।
शेषामात्रमदोऽगृह्णन् इच्छादानेऽपि नाधिकम् ॥ त्रि. ३, २५

में प्रकाशमय सूक्ष्म शरीर धारण करते हुए और बाद में उसे भी त्याग कर परलोक में शरीर रूपी वस्त्र से सर्वथा रहित नग्न रूप में मच्छरों सदृश प्रवेश करते हैं। आत्माओं की यह (रवहानी) दौड़ परलोक में इन्हें प्राप्त होने वाली ऊँचे से ऊँची उनकी सम्पूर्ण स्थिति के अनुसार स्पर्धापूर्वक होती है। इस महाभिनिष्क्रमण का वर्णन हेमाचार्य ने इस प्रकार किया है — 'वार्षिक दान के अन्त में अपना ~~स्थूल~~ आसन चलायमान होने पर इन्द्र (ब्रह्मा) दूसरे भरत की तरह भगवान के पास आया। --- इस कार्य का अधिकारी होने से इस तरह उस समय इन्द्र (ब्रह्मा) द्वारा लाए हुए (सूक्ष्म शरीर रूपी) दिव्य गहने और कपड़े प्रभु ने धारण किए (अर्थात् पुरुषार्थ पूरा होने से भरत (ब्रह्मा) द्वारा स्थूल शरीर त्याग दिए जाने पर उनके सूक्ष्म शरीर को ऋषभदेव ने धारण किया) मानो अनुत्तर विमान के अन्दर का एक विमान हो ऐसी सुदर्शना नाम की (सूक्ष्मलोक या अन्तरिक्ष रूपी) पालकी इन्द्र ने प्रभु के लिए तैयार की। --- इस प्रकार भगवान को जाते हुए देख कर पुरवासीजन (विश्वात्माएं) उनके पीछे इस तरह दौड़े जिस तरह बालक पिता के पीछे दौड़ते हैं[१]। --- कितनी ही कमलनयनी नारियाँ

---

(१) अथ वार्षिकदानान्ते वासवश्चलितासनः।
भक्त्यान्य इव भरतो भगवन्तमुपास्थितः॥२६
-- मक्षूपनीतं तदधिकारिणेव बलारिणा।
दिव्यालङ्कारवस्त्रादि पर्यधत्त जगद्विभुः॥२८
अनुत्तरविमानानां विमानमिव किञ्चन।
सुदर्शनाख्यां शिबिकां पत्ये हरिरसूत्रयत्॥२९
-- भगवन्तं यथा यातं दृष्ट्वा सर्वेऽपि नागराः।
समभ्यधावन्त पितरं बालका इव॥३०
(त्रि. सर्ग ३)

अपने नेत्रों को (योग-) निश्चल और (रहानी) गति को तेज कर के प्रभु के पीछे-पीछे चलतीं और उन्हें देखती थीं।-- कितने ही (सहारथी) देव मूर्तिमान पवन हों हो इस तरह अतीव वेगवान रथों में बैठ कर नाभिकुमार के दर्शनों को आरहे थे। ऐसा मालूम होता था मानों (विभिन्न श्रेणी के पुरुषार्थ सूचक) वाहनों की क्रीड़ा में उन्हों ने परस्पर बाजी मारने की प्रतिज्ञा की हो क्यों कि वे आगे निकलने में अपने सुहृदों को राह भी नहीं देखते थे (क्यों कि अन्तिम क्षणों में उन पुरुषार्थियों का मायामोह नष्ट हो चुका था)--- विमान रूपी हवेलियों और हाथी-घोड़ों एवं रथों से आकाश में मानो दूसरी विनीतानगरी बसी हुई थी (?) सूर्य और चन्द्रमा से घिरे हुए मानुषोत्तर पर्वत की तरह भगवान प्रकृष्ट देवों और मानवों से घिरे हुए थे। उनके दोनों पार्श्वों में भरत और बाहुबली (कृष्ण और राम) सुशोभित थे (?) मानो दोनों ओर से समुद्र शोभित हो रहा हो।

(क्रमशः)

---

(१) मूर्तिमद्भिः पवनैरिवातिशयरंहसा।
स्यंदनैर्दुस्सटैः केचिदासन्नाभिनन्दनम्॥५३
अन्योन्यं वाहनक्रीडाप्रतिज्ञातपणाइव।
प्रतीक्षांचक्रिरे मित्रमपि न त्रिदिवौकसः॥५४
---विमानहर्म्यैः करिभिस्तुरगैः स्यन्दनैरपि।
नभस्यभूद्वितीयेव विनीता नगरी तदा॥५५
परिवव्रे जगन्नाथः प्रकृष्टसुरमानुषैः।
मानुषोत्तरशिखरीवाहस्कर निशाकरैः॥५६
पार्श्वयोर्भरतबाहुबलिभ्यामुपसेवितः।
शोणोर्मिभ्यामिव पाथोधिर्बर्हिमासे वृषध्वजः॥५८
(त्रिषष्टि सर्ग ३)

जिस तरह हाथियों का झुण्ड अपने यूथपति का अनुसरण करता है उसी तरह शेष ९८ विनीत पुत्र (प्रथमश्रेणी की जीवात्माएँ) प्रभु के पीछे-पीछे चल रहे थे। माता मरुदेवी सुनन्दा और सुमङ्गला एवं पुत्री ब्राह्मी और सुन्दरी तथा अन्य स्त्रियाँ बर्फ के कणों सहित कमलिनी की तरह मुखों पर आँसुओं की बूंदों सहित प्रभु के पीछे-पीछे चल रही थी।[१] (चूँकि ऋषभदेव ने अपने कार्यकाल में भारतमाताओं को पुरुषों से अधिक प्रतिष्ठा प्रदान की थी अतः यहाँ केवल स्त्रियों को ही विषादमय दिखाया गया है)।

~~सर्वार्थसिद्धविमान या सिद्धार्थवन और अशोकवृक्ष~~

भारतीय परम्परा में सर्व अर्थों की सिद्धि तब ही मानी जाती है जब कि पुरुष जन्म-जरा-मरण के दुःखों से मुक्त हो कर मुक्तिधाम की प्राप्ति कर ले। इस प्रकार सर्व अर्थों की सिद्धि प्राप्त कराने वाले स्थान परमधाम को ही जैनग्रन्थों में सिद्धार्थ बाग अथवा सिद्धार्थ विमान कहा गया है जहाँ पहुँच कर पुरुष के सम्पूर्ण अर्थों की सिद्धि हो जाती है क्योंकि वही हम सब आत्माओं के बाप का घर है।[२]

सर्वार्थसिद्धविमान से ही ऋषभशिक्षा का इस भूतल पर अवतरण (च्यवन) होता है।[३] अतः हेमाचार्य ने इस लोक की तुलना मानसरोवर से की है जहाँ हंस के समान (ज्ञानी)

---

③ च्युत्वा सर्वार्थसिद्धितः श्रीनाभिपत्न्या उदरे मरुदेव्या अवातरत् मानसात् सरसो हंस इव मंदाकिनीतटे। त्रि० २,२१०

② विस्तार के लिए देखिए प्रकरण ३

① अष्टानवत्या तनयैर्विनीतैरपरैरपि।
अन्वगामि जगत्स्वामी यूथनाथ इव द्विपैः ॥५६
माता पत्न्यौ च पुत्र्यौ च स्त्रियोऽन्याऽपि साश्रवः।
सावश्यायकणाः पद्मिन्यः इव प्रभुमन्वगः ॥ त्रि० ३,६०

शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्माएँ ही निवास करती हैं। यहीं से ऋषभादि तथा अन्य सभी आत्माओं का इस भूतल पर अपने-अपने समय पर अवतरण होता है और अन्त में प्रभु के साथ सब आत्माओं का एक साथ ही, निर्वाण के बाद प्रवेश हो जाता है। इस प्रकार सिद्धार्थ विमान और सिद्धार्थवाग एक ही परमधाम के समानार्थक नाम है जिसका संकेत हेमाचार्य ने भी किया है— "जिस बाग में प्रभु पधारे उसका नाम सिद्धार्थ उद्यान था और वह प्रभु के पूर्वजन्म के सर्वार्थसिद्ध विमान के समान मालूम देता था[1]। 'बाग' नाम इस लिए सार्थक है कि यहाँ अपनी सम्पूर्ण अवस्था को प्राप्त हुए आत्मा रूपी विकसित पुष्प खिले ही रहते हैं, तथा 'विमान' नाम इस लिए सार्थक है कि इसमें प्रत्येक शान्तस्वरूप आत्मा अपने निर्दिष्ट समय तक ही अवस्थित रह सकती हैं। बाद में जन्मी जन्मी सृष्टि रूपी रंगमञ्च पर उसे अवश्य अवतरित होना पड़ता है, क्योंकि अत्यन्त ऊँचाई का परिणाम पतन अवश्यभावी है (पतनान्ता ह्येवोच्छ्रयाः त्रि. ३/पृ.१)

अशोकवृक्ष :— (सृष्टिवृक्ष) प्राचीन काल से ही भारतीय परम्परा में इस अनादि सृष्टि को तुलना उलटे वृक्ष से की जाती रही है जिसे वटवृक्ष, न्यग्रोध अशोक, अश्वत्थ, चैत्य आदि अनेक सार्थक नामों से पुकारा गया है। इसको ब्राह्मण धर्म रूपी जड़ें ऊपर को ओर हैं और अन्यान्य धर्म रूपी शाखाएं नीचे की ओर हैं जिनको उत्पत्ति परवर्ती काल में ब्रह्मा और ब्राह्मणों द्वारा स्थापित कराए गए "आदि देवी-देवता सनातन जैन

---

[1] विमानमिव सर्वार्थसिद्धं प्राक्तनजन्मनि।
नाम्ना सिद्धार्थमुद्यानमाससाद जगत्पतिः॥ (त्रि. ३, ६१)

(२४०)(क्ति)

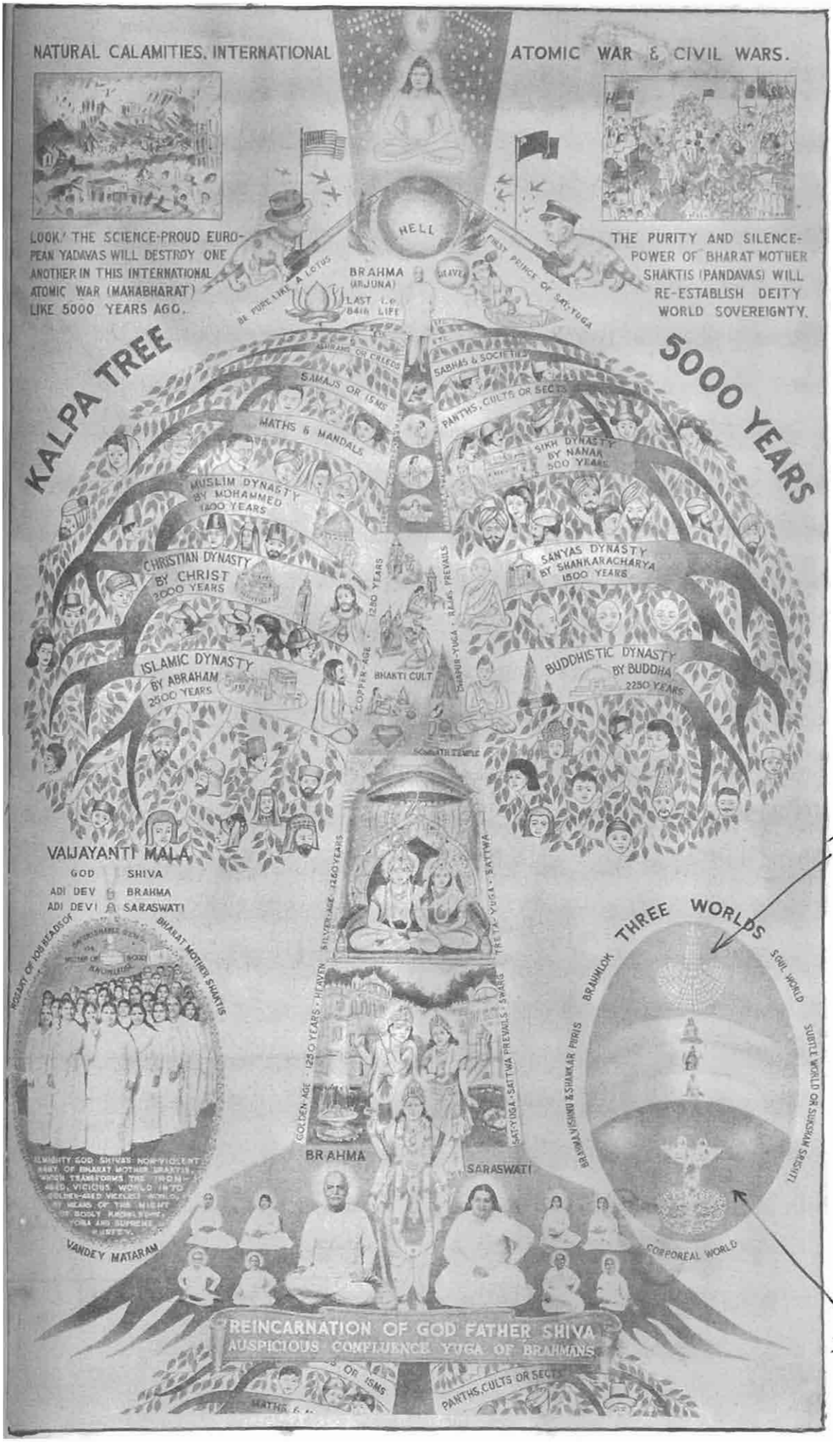
NATURAL CALAMITIES, INTERNATIONAL ATOMIC WAR & CIVIL WARS.
LOOK! THE SCIENCE-PROUD EUROPEAN YADAVAS WILL DESTROY ONE ANOTHER IN THIS INTERNATIONAL ATOMIC WAR (MAHABHARAT) LIKE 5000 YEARS AGO.
THE PURITY AND SILENCE-POWER OF BHARAT MOTHER SHAKTIS (PANDAVAS) WILL RE-ESTABLISH DEITY WORLD SOVEREIGNTY.
HELL
BRAHMA (ARJUNA) LAST I.E. 84th LIFE
BE PURE LIKE A LOTUS
HEAVEN
FIRST PRINCE OF SATYUGA
KALPA TREE
5000 YEARS
ASHRAMS OR COLLEGES
SAMAJS OR ISMS
MATHS & MANDALS
SABHAS & SOCIETIES
PANTHS, CULTS OR SECTS
SIKH DYNASTY BY NANAK 500 YEARS
MUSLIM DYNASTY BY MOHAMMED 1300 YEARS
CHRISTIAN DYNASTY BY CHRIST 2000 YEARS
SANYAS DYNASTY BY SHANKARACHARYA 1500 YEARS
ISLAMIC DYNASTY BY ABRAHAM 2500 YEARS
BUDDHISTIC DYNASTY BY BUDDHA 2250 YEARS
1250 YEARS
COPPER-AGE
BHAKTI CULT
DWAPUR-YUGA - RAJAS PREVAILS
VAIJAYANTI MALA
GOD SHIVA
ADI DEV BRAHMA
ADI DEVI SARASWATI
ROSARY OF 108 BEADS OF
BHARAT MOTHER SHAKTIS
ALMIGHTY GOD SHIVA'S NON-VIOLENT ARMY OF BHARAT MOTHER SHAKTIS WHICH TRANSFORMS THE IRON-AGED, VICIOUS WORLD INTO GOLDEN-AGED HEAVENLY WORLD BY MEANS OF THE MIGHT OF SOULY KNOWLEDGE, YOGA AND SUPREME PURITY.
VANDEY MATARAM
SILVER-AGE 1250 YEARS
TRETA-YUGA - SATTWA
GOLDEN-AGE 1250 YEARS - HEAVEN
SATYUGA - SATTWA PREVAILS - SWARG
BRAHMA
SARASWATI
THREE WORLDS
BRAHMLOK
SOUL WORLD
BRAHMA VISHNU & SHANKAR PURIS
SUBTLE WORLD OR SUKSHMA SRISHTI
CORPOREAL WORLD
REINCARNATION OF GOD FATHER SHIVA
AUSPICIOUS CONFLUENCE YUGA OF BRAHMANS
OR ISMS
PANTHS, CULTS OR SECTS
MATHS &

धर्म' रूपी पुर भाग से ही होती है। चित्र में इस सम्पूर्ण वृक्ष को पाँच भागों में बाँटा गया है। १- प्रथमतः ऊपरी भाग में नई सृष्टि की स्थापना करने वाले ब्राह्मणधर्म की सूचक जड़ें हैं जिनका आरोपण संगमयुग में वृत्ताकार बीजरूप ज्योतिर्लिंगम् ऋषभदेव ही करते हैं। इसी लिए त्रिषष्टि आदि जैन ग्रन्थों में इन्हें धर्म (रूपी कल्पवृक्ष) का बीज कहा गया है[१]। बीज में से प्रथमतः ब्रह्मा-सरस्वती (भरत-ब्राह्मी) रूपी दो पत्ते निकलते हैं जिनके द्वारा अन्यान्य मुखवंशावली ब्राह्मणों की उत्पत्ति होती है। २- जड़ों के नीचे सतयुगी स्वर्ग रूपी मोटे पुर भाग में यही ब्रह्मा-सरस्वती, विष्णु, की प्रतीकात्मक सम्पूर्ण अवस्था को प्राप्त करते हुए राधाकृष्ण के रूप में जन्म लेकर विश्वमहाराजन लक्ष्मी-नारायण के नाम से सतयुगी देवताओं (जो संगमयुगी पूर्व पुरुषार्थी जन्म में ब्राह्मण थे) पर राज्य करते हैं। यहाँ वृक्ष का मोटा पुर भाग सतयुगी सुख समृद्धि की अधिकता के साथ ही विश्व में एक धर्म, एक राज्य तथा एक ही भाषा रूपी एकता की सूचना देता है।

३- वृक्ष का तृतीय भाग त्रेतायुगी सामान्य स्वर्ग का सूचक है अतः सुखसमृद्धि के कुछ न्यून हो जाने से पुर भाग थोड़ा पतला दिखाया गया है। यहाँ भी रामसीता के राज्य में विश्व की धार्मिक-राजनीतिक एकता का खण्डन नहीं होता, अतः दूसरी डाल-डालियाँ न दिखा कर एक ही पुर दिखाया गया है।

४- वृक्ष का चतुर्थ भाग द्वापरयुग का सूचक है जिसके आरम्भ में आत्माभिमानी देवताएँ ही पहले के

---

[१] धर्मस्यासि पुरोहाय बीजमेकं तदोरिव ॥ त्रि-३, ४८१

दो युगों से अनेक जन्म लेते-लेते देहाभिमान में आजाते हैं जिसके कारण धीरे-धीरे विकारों रूपी बीमारियों के बढ़ने से जनसंख्या बढ़ने के साथ-साथ दुःखों का भी आरम्भ हो जाता है। इसी समय बढ़ती हुई विकारों को बीमारियों को रोकने के लिए कुछ प्रमुख धर्मसंस्थापकों का परलोक से अवतरण होता है। आज से २५०० वर्ष पूर्व इब्राहीम ने इस्लामधर्म की स्थापना की। तदुपरान्त भारत में महात्मा बुद्ध ने अवतरित हो कर धर्म के नाम पर 'नरमेध यज्ञ' आदि की बढ़ती हुई हिंसा को रोकने के लिए बौद्ध धर्म की स्थापना की। २००० वर्ष पूर्व ईसामसीह ने यौरोप में अवतरित हो कर खुस्त धर्म की स्थापना की। द्वापर के अन्त में मुहम्मद ने आकर इस्लाम धर्म का पुनर्नवीनीकरण करते हुए मुस्लिमधर्म चलाया। इस प्रकार द्वापर युग में सृष्टि रूपी धर्मवृक्ष में विभिन्न धर्मों की चार नवीन शाखाएँ फूट पड़ीं।

५- तामसी कलियुग आने तक भारत में व्यभिचारी वृत्ति बढ़ जाती है। एक-एक राजा के निवास में सैकड़ों रानियाँ रखे जाने की कुप्रथा का आरम्भ हो जाता है यथा राजा तथा प्रजा भी अतिशय व्यभिचारी हो जाती है। ऐसे ही समय में पतन के गर्त में जाते हुये भारत की पवित्रता को शंकराचार्य के द्वारा सन्यासधर्म की स्थापना कर के कलियुग के आरम्भ में ही थमा लिया जाता है। दूसरी ओर द्वापरयुग में स्थापित हुए धर्मों में जहाँ विघटन पैदा होने से आपसी फूट पड़ जाती है वहाँ भारतीय सनातन धर्म में भी (जिसे 'हिन्दू धर्म' की संज्ञा दे दी जाती है) में भी कलहयुग के प्रभाव से अनेक मठ, पन्थ, सम्प्रदायादि की रचना होने लग जाती है। तात्पर्य है कि कलियुग के अन्त तक नए-नए धर्मसंस्थापक, गुरु, गुसाईं आदि आकर

अपनी-अपनी शक्ति और समय अनुसार पतित होतेहुए सृष्टि को बचाने का भरसक प्रयास तो करते है, परन्तु अनेक धर्मसम्प्रदाय रूपी डाल-डालियों की वृद्धि होने से, तथा मत-मतान्तरों का आपसी संघर्ष अत्यधिक बढ़ जाने से इन जर्जरित, तामसी बने हुए धर्मों के प्रति लोगों मे ग्लानि पैदा हो जाती है। तब अन्त में पुनः विश्वपिता ऋषभशिव द्वारा ब्रह्मा-सरस्वती के माध्यम से एक नवीन सद्धर्म रूपी सृष्टि वृक्ष की कलम लगाई जाती है और जराजीर्ण धर्मसिद्धान्तों वाले पुराने दुःखदायी झाड़ में आग लगा दी जाती है।

ऋग्वेद में उपरिवर्णित सृष्टिवृक्ष का वर्णन इस प्रकार है — "जिस वृक्ष पर (ज्ञान) जल ग्रहो किरणें (कलियुगी अज्ञान रूपी) रात्रि को बैठतीं और संसार के ऊपर प्रातः काल (सतयुगादि) में दीप्ति प्रसार करती हैं, विद्वान लोग उसका (सुख रूपी) फल प्राप्तनीय बताते हैं। जो व्यक्ति पिता को नहीं जानता वह इस (सुखसमृद्धि रूप स्वर्ग के) फल (अर्थात् बाप के वर्से) को नहीं प्राप्त करता है[1]" (ऋ० १,१६५,२२)। अथर्ववेद में भी कहा है — "वृक्ष का जो (स्वर्गीय) भाग सुस्वादु पीपल कहलाता है उसमें जो (अतीन्द्रिय सुख रूपी) मधु खाने वाले (दैवरूप) पक्षी बैठते हैं वे सृष्टि का विस्तार करते हैं। जो कारण नहीं जानता उसका वह संसार नाश को प्राप्त नहीं होता[2]" यहाँ तात्पर्य है कि सृष्टि के आदि-मध्य-अन्त के ज्ञान को न जानने वाले अज्ञानी जन स्वर्ग में जा जा कर पुनः इस द्वापर व कलियुगी दुखी संसार मे ही जन्म लेते हैं (अथर्व० ६,५,६,२१)।

[illegible]

---

① यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे।
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद॥

भगवद्गीता में इसन्यग्रोध (अश्वत्थ) वृक्ष का वर्णन कुछ अधिक स्पष्ट रूप में मिलता है →
"यह संसार अविनाशी अश्वत्थ है जिसकी जड़ ऊपर और शाखाएं नीचे को और फैली हुई हैं (वेदपुराणादिक) छंद उसके पत्ते हैं (जिनकी उत्पत्ति द्वापर युग में होती है)। जो उसे उसे जानता है वही सच्चा ज्ञानी है। उस वृक्ष की ⓪= शाखाएं नीचे भौतिक विश्व में और ऊपर आध्यात्म में ब्रह्मतत्त्व (परमधाम) तक फैली हैं। सत्त्व, रज, तम तीन गुण उन्हें (क्रमशः) बढ़ाते हैं। उनमें से विषयों के अंकुर उठते रहते हैं (अर्थात् विषय-वासनाएँ क्रमशः बढ़ती रहती हैं) इसकी (ब्राह्मण धर्म रूपी) जड़ें जो ऊपर हैं वे कर्मों के अनुसार ~~का~~ मनुष्य लोक में भी नीचे की ओर फैलती हैं। इसका जो अविनाशी रूप (परमधाम) में है वह इस नश्वर मनुष्य लोक में वैसा (अर्थात् उसी आकार में) दिखाई नहीं पड़ता। दूसरी ओर नश्वर होने पर भी इसका आदि अन्त और स्थिति दिखाई नहीं देती। खूब पक्की जड़ वाले इस अश्वत्थ को (बुद्धि द्वारा देह और देह के सभी सम्बन्धों के) संग-त्याग रूपी दृढ़ शस्त्र से काट कर[1] वह परम पद प्राप्त करना

---

[1] ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥१
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबंधीनि मनुष्यलोके॥२
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा॥ गीता १५, ३

⓪= धर्मसंस्थापकों और उनके अनुयायियों को ही धर्मरूपी शाखाओं का स्वरूप दिया गया है। अहा: विभिन्न धर्मावलम्बी आत्माओं की स्थिति जैसे भौतिक विश्व में है उसी क्रम से लोकत्र (परमधाम) में भी है।

चाहिए जहाँ जाकर फिर (इस दुःखी संसार में) लौटना नहीं होता। उसी आद्यपुरुष (ऋषभशिव) को प्राप्त करना चाहिए जहाँ से इस अश्वत्थ वृक्ष को पुरानी प्रक्रिया आरम्भ हुई है।[1]

जैनग्रन्थों में इस ~~कल्पवृक्ष~~ धर्मवृक्ष को अशोक वृक्ष कहे जाने का यही कारण है कि जब सम्पूर्ण जीर्णावस्था को प्राप्त होने पर अनेकानेक धर्म रूपी डालियों के टकराने से इस जर्जरीभूत वृक्ष के आश्रय में रहने वाले आत्मा रूपी पक्षी शोकाकुल हो जाते हैं तो पुनः बीजरूप परमपिता ऋषभशिव आदिनाथ ब्रह्मा भरत के साकार माध्यम ~~से~~ द्वारा इस पूर्णायु को प्राप्त हुए वृक्ष के नीचे स्थित हो कर ब्राह्मणधर्म रूपी जड़ों को स्थापना करते हैं जिससे फिर से शोकरहित वृक्ष की उत्पत्ति हो जाती है। इसी लिए तो सृष्टिवृक्ष के (आरोपण के) उद्देश्य को व्यक्त करते हुए जिनसेन ने लिखा है — "जिसने अपनी शाखाओं के अग्र भाग से समस्त दिशाओं को व्याप्त कर रखा है ऐसा वह अशोक वृक्ष ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो समस्त संसार को शोकरहित करने के लिए उद्यत[2] हुआ हो। तात्पर्य है कि इस सृष्टि-वृक्ष का प्रयोजन आत्मा रूपी पक्षियों को सुख प्रदान करना है क्यों कि ऋषभशिव जैसे महानतम पुरुष का सृजन कार्य विश्व को सुख शान्ति के लिए ही होता है।[3] अतः इस वृक्ष का अशोक नाम सार्थक है।

---

(३) विश्वस्य सुखसृष्ट्यै हि महापुरुषसृष्टयः॥ त्रि. २/६५/२

(२) शाखाग्र व्याप्तविश्वाशः स रेजेऽशोकपादपः।
अशोकमयमेवेदं जगत्कर्तुमिवोद्यतः॥ महापु. २३/८७

(१) ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥ गीता १५/४

यहाँ यह तर्क रखना निरर्थक होगा कि यदि सृष्टि का प्रयोजन सुख प्रदान करना ही है तो सृष्टि में दुःख क्यों देखने में आ रहा है? जैसे नए मकान के निर्माण का हेतु सुख प्राप्त करना ही होता है; परन्तु कभी न कभी पुराना हो जाने पर दुःखदायी हो जाने से उसे त्याग कर पुनः नए मकान का निर्माण किया जाता है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए। जब क्षणभङ्गुर सुख प्राप्त कराने वाले इन असंख्य भौतिक मकानों के बारे में कोई यह प्रश्न नहीं उठाता तो दीर्घतम काल के लिए उत्कृष्टतम आनन्द प्रदान कराने वाले इस एक ही सृष्टिरूपी मकान के सम्बन्ध में यह प्रश्न कैसे उठाया जा सकता है!

<u>कायोत्सर्ग अवस्था</u>:— इहलोक और पारलोक दोनों में ही इस उपरिवर्णित वृक्ष का क्रमशः भौतिक और आध्यात्मिक अस्तित्व है (गीता १५, २)। भौतिक सृष्टिवृक्ष के नीचे देहधारी वृषभरूप आदिनाथ ब्रह्मा भरत को सर्व-प्रथम देह और देह के सारे सम्बन्धों सहित इस पुरानी, कलियुगी, दुःखी संसार को बुद्धि द्वारा त्यागन कर सच्ची कायोत्सर्ग अवस्था में स्थित हुए थे। अर्थात् संगमयुगी स्थापना के समय ब्रह्मा भरत ने संसार का बुद्धि से त्याग किया था; परन्तु स्थापना होने के उपरान्त निराकार ऋषभ-शिव ने भी ब्रह्मा को काया (देह) सहित इस संसार को त्याग कर ब्रह्मतत्त्व में स्थित आध्यात्मिक वृक्ष के मूलभाग ब्रह्म में स्थान ग्रहण किया था। ऋषभदेव के महाभिनिष्क्रमण वृत्तान्त के अन्त में हेमचन्द्र ने इसी बात का वर्णन किया है → 'ममतारहित मनुष्य जिस तरह संसार से निवृत्त होता है उसी तरह नाभिनन्दन (सूक्ष्मलोकरूपी) पालको रत्न से वहाँ (ब्रह्मलोक में) (आध्यात्मिक) अशोकवृक्ष के

नीचे उतरे और कषायों की तरह उन्होंने इन्द्र (ब्रह्मामरत) प्रदत्त (सूक्ष्मशरीरस्थ) दिव्य वस्त्रादि तत्काल त्याग दिए।'[1]

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि एक ही शरीर में दो आत्माओं का अस्तित्व होने से दोनों के कर्तव्यों और चरित्रों का एक में अथवा एक का दूसरे में सम्मिश्रण हो जाने से भ्रमात्मक स्थिति पैदा हो गई है। यही कारण है कि इन दोनों आत्माओं (शिव और ब्रह्मा) में से एक के चरित्र को ले कर किसी भी 'रामायण', 'महाभारत' 'आदिनाथ' आदि समूचे महाकाव्यों का क्रमिक अर्थ नहीं किया जा सकता। अतः उपरिवर्णित महाभिनिष्क्रमण का वृत्तान्त तथा वटवृक्ष के नीचे[2] केवलज्ञान प्राप्ति का वर्णन — ये दोनों ही वृत्तान्त कहीं तो ऋषभशिव पर घटित होते हैं, और कहीं ब्रह्मा भरत और कहीं-कहीं दोनों पर ही ~~अर्थ~~ एकसमान अर्थघटन होता है।

केशलोंच :— ऋषभदेव के दीक्षामहोत्सव के उपरान्त चारित्रग्रहण के प्रसंग में उनके द्वारा अपनी चार मुट्ठियों से अपने बाल नोंचने[3] या उखाड़ने का वर्णन सभी तीर्थंकर-चरित्र-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है जिसके आधार पर आज भी जैन मुनियों में सती प्रथा के समान क्रूर एवं कष्टदायी केशलोंच की परम्परागत रूढ़ि

---

(३) उच्चस्कान चतसृभिर्मुष्टिभिः शिरसः कचान् ॥त्रि॰ ३,६७

(२) णग्गोहस्स य हेट्ठा, उप्पण्णं केवलं नाणं।
(आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ३३६)

(१) तस्माच्च शिबिकारत्नात्संसारादिव निर्ममः।
समुत्ततार नाभेयस्तत्राशोकतरोस्तले ॥ ६२
तानि वस्त्राणि माल्यानि भूषणानि च नाभिभूः।
उज्झाञ्चकार सपदि कषायानिव सर्वतः ॥त्रि॰ ३,६३

प्रचलित है। यद्यपि भागवत आदि वैदिक ग्रन्थों में ऋषभदेव की प्रव्रज्या के समय केशलोंच आदि का वर्णन उपलब्ध नहीं है फिर भी हिन्दुओं के तथागत साधुओं द्वारा भी दीक्षाकाल में दाढ़ी-मूँछ और सर के बाल घुटाने की दीर्घकालीन परम्परा प्रचलित है। प्रश्न है कि अपने ही रोते-बिलखते पत्नी-बच्चों का निर्दयतापूर्वक त्याग करने के साथ दाढ़ी-मूँछ आदि के बालों का त्याग करने अथवा उखाड़, फेंकने से क्या सम्बन्ध है? वास्तविकता यह है कि ऋषभशिव ने ब्रह्मावरत के शरीर में प्रवेश कर उन्हें क्षणभंगुर कलियुगी देह और देह के समस्त सम्बन्धियों से बुद्धिपूर्वक (न कि स्थूल रूप से(!)) बेहद का सन्यास दिलाने के साथ ही निर्दयी होकर पञ्चविकारों का मूलोच्छेदन रूपी पञ्चमुष्टि लोंच करने का आदेश दिया था। ऐसा मुष्टिलोंच अपने बुद्धि रूपी हाथों के ही द्वारा किया गया था। तात्पर्य है कि कामक्रोधादिक पञ्चविकारों को बुद्धि रूपी हाथ द्वारा जड़मूल से उखाड़ फेंकने का दृढ़ निश्चय करना ही पञ्चमुष्टिलोंच का रहस्य है। जो व्यक्ति यह दृढ़ निश्चय ले कर सर्वथा निर्विकारी जीवन व्यतीत करते हुए सच्चे जैन, श्रमण साधु अथवा ब्रह्मावरवंशीय ब्राह्मण बनते हैं वे ही सतयुगी स्वर्ग में निर्विकारी देवपद प्राप्त करते हैं, जिनके स्वभावतः विकारभाव के प्रतीक (सूचक) दाढ़ी-मूँछ आदि के बाल नहीं होते। स्पष्ट है कि पतनोन्मुखी, विकारभाव के सूचक बालों को बलात्कार पूर्वक उखाड़ने अथवा मुंडवाने से कोई व्यक्ति निर्विकारी नहीं बन जाता, अपितु, इसके लिए तो ध्यानादिक विशिष्ट बौद्धिक पुरुषार्थ ही करना पड़ता है। जैन ग्रन्थों में भी बताया गया है कि ऐसा सम्पूर्ण पुरुषार्थ करने वाले मुनियों

का विकारभाव सर्वथा नष्ट हो जाने पर उनके सारबून और बालों में फिर स्वभावतः वृद्धि नहीं होती।

इसी प्रसंग में जैनग्रन्थों में यह भी बताया गया है कि ऋषभदेव ने ज्यों ही पाँचवी मुट्ठी से अवशेष बालों को उखाड़ने की इच्छा की त्योंही इन्द्र ने प्रार्थना की — 'हे स्वामिन्!. अब इतनी केश वल्लरी रहने दीजिए क्यों कि हवा से जब वह आप के सोने सी कान्ति वाले कन्धे पर आती है तब मरकतमणि की शोभा को धारणकरती है। प्रभु ने इन्द्र की बात मान ली और वह केशवल्लरी वैसे ही रहने दी।[१] वैदिक ग्रन्थों मे भी कामदहन प्रसंग में वर्णन है कि जब शिव ने तीसरे (ज्ञान-) नेत्र से कामदेव (विकारभाव) को नष्ट कर दिया तब रति की प्रार्थना पर शिव ने कामदेव को अंगहीन, सूक्ष्म स्वरूप प्रदान किया (--हुइहै नाम अनंग। बिनु वपु व्यापहि सबहि --॥' तुलसीकृत रामायण)। स्पष्ट है कि यहाँ भी पाँचवी मुट्ठी के केश विकार भाव अर्थात् कामना के सूक्ष्म अंशमात्र में बचे रहने की सूचना देते हैं क्यों कि गीता के अनुसार किसी भी सत्-वस्तु का सर्वथा अभाव नहीं होता (नाभावो विद्यते सतः २/१६) राजस और तामस गुणों के सूचक विकार भाव के अंश (कामना रूपी बीज) मात्र का भी नाश होने पर

---

① मुष्टिना पञ्चमेनाथ शेषान् केशान् जगत्पतिः।
समुच्चिखनिषन्तेवं ययाचे नमुचिद्विषा॥ ६६
नाथ त्वदंशयोः स्वर्णरुचोर्मल्लिकोपमा।
वातानीता विभात्येषा तदास्तां केशवल्लरी॥ ७०
तथैव चारयामास तामीशः केशवल्लरीम्॥ त्रि. ३,७१

तो सतयुगी सात्त्विक सृष्टि का भी निर्माण नहीं हो सकता जिसके बिना अतीन्द्रिय सुख, सौंदर्य और समृद्धि की प्राप्ति हो असम्भव हो जाव गी। चूँकि शिरोभाग से लेकर स्कन्ध प्रदेश तक का भाग ही विराट् पुरुष (विष्णु) के सौंदर्य और समृद्धिवान् स्वर्णिम युग का सूचक है अतः अथर्व इन्द्र की प्रार्थना में ~~ऐसा कहा गया है कि~~ 'स्वर्ण की सी कांति वाले कन्धे पर मरकतमणि की शोभा धारण करने' का उल्लेख नितान्त सार्थक है। तात्पर्य है कि आत्मनाथ ब्रह्मा भरत द्वारा सम्पूर्ण पुरुषार्थ की केवली स्थिति प्राप्त किए जाने पर भी उनमें उच्चतम कोटि का अतिसूक्ष्म अतीन्द्रिय सुख प्राप्त करने की कामना अवश्य बनी रहती है। उसी कामना के आधार पर उनके लिए पुनः नई सतयुगी स्वर्णिम सृष्टि का निर्माण होता है।

प्रकरण-११. ब्रह्मा भरत (मनु) अर्थात मानवीय चौरासी जन्मों के उत्थान-पतन का संक्षिप्त भारतीय इतिहास

त्रिषष्टि के अनुसार ऋषभदेव ने अपने प्रथम उपदेश में कहा था — 'अत्यधिक ऊँचाई का परिणाम पतन अवश्यम्भावी है -- जिस तरह जल नीची जमीन की ओर जाता है उसी तरह नीचाभिमुख प्राणी अज्ञानवश बारम्बार संसार की ओर जाते हैं'।[1] यहाँ सामने सीढी के चित्र में भी चौरासी मानवीय जन्मों के उत्थान-पतन का वृत्तान्त अंकित है। चित्र में सबसे ऊपर सतयुग है जिसे स्वर्ग या बैकुण्ठ कहते हैं। इसमें विष्णु के साकार स्वरूप श्री नारायण (भरत) और उनकी वंश-परंपरा की ८ पीढियों का राजगद्दी चलती है।[2] यहाँ मानवीय आयुष्य लगभग १५० वर्ष होता है। सतयुग में यथा राजा तथा प्रजाजन भी सत्त्वप्रधान प्रकृति वाले होते हैं। वे सर्वगुण सम्पन्न, सम्पूर्ण १६ कला सम्पूर्ण, सम्पूर्ण निर्विकारी,[3] मर्यादापुरुषोत्तम होते हैं। इस युग में श्री नारायण के आठ जन्म सूर्यवंश में पूज्य राजाओं अथवा राजवंश में होते हैं। इस युग में शीर्षभाग (मस्तक) के समान देवता वर्ण होता है। सतयुग के आदि में जनसंख्या नौ लाख से कुछ अधिक होती है।[4]

---

(४) दे. पृ. २३२ पर प्रकरण 'नौ लाख की संख्या का महत्त्व'।
(३) प्रमाण के लिए दे. पृ. १६१ का पाटि. १ क, ख
(२) दे. पृ. २२३ पर प्रकरण 'आठ की संख्या का महत्त्व'।
(१) संयोगा विप्रयोगान्ता पतनान्ता इवोच्छ्रयाः ॥५६१
-- अज्ञानाज्जन्मिनो भूयो भूयः संसारसम्मुखम् ।
तथापि परिसर्पन्ति नीचाभिमुखमम्बुवत् ॥त्रि. ३/५६८

(२४१) (अ)

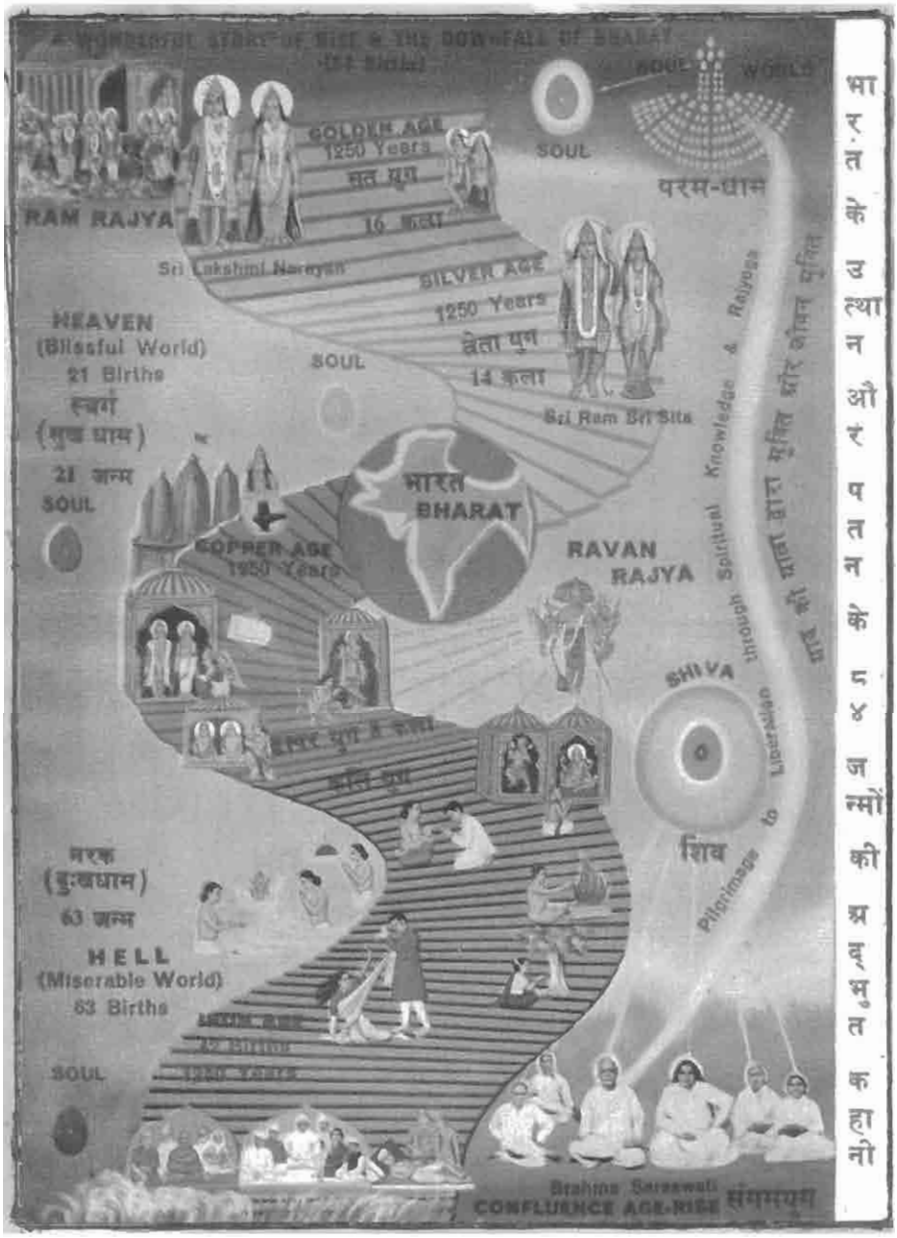
भारत के उत्थान और पतन के ८४ जन्मों की अद्भुत कहानी
A WONDERFUL STORY OF RISE & THE DOWN-FALL OF BHARAT
(1st Birth)
SOUL WORLD
परम-धाम
SOUL
GOLDEN AGE
1250 Years
सत युग
16 कला
RAM RAJYA
Sri Lakshmi Narayan
SILVER AGE
1250 Years
त्रेता युग
14 कला
Sri Ram Sri Sita
HEAVEN
(Blissful World)
21 Births
स्वर्ग
(सुख धाम)
21 जन्म
SOUL
SOUL
भारत
BHARAT
COPPER AGE
1250 Years
RAVAN
RAJYA
SHIVA
शिव
Pilgrimage to Liberation through Spiritual Knowledge & Rajyoga
आत्म को ज्ञान द्वारा मुक्ति और जीवन मुक्ति
नरक
(दुःखधाम)
63 जन्म
HELL
(Miserable World)
63 Births
SOUL
Brahma Saraswati
CONFLUENCE AGE-RISE
संगमयुग

कालक्रमानुसार त्रेतायुग में दो कलाएं घट जाने से चौदह कला सम्पूर्ण श्री राम (बाहुबली) का राज्य होता है। यहाँ श्री नारायण के १२ जन्म चन्द्रवंशी राज्यकुल में होते हैं। यथा राजा तथा प्रजा सत्त्वसामान्य प्रकृति वाले होते हैं। वे भुजा समान क्षत्रियवर्ण वाले कहे जाते हैं। इनकी औसत आयु १०० वर्ष से १२५ वर्ष की होती है। त्रेतायुग के अन्त में कुल देवताओं की जनसंख्या ३३ करोड़ हो जाती है।[१] सतयुगी-त्रेतायुगी यह स्वर्गीय सृष्टि ही रामराज्य कही जाती है जिसकी स्थापना निराकारी राम ही करते हैं।

इसके बाद यहाँ देवतायें अनेक जन्म धारण करने से पुनः पुनः देह ~~के बन्धन में आने~~ धारण करते-करते द्वापर युग में देहाभिमानी और विकारी होने लगते हैं। वे पूज्य देव पद से भ्रष्ट हो कर पुजारी मनुष्य बन जाते हैं। सर्वप्रथम निराकार शिव के प्रतीक शिवलिङ्ग की उपासना होती है।[२] धीरे-धीरे अपने ही पूर्व स्वरूप — नारायण (विष्णु-कृष्ण) राम-सीता आदि की साकार प्रतिमाओं की विभिन्न नाम रूपों से उपासना होने लगती है (यही कारण है कि पुराणादिक परवर्ती ग्रन्थों में ही मूर्तिपूजा का उल्लेख है, वैदिक ऋचाओं में नहीं)। द्वापर में नारायण के कुल २१ जन्म भक्तशिरोमणि राजा-रानी अथवा उच्च प्रजा के रूप में होते हैं। वे प्रथम जन्म में शिव भक्त राजा विक्रमादित्य के रूप में पहली बार

---

② लिङ्गपूजा की प्राचीनता के सम्बन्ध में दे॰ पृ॰ १७ से २०।

① सदारा निजबुध्याः सर्वे स्वानां स्वानां गणैः सह।
त्रैलोक्ये ते त्रयस्त्रिंशत् कोटिसंख्यातयाऽभवन्॥
पद्मपुराण उत्तरखण्ड (सृष्टिवाद पृ॰ ८)

मन्त्रियों की सहायता से शासन चलाते हैं। त्रेता के अन्त और द्वापर के आदि काल से ही शास्त्रों का निर्माण होने लगता है जिनके कारण (यज्ञादिक कर्मकाण्डीय) भक्तिमार्ग को अन्धश्रद्धायुक्त क्रियाओं आदि का आरम्भ होता है। द्वापर के अन्त तक भक्ति भी व्यभिचारी हो जाती है क्योंकि एक की उपासना के बदले अनेक में बुद्धि जाने लगती है। यहाँ ८ कलाएँ रह जाने से लोग राजसी (दुःखी) प्रकृति के हो जाते हैं। पेटपूजा के लिए शिल्पादिक उपक्रम करने से इन लोगों का पेट समान वैश्यवर्ण कहा जाता है। अकाल मृत्यु होने से औसत आयु ६०-७० वर्ष और अधिकतम आयु १०० वर्ष ही रह जाती है (१)। पाँच विकार स्त्री के और पाँच विकार पुरुष के — ये १० विकार मिलकर ही माया रूपी रावण (दशग्रीव) का राज्य इस द्वापर युग (२) से ही आरम्भ होता है। ईसाई और मुस्लिम संस्कृति में इसे ही शैतान का राज्य कहा जाता है। महाभारत के अनुसार 'जिसने सम्पूर्ण लोकों को रुला दिया वही रावण (३) कहा जाता है।'

तदुपरान्त कलहयुगी तामसी युग में माया (१० विकारों) का प्रभाव क्षिप्र गति से बढ़ता जाता है जिसके कारण कलियुग के अन्त तक विश्व की जनसंख्या लगभग ५०० करोड़ हो जाती है। मनुष्य

@ स्त्री, सम्पत्ति और वैभव को माया नहीं कहा जाता क्योंकि हमारे रामकृष्ण जैसे पूज्य पूर्वजों ने भी इन्हें धारण किया था।

(३) रावयामास लोकान् यत् तस्मात् रावण उच्यते।
दशग्रीवः क्रामबलो देवानां भयमादधत् ॥ महाभा० वन० २७५,४०

(२) प्रमाण के लिए दे० पृ० १६२ के पाटि० १, २, ३

(१) दे० पृ० ११४ पर प्रकरण 'वेदोपनिषद्-निर्माणकाल' में मानवीय आयु।

धर्मकर्म से भ्रष्ट[1] हो कर पाँव के समान शूद्र वर्ण के हो जाते हैं। यहाँ पुजारी राजा रानी अपना प्रजा के रूप में नारायण के कुल ४२ मानवीय जन्म होते हैं। औसतन मानवीय आयु भी घटते-घटते २०-३० वर्ष ही रह जाती है। इस युग में काल्पनिक (गणेश-हनूमान) देवताओं की ही पूजा नहीं होती, अपितु सूर्य, जल, वृक्षादि जड़ वर्ग की पूजा के साथ ही साथ देहधारी मनुष्यों की तथा पशु-पक्षियों की भी पूजा की जाती है। यहाँ तक कि सर्पादिक तिर्यञ्चों की भी पूजा होने लगती है। इस प्रकार परमपिता परमात्मा ऋषभशिव के वास्तविक निराकार स्वरूप की स्मृति से भ्रष्ट होने के कारण, भरत (नारायण) और उनका भारत, जो पहले सम्पूर्ण सुख शान्ति सम्पन्न एक स्वर्ग था, वही आज कङ्गाल, भ्रष्टाचारी नरक बन जाता है। जगह-जगह शान्ति सम्मेलन होने पर भी अशान्ति बढ़ती जाती है। भारतीय मर्यादा के विरुद्ध भारतीयों को दूसरे देशों से अन्न धन की भीख माँगनी पड़ती है। प्रजा का प्रजा पर राज्य होता है जिसमें अनुशासन हीनता, मतभेद, धर्मभेद, प्रान्तभेद, भाषाभेद, जातिभेद, वर्गभेद आदि के आधार पर खूब कलह-क्लेश और भ्रष्टाचार बढ़ जाता है।

इस प्रकार सतयुगी श्री नारायण (भरत) जब कलियुगी[2] के अन्तिम जन्म में साधारण और वृद्ध मानव शरीर धारी होते हैं तब परमपिता ऋषभशिव पुनः कल्प (५००० वर्ष) पूर्व की भाँति उनमें प्रवेश कर पतित भारत को ज्ञानयोग द्वारा सम्पूर्ण पावन बनाते हैं।

---

② दे० पृ० १०३ पर प्रकरण 'विश्वजन्तुओं का अन्तिम जन्मकाल'
① दे० पृ० ६३ का पाटि० १

तात्पर्य है कि विश्वपिता ऋषभदेव को ही अपने आत्मा स्वरूप बच्चों का अन्तिम पतित जन्म में उद्धार करना पड़ता है, जैसा कि भरत ने भी अपनी स्तुति में कहा है — 'प्रमाद रूपी निद्रा में पड़े हुए मुझ सरीखे मनुष्यों के लिए आप सूर्य की तरह बारम्बार आते-जाते रहते हैं। अनेक जन्मों में उपार्जन किए जाने वाले पत्थर की तरह जमे हुए कर्म आप ~~आग~~ की (योगाग्निरूपी) दृष्टि मात्र से, अग्नि से घृत की भाँति नष्ट हो जाते हैं।'[१]

उपरिवर्णित भरत सम्बन्धी चौरासी मानवीय जन्मों के उत्थान-पतन के संक्षिप्त भारतीय इतिहास से सम्बन्धित बहुत कुछ प्रमाण पिछले प्रकरणों में दिये जा चुके हैं। अवशिष्ट प्रमाणों को देने से पूर्व यहाँ चौरासी लाख योनियों में मनुष्य जन्म सम्बन्धी निराधार अंधविश्वास का अतिसंक्षेप में निराकरण करना अति आवश्यक प्रतीत होता है, यद्यपि यह एक अलग विषय है।

<u>मनुष्य का जन्म मनुष्य योनि में ही होता है; चौरासी लाख योनियों में नहीं</u> :—

(१) जैसे भव्य और अभव्य जीवों में, जैन दर्शन के अनुसार अनादिकालीन मौलिक भेद है वैसे ही भिन्न-भिन्न योनियों की पृथक् जीवात्माएं भी वृक्षादिक के वृक्षाकार बीजों की भाँति अनादिकालीन कर्मसंस्कार रूपी बीजों के मौलिक भेदवाली हैं। पुनः-२ पैदा होने से क्रमशः अशक्त हीन हुए किसी (आत्मा रूपी) बीज को ज्ञान विज्ञान (योग) आदि साधनों से फिर से शक्तिशाली तो बनाया जा सकता है; परन्तु मूल जाति का परिवर्तन नहीं किया जा सकता। जैसे बरगद के

---

(१) प्रमाण के लिए देखिए पृ. १०६ पाटि. १

बीज से आम का वृक्ष पैदा नहीं हो सकता वैसे ही मानवीय संस्कारों के धारक, अविनाशी मनुष्यात्मा रूपी बीज से कुत्ता-बिल्ली पैदा नहीं हो सकता।

(२) बौद्धिक प्राणी होने के कारण जब इस नारकीय जन्म में भी हम सब मनुष्यों के कर्मों का बन्धन और हिसाब-किताब प्रायः मनुष्यों के साथ ही हो रहा है, (न कि जानवरों के साथ!) तो मृत्यु के बाद अगला जन्म भी मनुष्यों के साथ ही होना चाहिए।

(३) मनुष्य अपने पापों का दण्ड भोगने के लिए मनुष्य योनि में ही गधे की तरह भार वहन करता है, कुत्ते की तरह विकारी और बन्दर की तरह चञ्चल होता है; फिर उसे गधे, कुत्ते और बन्दर का जन्म लेने की क्या आवश्यकता है? स्पष्ट है कि तन नहीं बदलता, मन बदल जाता है। यही कारण है कि पापों का दण्ड भोगने के लिए मनुष्य योनि में ही अन्धे, लूले, लंगड़े, कोढ़ी सड़कों पर पड़े रह कर रोटी-कपड़े के एक टुकड़े के लिए भी तरस कर सर्दी में ठिठुरते हुए मर जाते हैं; जब कि बहुत से खीर-पूड़ी खाने वाले कुत्ते भी कारों में सैर करते हुए देखे जाते हैं। अतः मानवेतर योनियां दण्डयोनि नहीं हैं, क्यों कि उनमें भी सुख और दुःख समान देखा जाता है। मानव संस्कारों का सुधार होने पर, वायुमण्डल बदल जाने से, दूसरी योनियाँ स्वयं ही सुधर जाती हैं। प्रसिद्ध है कि ऐसे वायुमंडल में शेर और गाय जैसे विरोधी स्वभाव के जीव भी परस्पर प्रेमपूर्वक एक घाट पानी पीते हैं। आज भी बुद्धिप्रधान मानव के विकारी वायुमंडल का प्रभाव दूसरी योनियों पर प्रत्यक्ष देखने में आता है। यही कारण है कि आज के बिगड़ैल मानव के सम्पर्क में आने वाले पशु-पक्षी जल जंगल में रहने वाले या आकाश में उड़ने

वाले जीवों की अपेक्षा अधिक अस्वस्थ और बीमार देखे जाते हैं। अतः संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि पापियों को पूर्वजन्मकृत पापों का दण्ड भोगने हेतु दूसरे जन्म में जीने के लिए पशु जैसा जीवन मिलेगा, पशु योनि नहीं।

(४) पूर्व जन्म की स्मृति बताने वाले बच्चों वा व्यक्तियों ने सदैव अपना जन्म मनुष्य योनि में ही बताया है। कुछ समय पूर्व राजस्थान विश्वविद्यालय के पैरासाइकलोजी विभाग के अध्यक्ष प्रो० एच० एन० बैनर्जी ने दुनियाँ के विभिन्न भागों में ऐसे बहुत से मनुष्यों की पूरी जाँच की थी जिसका विवरण समाचार पत्रों में भी छपा था। उन सभी मनुष्यों ने अपने पूर्व जन्म मनुष्य योनि में ही बताये[1]। समय-समय पर अखबारों में इसी तरह के अन्यान्य अनेक लेख छप चुके हैं। उन सबसे इसी बात की पुष्टि होती है। उदाहरणार्थ प्रसिद्ध समाचार पत्र 'दैनिक हिन्दुस्तान' नई दिल्ली के रविवार १५ नवम्बर १९७१ के संस्करण में भ्राता बलराम शास्त्री जी का इस विषय से सम्बंधित एक लेख पूरे ब्यौरे के साथ छपा है।[2]

(५) ज्योतिषी लोग भी मानव के अगले और पिछले जन्मों को सदैव मनुष्य योनि में ही बताते हैं।[1]

(६) इंग्लैण्ड में एक हिप्नोटिस्ट ने भी 'Sacred Mshroom by Puniah' नामक हिप्नोटिज़्म के अनुभवों की एक पुस्तक लिखी है। उसमें बताया गया है कि हिप्नोटिज़्म की असर के नीचे सामने के

---

[2] देखिए (हिन्दी) मासिक पत्रिका- 'ज्ञानामृत' अप्रैल १९७२ पृ. ३७।
[1] 'मनुष्यात्मा चौरासी लाख योनियाँ धारण नहीं करती' पृ. ३४४।

व्यक्ति को उसके भूतकाल में पहुँचा कर जानकारी प्राप्त की जाती है। एक आत्मा तो ८०० वर्ष तक पीछे गई थी। उसके भूतकालीन जन्मों के आधार पर जो वर्णन उपलब्ध हुए, उनके आधार पर उन-उन स्थलों पर जा कर जाँच करने से उनकी सत्यता भी प्रमाणित हुई है। अन्य सभी आत्माओं ने भी अपने भूतकालीन मानवीय जन्मों का ही वर्णन किया है जिससे यह भी सिद्ध होता है कि बीज से वृक्ष की भाँति आत्मा में प्रत्येक जन्म के संस्कार सुसुप्तावस्था में अवस्थित रहते हैं।[१]

(७) अमेरिका में डा० स्टेनिसलेव ग्रोफ ने मेरीलैण्ड स्टेट साइकीक रिसर्च सैण्टर में भी इस विषय से सम्बन्धित बहुत कुछ शोध-कार्य किया है। पश्चिमी देशों में एल० एस० डी० नाम की मादक दवा खूब ही सितम कर रही है। डा० ग्रोफ ने इस दवा के अनेक मरीजों के अनुभव बताए कि किस प्रकार इसके प्रयोग से रोगियों के पूर्वजन्मों के संस्कार आत्मा में जाग्रत हो जाते हैं। वे सदियों पुरानी भाषाएँ भी बोलने लगते हैं। इन सब रोगियों से भी मनुष्य योनि के सिवाय दूसरी किसी योनि का अनुभव नहीं सुना गया।[१]

(८) आधुनिक जनसंख्या की वृद्धि को देखने से भी यही सिद्ध होता है कि आज के पापी युग में भी मनुष्य मृत्यु के बाद पशुयोनि में नहीं जाते।

(९) बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता। जब योनि परिवर्तन का कोई उचित कारण ही दृष्टिगोचर नहीं होता तो योनिपरिवर्तन रूप कार्य कैसे होगा?

---

[१] गुजराती 'ज्ञानामृत' जुलाई-अगस्त १९७२, पृ० ६४७।

इस प्रकार सिद्ध होता है कि चौरासी लाख योनियों की सम्भावना तो हो सकती है; परन्तु, मनुष्य एक कल्प (५,००० वर्षीय-चतुर्युगी) में अधिक से अधिक ८४ जन्म ही धारण करता है। प्राचीन काल में भी 'चौरासी का चक्र' ही प्रसिद्ध था, परन्तु पापाचार बढ़ने पर बाद में, लोगों को खोटे कर्म करने से भयभीत करने तथा कल्प की आयु, लाखों-करोड़ों वर्ष मानने के कारण मानवीय चौरासी जन्मों को चौरासी लाख योनियों में कल्पित कर लिया गया।

अवशिष्ट प्रमाण

चौरासी मानवीय जन्म :— इन्द्र, भरत, विष्णु, ब्रह्मा, नारायण आदि नामों के धारक आदि मनु के अनेक जन्मों का उल्लेख ऋग्वेद में इस प्रकार आया है—→ "यह दोनों बालक (सोम और सूर्य) पूर्व-पश्चिम में अपनी शक्ति से घूमते और क्रीड़ा करते हुए यज्ञ में आगमन करते हैं। इन दोनों में से एक (ज्ञान सूर्य परमात्मा) संसार में ऋतु-व्यवस्था करते हुए (आत्मा रूपी) अश्व को देखते हैं और दूसरे (चन्द्रमा अर्थात् नारायण) ऋतु-① विधान करते हुए बार-बार जन्म लेते हैं" (ऋ॰ १०,८५,८)।

सभी मनुष्यात्माओं में मनु (ब्रह्मा) ही ज्येष्ठ, श्रेष्ठ और अग्रगण्य हैं। 'महाजनेन येन गतः स पन्थः' के अनुसार मनु की सन्तान-मानवों-को स्व-स्व शक्ति अनुसार उसी प्रजापिता का अनुसरण करना होता है। अर्थात् उनके गन्तव्य-पथ— 'चौरासी के चक्र' का उल्लंघन कर सर्वदा के लिए मुक्त

---

① पूर्वापरं चरतं मायया तो शिशू क्रीलन्तौ परि यातो अध्वरम्।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायते॥

होने अथवा इससे अधिक जन्म धारण करने की शक्ति किसी मनुष्यात्मा में नहीं है।

समग्र जैन ग्रन्थों में आदिनाथ

ब्रह्मा भरत की आयु का उल्लेख आत्मिक[1] जीवन की दृष्टि से किया गया है, उनके किसी एक दैहिक जीवन अथवा दैहिक जन्म की दृष्टि से नहीं। अर्थात् एक चतुर्युगी में उनकी आत्मा कितने शरीर (जन्म) धारण करती है इस बात का वर्णन जैनग्रन्थों में 'पूर्वलक्ष' शब्द से किया गया है। अतः 'पूर्वलक्ष' का प्रमाण हजारों-लाखों वर्ष की अनन्त और अज्ञात शारीरिक आयु से सम्बद्ध नहीं है, अपितु 'उसका अर्थ जन्म' से है।

सतयुग त्रेतायुगी भोगभूमि में आदिनाथ ब्रह्माभरत (नारायण) के २० जन्मों के उपरान्त द्वापर के आदि में दूसरी सृष्टि का वर्णन करते हुये जिनसेनाचार्य ने लिखा है — 'अनेक प्रकार के भोगों का अनुभव करते हुए उन (आदिनाथ ब्रह्माभरत) का २० पूर्वलक्ष का कुमारकाल पूर्ण हुआ। इसके बाद (धर्मरूपी) कल्पवृक्ष तथा सब प्रकार की औषधियाँ शक्तिहीन हो गईं। बिना बोए उत्पन्न होने वाले धान्य विरल हो गए।[2] प्रजा

---

② ततः कुमारकालोऽस्य कलितो सुखसप्तमैः।
विंशतिः पूर्वलक्षाणां पूर्यते स्म महाधियः॥१२६
अत्रान्तरे महौषध्यो दीप्तौषध्यश्च पादपाः।
स सर्वौषधयः कालाज्जाताः प्रक्षीणशक्तिकाः॥१३०
सस्यान्यकृष्टपच्यानि यान्यासन् स्थितये नृणाम्।
प्रायस्तान्यपि कालेन ययुर्विलयतां भुवि॥१३१
स्वसवीर्यविपाकैस्तैः प्रहीणाः पादपा यथा।
तथातङ्कादिबाधाभिः प्रजाः व्याकुलतां गताः॥ महापु० १६, १३२

① व्याख्या के लिए दे० पृ० १६८ का दूसरा पादटि०।

रोगादिक बाधाओं से दुःखी होने लगी। --- शीत, आतप, महावायु, वर्षा आदि का उपद्रव लोगों को दुःखी करने लगा।[१]'

उपरिवर्णित ~~भोग~~ भोगभूमि के इन २० जन्मों को कुमारकाल कहने का तात्पर्य है कि यहाँ परमपिता परमात्मा ऋषभदेव के स्वर्गीय सुखशान्ति के वारसे को आत्मा निश्चिन्त कुमारकाल की भाँति खाने कमाने आदि के ~~उपाय~~ से रहित हो कर भोगती है। इसी तरह हेमचन्द्र ने भी अयोध्या (स्वर्ग) वर्णन के उपरान्त लिखा है — 'जन्म से २० पूर्वलक्ष व्यतीत हुए तब प्रभु प्रजापालनार्थ (पृथ्वी के)[२] पहले राजा हुए। उन्होंने दुष्टों को शिक्षा देने और सज्जनों के पालनार्थ मन्त्रणा के लिए मन्त्री चुने।[३]' इसके बाद राजा द्वारा शिल्प खेती, व्यापार, लिपि, शास्त्रादिक सिखाए जाने का समयानुकूल द्वापरयुगीन वैश्यवर्ण के कर्मों का वर्णन किया गया है, क्यों कि स्वर्ग में प्रारब्धवान् देवों को तो इनकी आवश्यकता ही नहीं थी। इसीलिए तो अथर्ववेद में भी कहा है — 'हे इन्द्र (अहाभरत) तुम्हारे जो स्वर्गलोक से नीचे के मार्ग हैं उनके द्वारा तुम प्राणियों को कर्मों में लगाते हो।[४]'

---

④ ये ते पन्थानो ऽव दिवो येभिर्विश्वमैरयः (अथर्व ७, ५, ५५, १)

③ गतायां जन्मतः पूर्वलक्षाणां विंशतौ तदा। ६२४
-- ऊँकार इव मन्त्राणां नृपाणां प्रथमो नृपः। ६२५
असाधुशासने साधुपालने कृतकर्मणः।
प्रत्यङ्गानि स्वकानीव मंत्रिणो विदधे विभुः॥ त्रि० २, ६२६

② द्वापर युग से ही पृथ्यते विस्तार्यते इति पृथ्वी कहा जाता है।

① शीतातपमहावातप्रवर्षाविप्लवश्च नः।
निराश्रयान्युन्मोत्यद्य व्रीहिनस्तत्प्रतिक्रियाम्॥ महापु० १६, १३६

इसी प्रकार मनु (ब्रह्मा भरत यानारायण) के द्वापर और कलियुगी ६३ जन्मों का उल्लेख करते हुए हेमचन्द्र ने लिखा है — 'राज्याभिषेक से लेकर पृथ्वी का पालन करते हुए (लोकाग्र रूपी) नाभि के पुत्र ने ६३ पूर्वलक्ष बिताए।' इसके तुरन्त बाद ही कवि ने 'वसन्तक्रीड़ा' के बहाने कलियुगान्तकालीन पात्रों के निर्लज्जता पूर्ण विकारयुक्त मानवीय चेष्टाओं के देहाभिमान से भरपूर दृश्य प्रस्तुत किये हैं जिसे देख कर अन्तिम चौरासीवें जन्म में सर्वप्रथम मनु (ब्रह्मा भरत) को इस पतित संसार से वैराग्य उत्पन्न होता है। वे सोचने लगते हैं — 'जब तक इस संसार रूपी कारागार में ये क्रोधादिक कषाय रूपी पहरेदार जाग रहे हैं तब तक पुरुषों को (दुःखों से) मुक्ति नहीं हो सकती। अहो! मानों (विकार रूपी) भूत लगे हों इस तरह स्त्रियों के आलिंगन में व्यग्र हुए ये देहाभिमानी लोग चारों ओर से क्षीण होती हुई अपनी आत्मा को भी नहीं जानते। उसी समय (इस कलियुगी दुःखी लोक का) अपने उत्कृष्टतम पुरुषार्थ से नाश करने वाले 'लोकान्तिक' नामक अष्टदेव (जो स्वयं भी दुःखों से त्रस्त हो चुके हैं), आकर इस प्रकार निवेदन करते हैं — 'हे भरतक्षेत्र में नष्ट हुए मोक्षमार्ग के दीपक तो (आदिनाथ भरत!)! आपने जिस तरह ~~[illegible]~~

---

② कषाया भवकारायां चत्वारो यामिका इव।
यावज्जागर्ति पापूर्वस्तावन्मोक्षः कुतः नृणाम्॥
अङ्गनालिङ्गनव्यग्रा भूतार्ता इव देहिनः।
समन्ततः क्षीणमानमप्यात्मानं न जानते॥त्रि॰२,१०२७/६८

① राज्याभिषेकात्प्रभृति पृथिवीं परिपालयन्।
त्रिषष्टिं पूर्वलक्षाणि नाभिभूरत्यवाहयत्॥त्रि॰ २/६८

(द्वापर युग में इस पृथ्वी) लोक की सारी व्यवस्था की थी उसी प्रकार अपने (५०००० वर्ष पूर्वकल्पकृत) कृत्य को याद करते हुए धर्मतीर्थ का प्रवर्तन कीरए[1]।'

इस प्रकार आदिनाथ ब्रह्मभरत को भोगभूमि के २० और कर्मभूमि के ६३ जन्म मिलाकर कुल ८३ जन्मों के उपरान्त अन्तिम चौरासीवें अर्थात् एक जन्म में मुक्ति प्राप्त होती है। हेमचन्द्र के अनुसार — 'केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद विश्वकल्याण के लिए उन्होंने सूर्यवत् एक पूर्वलक्ष तक विहार किया। इस प्रकार कुल ८४ पूर्वलक्ष (जन्म) की आयु भोग कर भरत ने मोक्ष पाया[2]।' कल्पसूत्र में ब्रह्मभरत के इन चौरासी जन्मों का एकत्र ब्योरा इस प्रकार है— 'उस (पूर्वकल्प के) काल में कौशलिक अरहत वृषभ २० लक्षपूर्व तक कुमारावास में रहे, ६३ पूर्वलक्ष तक राज्यावास में रहे, (इसतरह) ८३ पूर्वलक्ष तक गृहावास में रहे; एक वर्षसहस्र (१००० वर्ष) छद्मस्थ (अव्यक्त या गुप्त) पर्याय धारण किया और एक पूर्वलाख में १ वर्षसहस्रकम केवली पर्याय प्राप्त किया। इस रीति पूरे एक लक्षपूर्वतक श्रमण (त्यागी) पर्याय प्राप्त किया। इसतरह पूरे-पूरे[3] चौरासी पूर्वलक्ष आयुष्य प्राप्त कर---मुक्ति पाई।

---

[3] कल्पसूत्र गाथा १६६

[2] दे० पृ० १३५ पर पाटि० १ क और ३

[1] भरतक्षेत्रनिर्नष्टमोक्षमार्गप्रदीपक।
लोक व्यवस्था प्रथमा यथा नाथ प्रवर्तिता॥
प्रवर्तय तथा धर्मतीर्थं कृत्यं निजं स्मर॥ त्रि० २,१०३८-३६

तुलनीय :- यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।---
(गीता ४,७)

तीन लोक और छः आरों की कल्पना का आधार :—

ब्रह्माभरत का अन्तिम चौरासीवाँ संगमयुगी जन्म परमपिता परमात्मा ऋषभशिव का सान्निध्य होने से उत्कृष्टतम माना गया है। इसीलिए त्रिषष्टि में कहा गया है — "हे निष्कारण जगदबन्धु! हम इस संसार को परलोक (स्वर्ग) से भी श्रेष्ठ मानते हैं क्यों कि यहाँ आप साक्षात् देखने में आते है[1]।" इस संगमयुगी एक जन्म तथा सत् और त्रेता के २० जन्मों को मिला कर कुल २१ जन्मों का वर्णन जैनग्रन्थों में 'ऊर्ध्वलोक' के रूप में किया गया है (यद्यपि सर्वार्थसिद्धादि नामों से वर्णित अनुत्तर विमान सब लोकों से भी ऊपर स्थित अलोकाकाशीय उन्मुक्त निराकारी आत्माओं का निवास और उद्गम स्थान है, फिर भी जैनग्रन्थों में उसे सर्वोच्च ऊर्ध्वलोक (स्वर्ग) में ही सम्मिलित कर लिया गया है) संगमयुगी एक जन्म और सतयुगी आठ जन्म मिल कर 'नवग्रैवेयक' कहा गया है। तदुपरान्त १२ त्रेतायुगी जन्मों को ही 'अच्युत' से लेकर 'सौधर्मलोक' तक १२ स्वर्गों का रूप दिया गया है। द्वापरयुग को ही 'मध्यलोक', 'पृथ्वीलोक', 'क्षेत्रलोक' आदि नामों से पुकारा गया है। इसीतरह कलियुगी ४२ जन्मों को, सात नरक भूमियों में ('अधोलोक' के नाम से) विभाजित किया गया है।

इसी प्रकार समस्त चतुर्युगी को अवसर्पिणी काल के ६ आरों में इस प्रकार विभाजित किया गया है — (१) सतयुग = प्रथमारा (२) त्रेतायुग =

---

[1] लोकाग्रतोऽपि ससारमग्निमं देव मन्महे।
निष्कारण जगदबन्धुर्यत्र साक्षात्त्वमीक्ष्यसे ॥त्रि० ३,५४२

द्वितीय और तृतीयारा (३) द्वापर युग = चतुर्थ आरा (४) कलियुग = पञ्चम और छठा आरा। यह एक आश्चर्य की बात है कि कलियुगी ४२ मानवीय जन्मों के स्थान पर जैन और हिन्दू दोनों ही परम्पराओं में कलियुग अर्थात् पञ्चम-छठे आरे की (आयु) १ से २ हजार वर्ष कैसे निर्धारित कर ली गई। इस चतुर्युगी के अतिरिक्त संगमयुग युग नाम का ६० वर्षीय छोटा सा युग ही उत्सर्पिणी काल है जिसमें सभी आत्माएँ ज्ञानयोग बल के पुरुषार्थ से अपनी सम्पूर्ण स्थिति प्राप्त कर आत्मलोक में प्रवेश कर जाती हैं। चूंकि यह काल प्रत्येक आत्मा की उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त कराने वाला है, अतः जैनग्रन्थों इसे उत्सर्पिणी काल कहा गया है।

चारो युगों में मानवीय आयु :— महाभारत के अनुसार 'सतयुग के नीरोगी और सिद्ध कामना वाले मनुष्यों की आयु ४०० वर्ष होती है। त्रेता युग में उनकी आयु एक चौथाई घट कर ३०० वर्ष रह जाती है। इसी प्रकार द्वापर में २०० और कलियुग में १०० वर्ष रह जाती है।' ध्यातव्य रहे कि यहाँ एक तो उत्कृष्टतम आयु का वर्णन है, दूसरे यह आयुक्रम युगों के आदिकाल का है क्यों कि दो-ढाई हजार वर्ष पूर्व के द्वापरयुगी वेदोपनिषद् काल में ही केवल १०० वर्ष आयु के अनेक प्रमाण मिलते हैं। दूसरे भागवत, जम्बूदीवपण्णत्ति आदि ग्रंथों में भी कलियुगी मानवीय आयु २०-३० वर्ष ही बताई गई है। वहाँ स्पष्ट उल्लेख है कि पञ्चमारे के अवसानकाल

---

③ प्रमाण के लिए दे० पृ० १५८ का पाटि० ३

② प्रमाण के लिए दे० पृ० १६८ का पाटि० ३।

① दे० पृ० १६३ पर 'पुरुषोत्तमसंगमयुग'।

में आयु २० वर्ष रह जाती है[1]। भागवत की तरह महाभारत से भी कहा गया है कि तब (कलियुग में) प्रजा हीनातिहीन धर्म का अनुसरण करेगी और मनुष्यों की परमायु ३० वर्ष होगी[2] (महाभा० भविष्यपर्व ४, ३६)। (अभी कुछ वर्ष पूर्व भारतवासियों की औसत आयु भी २६ वर्ष रह गई थी)। इस प्रकार प्रथम वर्णित महाभारत की उत्कृष्टतम और आदियुगीन आयु का तृतीयांश लेने से प्रत्येक युग की सामान्यतः औसत आयु निकाली जा सकती है। इसमें भी प्रथम दो युगों में तृतीयांश से कुछ अधिक और अन्तिम दो युगों में तृतीयांश से कुछ कम औसत आयु होनी चाहिए क्योंकि सत्त्वप्रधान सृष्टि में आयु का ह्रास मन्दगति से और तामसी सृष्टि में तीव्र गति से होता है। इस प्रकार ४००० वर्षीय चतुर्युगी में प्रत्येक युग की आत्म-समीक्षा (१२५० वर्ष) होने पर भी आत्मा की शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होते रहने से अधिक जन्म होते हैं जिससे मानवीय आयु क्रमशः क्षीण होती रहती है।

युगों में रंग, धर्म और गुणधर्म :— महाभारत वनपर्व के अनुसार सबसे पहला कृतयुग है जहाँ सनातन धर्म की पूर्ण स्थिति (चारपाद) रहती है। इस समय लोगों को कुछ करना शेष नहीं था क्योंकि इन्होंने पहले (संगमयुग में) ही सब कुछ कर लिया था। वहाँ धर्म का ह्रास और सन्तान का क्षय नहीं होता। ---

---

(२) हीनाक्षीनं तदा धर्मं प्रजाः समनुवत्स्यति।
आयुस्तत्र च मर्त्यानां परं त्रिंशद् भविष्यति॥ (महाभारत भविष्य ४, ३६)

(१)(क) पंचमकालवसाणे आउसमवीस होंति परिसंखा। (जम्बू सं. २, १८७)
(ख) दुस्समदुक्खमे परमाउ वीसइया कालादोए समुद्दिट्ठा। (जम्बू सं. २, १८८)
(ग) त्रिंशद्विंशतिवर्षाणि परमायुः कलौ नृणाम्॥ भाग० १२, २, ११

नारायण का रंग शुक्ल होता है।-- अब त्रेता का वर्णन सुनो।-- धर्म के एक चरण का ह्रास हो जाता है और नारायण का रंग लाल हो जाता है।-- द्वापर में धर्म के दो ही चरण रह जाते हैं। विष्णु का रंग पीला हो जाता है और वेद चार भागों में विभक्त हो जाते हैं।-- कलि-युग में धर्म एक ही चरण से स्थित रहता है। इस तामसी युग को पाकर विष्णु का रँग काला हो जाता है।'(१)

एक स्थल पर चन्द्रकलाओं से धर्म की तुलना करते हुए कहा गया है — 'सत्ययुग में वर्ताव उत्तम और कलि-युग में सदाचार की हानि बताई जाती है। जैसे एक ही चन्द्र कभी १६ कला सम्पूर्ण और कभी कलारहित कान्तिहीन हो जाता है। अमावस्या को अन्धकार से आच्छन्न चन्द्र की भाँति कलियुग में धर्म आच्छादित हो जाता है और पूर्णिमा को १६ कला सम्पूर्ण, प्रकाशयुक्त चन्द्रमा की भाँति सत्ययुग में धर्म चारों चरणों से पूर्णतः प्रकाशित होता है।'(२)

---

(२) साध्ववृत्तं कृतयुगे कलावथ हानिरुच्यते।
एक एव तु कालः सुहीनो वर्तो यथा शशी॥
अन्नो हि तमसा सोमो यथा कलियुगे तथा।
पूर्णश्च तमसा हीनो यथा कृतयुगे तथा॥ महाभा॰ भविष्य॰ ४,४८-च

(१) कृतं नाम युगं तात यत्र धर्मः सनातनः।
कृतमेव न कर्तव्यं तस्मिन् काले युगोत्तमे॥११
-- न तत्र धर्मा सीदन्ति क्षीयन्ते न च वै प्रजाः।१२
-- शुक्लो नारायणस्तदा॥१७॥-- त्रेतामपि निबोध--॥२३
पादेन ह्रसते धर्मो रक्ततां याति चाच्युतः॥२५
-- द्वापरे च युगे धर्मो द्विभागोनः प्रवर्तते।
विष्णुर्वै पीततां याति चतुर्धा वेद एव च॥२८
-- पादेनैकेन कौन्तेय धर्मः कलियुगे स्थितः।३३
-- तामसं युगमासाद्य कृष्णो भवति केशवः॥३५
(महाभा॰ वन॰ १५६)

लिंगपुराण के अनुसार — 'कृतयुग सत्त्वगुण रूप, द्वापर रजो तथा तमोगुण रूप और कलियुग तमोगुण रूप है। इस प्रकार युगों में त्रिगुणवृत्ति होती है।'[1] 'सबसे पहले कृतयुग में सनातनधर्म चतुष्पाद युक्त, त्रेता में तीन, द्वापर में दो और कलियुग में तीन पाद रहित सत्तामात्र शेष रहता है।'[2] 'आद्य कृतयुग में जो धर्म है वह त्रेता में (भी) प्रवृत्त हुआ करता है। द्वापर में वह आकुलीभूत हो जाता है और कलियुग में नष्ट हो हो जाया करता है।'[3]

<u>वर्णव्यवस्था का रहस्य</u> :— यह चार युगों वाली सृष्टि विष्णु का विराट् स्वरूप है जिसमें संगमयुगी ब्राह्मण ही चोटी के समान सर्वोच्च हैं, यद्यपि शास्त्रों में इनका इस प्रकार वर्णन उपलब्ध नहीं है फिर भी अपने को ब्राह्मण कहलाने वालों की परम्परागत चोटी ही इसबात का सबसे बड़ा प्रमाण है। संगमयुगी ब्रह्ममुखवंशीयब्राह्मण ही सतयुग में विराट पुरुष विष्णु के मुख या मस्तक (समान) श्रेष्ठ देवता बनते हैं। फिर धर्म की दो कलाएं कम हो जाने से विराट् की भुजा स्वरूप त्रेतायुग में क्षत्रियकहे जाते हैं। पेट पूजा और विकारी कर्मों में लग जाने से विराट् पुरुष के पेट और जङ्घास्वरूप द्वापर युग में वैश्य कहे जाते हैं। अन्त में कालक्रमानुसार अत्यन्त

---

(३) प्रमाण दे० पृ० ६२ पादटि० ३।

(२) आद्ये कृतयुगे धर्मश्चतुष्पादः सनातनः।
त्रेतायुगे त्रिपादस्तु द्विपादो द्वापरे स्थितः॥१३
त्रिपादहीनस्तिष्ये सत्तामात्रेण धिष्ठितः॥लिंग २६,१४

(१) सत्त्वं कृतं रजस्त्रेता द्वापरं च रजस्तमः।
कलिस्तमश्च विज्ञेयं युगवृत्तिर्युगेषु च॥लिंग २६

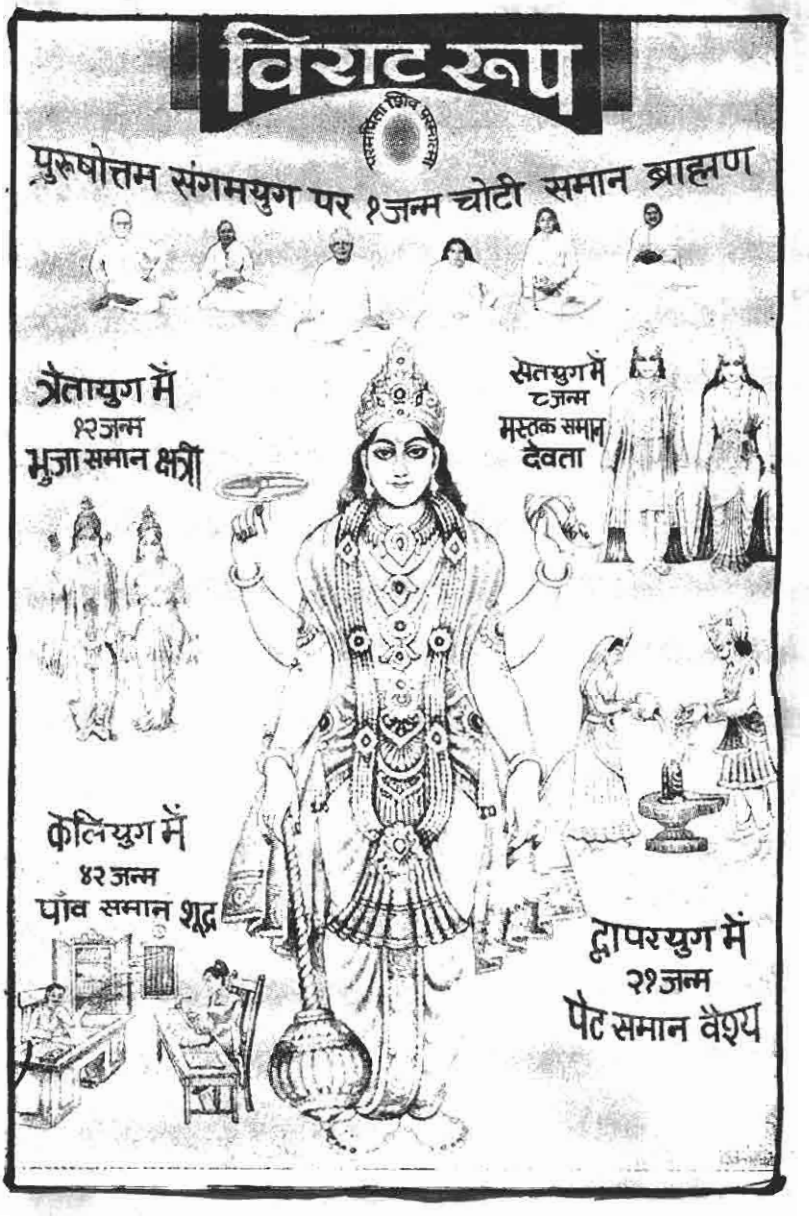
विराट रूप
पुरूषोत्तम संगमयुग पर १जन्म चोटी समान ब्राह्मण
त्रेतायुग में
१२जन्म
भुजा समान क्षत्री
सतयुग में
८जन्म
मस्तक समान
देवता
कलियुग में
४२जन्म
पाँव समान शूद्र
द्वापरयुग में
२१जन्म
पेट समान वैश्य

पतित बनने पर धर्म-कर्म भ्रष्ट बने हुए मनुष्य विराट् पुरुष के पाँव स्वरूप कलियुग में शूद्र कहे जाते हैं। तभी तो ऋग्वेद और महाभारत में कहा गया है— "इस (विराट् पुरुष) का मुख ब्राह्मण हुआ, भुजाओं से क्षत्रिय, जङ्घाओं से वैश्य, और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए।"[1] भागवत में भी यही वर्णन करते हुए बताया है कि इन (वर्णों) की पहचान स्वभाव अनुसार और आचरण से होती है।[2] गीता में आत्मा जो के इस मौलिक स्वभाव को ही दृष्टि को गई है जो इस प्रकार है—ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म स्वभाव से उत्पन्न गुणों के कारण प्रविभक्त हैं।[3] महाभारत में इन सत्त्वादि पूर्वनिश्चित् सत्त्वादि गुणों से चारों वर्णों की उत्पत्ति और उनके रंग-भेद का वर्णन इस प्रकार आया है→ "शुद्धसत्त्वमय श्वेत वर्ण अक्षर से सौम्य स्वभाव वाले ब्राह्मण, सत्त्व-रजो मिश्र लालवर्ण क्षर से क्षत्रिय, रजोमय पीले वर्ण-विकार से वैश्य, तथा तमोमय कालिमा धूम्रविकार से शूद्रों का

---

(३) ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ गीता. १८/४१

(२) विप्रक्षत्रियविट्शूद्राः मुखबाहूरुपादजाः।
वैराजात् पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः॥ भाग. ११,१७,१२

(१)(क) ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥ ऋ. १०,९०,१२

(ख) ब्रह्मास्यतो ब्राह्मणाः सम्प्रसूता, बाहुभ्यां वै क्षत्रियाः सम्प्रसूताः।
नाभ्यां वैश्याः पादश्चापि शूद्रा (महाभा. शान्ति ३१८,९०)।

(ग) मुखजाब्राह्मणास्तात बाहुजाः क्षत्रिया स्मृताः।
ऊरुजो धनिनो राजन् पादजाः परिचारिकाः (शान्ति. २९६,६)

(घ) महाभा. शान्ति. २०७, ३१-३२

जन्म हुआ।[1] × "ब्राह्मणों का रंग श्वेत, क्षत्रियों का लाल, वैश्यों का पीला और शूद्रों का काला बनाया गया।"[2] तात्पर्य है कि परमधाम से सतयुग में अवतरित हुई आत्माएं ब्राह्मण, त्रेता में अवतीर्ण होने वाली क्षत्रिय, द्वापर में च्यवित हुई वैश्य और कलियुग में नीचे उतरने वाली जीवात्माएं ही शूद्र मानी गई हैं। स्पष्ट है कि आज कलियुग में मनुष्यमात्र धर्मकर्म भ्रष्ट होने से शूद्र है, यहाँ तक कि सतयुग में अवतीर्ण हुई श्रेष्ठ देवात्माएं भी कालक्रमानुसार संगदोष और ~~देहाभिमान~~ क्रमिक आत्मविस्मृति में आते-आते त्रेता में क्षत्रिय, द्वापर में वैश्य और कलियुग में शूद्रत्व को प्राप्त होती हैं। महाभारत में इस बात को भी पुष्टि की गई है — "पहले (संगमयुग में) वर्णों में कोई अन्तर नहीं था। ब्रह्मा जी से उत्पन्न होने के कारण यह सारा जगत- ब्राह्मण ही था, पीछे विभिन्न कर्मों के कारण उनमें वर्णभेद हो गया। जो अपने ब्राह्मणोचित धर्म का परित्याग कर के विषयभोग के प्रेमी, तीखे स्वभाव वाले, क्रोधी और साहसी हो गए और इन्हीं कारणों से जिनके शरीर का रंग लाल हो गया, वे ब्राह्मण (ही त्रेता में) क्षत्रियत्व को प्राप्त हुए। जो इन्द्रियों की वृत्ति का आसरा ले कर कृषि आदि कर्म द्वारा जीविका चलाने से पीले रंग के हो गए वे (द्वापर में) वैश्य हुए। जो शौच

---

② ब्राह्मणानां सितो वर्णः क्षत्रियाणां तु लोहितः।
वैश्यानां पीतको वर्णः शूद्राणामसितस्तथा॥ शान्ति.१८८,५

① अक्षराद् ब्राह्मणाः सौम्याः क्षरात् क्षत्रियबान्धवाः।
वैश्याः विकारतश्चैव शूद्रा धूम्रविकारतः॥
(महाभा. भविष्य पर्व २१,६)

से भ्रष्ट हो कर हिंसा, असत्य के प्रेमी हो गए और लोभवश व्याधों की भाँति हर तरह के निन्दनीय कर्मों से आजीविका चलाने लगे वे (ही कलियुग) में शूद्रत्व को प्राप्त हुए। इन्हीं कर्मों के कारण ब्राह्मणत्व से अलग हो कर वे सभी ब्राह्मण दूसरे-दूसरे वर्णों के होते गए (१)। वायुपुराण में भी त्रेता में क्षत्रियोत्पत्ति और द्वापर में उनके न रहने का वर्णन इस प्रकार आया है — 'द्वापरांश में ऋषियों के साथ क्षत्रिय नहीं रहते। कृतयुग का समय क्षीण हो जाने पर वे त्रेता युग में पुनः होंगे (२)'।

द्वापर में वेद-शास्त्रों का निर्माण :—

कहावत है कि 'दुःख में सुमिरन सब करैं सुख में करै न कोय'। सत्-युग से त्रेतायुग तक धर्म की कलाएँ अधिक (१६ से ८) हैं जिससे दुःख का आरम्भ नहीं होने पाता। इससे वहाँ सदा सुखी देवताओं को शास्त्रादि पठन-पाठन तथा भक्ति आदि करने की आवश्यकता नहीं होती। वहाँ के स्वशासित आत्माभिमानी लोगों के स्वभाव

---

(२) द्वापरांशे न तिष्ठन्ति क्षत्रिया ऋषिभिः सह।
काले कृतयुगे चैव क्षीणे त्रेता युगे पुनः॥ वायु ६१, २०१:२

(१) न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥१०
कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः।
त्यक्तस्वधर्मरक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः॥११
गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः।
स्वधर्मान् नानुतिष्ठन्ति ते द्विजाः वैश्यतां गताः॥१२
~~लोभात्~~ हिंसानृतप्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः।
कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः ~~वर्णान्तर~~ शूद्रतां गताः॥१३
इत्येतैः कर्मभिर्व्यस्ताः द्विजाः वर्णान्तरं गताः॥१४
(महाभारत शान्तिपर्व १८८)

और व्यवहार से ही धर्माचरण लक्षित होता है; धर्मग्रन्थों और प्रवचनों से नहीं। धीरे-धीरे त्रेता के अन्त में आत्मा की विस्मृति हो जाने के कारण आत्मतन्त्र के क्षीण होने से देहाभिमानी लोगों को *शास्त्र (शास्, आदेश) निर्माण की आवश्यकता होती है। इसी लिए दक्षस्मृति में कहा है — 'यदि आत्मा के अतिरिक्त दूसरे को कोई देखता है तो फिर शास्त्रों का अध्ययन किया जाता है और अनेक ग्रन्थसमुदाय को सुना जाता है।'① महाभारत में कहा है — 'सत्ययुग में अद्वैत धर्म में निष्ठा रखने वाले लोग ऋग्, यजु, सामवेद तथा सकाम इष्टियों को तपस्या से भिन्न देख कर केवल आत्मस्थिति रूप तपस्या में लगे रहते हैं।'② × × 'इस प्रकार (द्वापर में) भिन्न शास्त्र होने पर कर्मों में भी भेदोत्पत्ति हो जाती है।'③

त्रेता के अन्त और द्वापर के आदि में सर्वप्रथम ब्रह्मा (भरत) ही व्यास के रूप में जन्म ले कर वेद-शास्त्रों का प्रणयन और विभाजीकरण करते हैं, ऐसा जैन और जैनेतर शास्त्रों से संकेत मिलता है। लिंगपुराण में कहा है — '(द्वापर में) वेदों की शाखाओं का प्रणयन और धर्मों की सङ्कीर्णता हो जाती है। — द्वापर के आदिकाल में व्यासमुनि द्वारा वेद (ज्ञान) को चार भागों में विभक्त किया जाता है। त्रेता में चतुष्पाद धर्मरूपी एक ही वेद (आत्मस्थिति रूप ज्ञान) था जिसका विधान किया जाता था। आयु की

---

③ एवं शास्त्रेषु भिन्नेषु बहुधा नीयते क्रियाः (शान्ति० १८८, २६)

② अपृथग्धर्मिणो मर्त्या ऋक्सामानि यजूंषि च।
आम्या इष्टीः पृथग्दृष्ट्वा तपोभिस्तप एव च॥ शान्ति० २३२, ३३

① तत्रात्मव्यतिरेकेण द्वितीयं यदि पश्यति।
ततः शास्त्राण्यधीयन्ते श्रूयन्ते ग्रन्थसञ्चयाः॥ (दक्षस्मृति ७, ५१)

क्षीणता होने के कारण द्वापर में उसका पृथक् विभाग कर के अलग अलग किया जाता है। भिन्न मतिवाले ऋषिपुत्रों के द्वारा ऋक्-यजु और साम की संहिताओं का मन्त्र, ब्राह्मणादि के विन्यास के द्वारा तथा वर्ण-विपर्ययों के द्वारा विभाग किया जाता है।[1]' लिंगपुराण में इसी स्थल पर व्यास के अतिरिक्त इन वेद-पुराणादि के विभाजक मुख्य सात ऋषियों के नाम भी गिनाए गए हैं।[2] ये निश्चय ही संगमयुगी ब्रह्मा भरत सहित अष्टदेवों या अष्टसिद्धों के ही अपर नाम हैं जो सतयुग में भी देवर्षि पद प्राप्त करते हैं। अर्थात् संगमयुगी ब्रह्मर्षि ही सतयुग और द्वापर में क्रमशः देवर्षि और राजर्षि बनते हैं। वायुपु. में स्पष्ट कहा है — 'पहले (संगमयुगी) ब्रह्मर्षियों को जानना चाहिए, इसके पश्चात (स्वर्ग) में देवर्षि, फिर (द्वापर में) राजर्षि। ये ऋषियों की तीन प्रकृतियाँ होती हैं।[3] आगे कहा है — 'ब्रह्मलोक प्रतिष्ठा वाले ब्रह्मर्षि माने गए हैं। देवलोक प्रतिष्ठा वाले शुभ देवर्षि कहे गए हैं। इन्द्र (राजा) लोक प्रतिष्ठा वाले राजर्षि माने गए हैं।'

---

[3] ज्ञेयाः ब्रह्मर्षयः पूर्वं तेभ्यो देवर्षयः पुनः।
राजर्षयः पुनस्तेभ्यः ऋषिप्रकृत्यस्त्रयः॥ च०
(अगले पृ. पर देखिए पाटि. १)

[2] मन्तन्निविष्णुहारीतियाज्ञवल्क्योशनोऽङ्गिराः (लिंग २६,६४)

[1] वेदशाखाप्रणयनं धर्माणां शङ्करस्तथा। ५५
-- वेदो व्यासैश्चतुर्धा तु व्यस्यते द्वापरादिषु॥५६
एको वेदश्चतुष्पादस्त्रेतास्विह विधीयते।
संक्षयादायुषश्चैव व्यस्यते द्वापरेषु सः॥५७
ऋषिपुत्रैः पुनर्भेदा भिद्यन्ते दृष्टिविभ्रमैः।
मन्त्रब्राह्मणविन्यासैः स्वरवर्णविपर्ययैः॥ लिंग २६,५८

वायुपुराण में यह भी कहा है कि यही ऋषि द्वापर के अन्त में भाष्यादि टीकाएँ भी करते हैं—
"जो ऊर्ध्वरेता ऋषि देवलोक को प्राप्त हुए सुने जाते हैं वे मन्त्र और ब्राह्मण के कर्ता (स्वर्णिम) युग के क्षय हो जाने पर उत्पन्न हुआ करते हैं। इसप्रकार से द्वापरयुगों में पुनः पुनः आवर्तमान होते हैं और द्वापर के क्षय में कल्पों-भाष्य विद्याओं के नाना प्रकार के शास्त्रों के कर्ता बनते हैं। वे भविष्य द्वापर में फिर होंगे।[2]"

जैनग्रन्थों में उल्लेख है—"(आदिनाथ) भरत(त्रेतान्त में व्यास) ने ब्राह्मणों के स्वाध्याय के लिए अर्हत्-स्तुति, मुनि तथा श्रावकों की समाचारी से पवित्र आर्यवेदों का निर्माण किया।[3]"

कुरानशरीफ के अनुसार—"(स्वर्ग से पतन होने पर) आदम ने अपने प्रतिपालक से (स्तुति करने के कुछ) पद सीख लिए और (इन पदों की बरकत से) ईश्वर उन पर दयालु हो गया।[4]"

---

④ कुरान २, ३८।

③ अर्हत्स्तुतिमुनिश्राद्धसामाचारीः पवित्रिताः।
आर्यान्वेदान् व्यधाच्चक्रे तेषां स्वाध्यायहेतवे॥त्रि०(६,२४८)

② ऋषयो दिवं प्राप्ता ऋषयो हि ऊर्ध्वरेतसः।
मन्त्रब्राह्मणकर्तारो जायन्ते हि युगक्षये॥१०२
एवमावर्तमानास्ते द्वापरेषु पुनः पुनः।
कल्पानां भाष्यविद्यानां नानाशास्त्रकृतः क्षये॥१०३
भविष्ये द्वापरे चैव—॥(वायु प्रजापतिवंशवर्णन ४३,१०४)

① ब्रह्मलोकप्रतिष्ठास्तु स्मृता ब्रह्मर्षयो मताः॥८८
देवलोकप्रतिष्ठाश्च ज्ञेया देवर्षयः शुभाः॥
इन्द्रलोकप्रतिष्ठास्तु सर्वे राजर्षयो मताः॥ वायु. ४३/८८

प्रकरण - १२

ऋषभकालीन आध्यात्मिक परम्पराओं का बिगड़ा हुआ स्वरूप

प्रमुखतः भारतवर्ष में द्वापर युग से जितनी भी परम्पराएँ, उत्सव, त्योहारादि प्रचलित रहे हैं, वे सब ऋषभकालीन पुरुषोत्तम संगमयुग की आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के ही बिगड़े हुए रूप हैं। इस बात की पुष्टि जैनग्रन्थों में वर्णित आदिनाथ-चरित्र के अनेक प्रसंगों से होती है। यहाँ त्रिषष्टि और गीता से कुछ ऐसे उद्धरण देने के उपरान्त कुछ प्रमुख भारतीय परम्पराओं, उत्सवों, त्योहारादि के मनाने का अतिसंक्षिप्त रहस्यात्मक आधार प्रस्तुत किया जा रहा है।

आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है — 'प्रभु की सिखलाई हुई रीतिरस्म उस समय से दुनियाँ में चल गई, क्यों कि बड़े आदमियों की स्थिति दूसरों के लिए होती है।'(१) × 'जगत् में दान-धर्म श्रेयांस से चले, बाकी सब व्यवहार और नीतिक्रम ऋषभदेव से चले।'(२) × 'उसी समय से इस लोक में मृतकपूजा आरम्भ हुई क्यों कि महात्मा जो कुछ करते हैं वही आचार हो जाता है।'(३) × 'उसी दिन से जगत् में रोदन का प्रचार हुआ।'(४) × 'लोगों ने पहले जैसे प्रभु

---

(४) ततः प्रभृति लोकेऽपि देहिनां शोकसम्भवे।
रोदनाद्धा प्रववृते शोकशल्यविशल्यकृः॥त्रि.६,५०१

(३) तदादि च प्रववृते लोके मृतकपूजनम्।
यत्कुर्वन्ति महांतो हि तदाचाराय कल्पते॥त्रि.३,५३३

(२) श्रेयांसोपज्ञमवनौ दानधर्मः प्रवृत्तवान्।
स्वाम्युपज्ञमिवाशेषं व्यवहारनयक्रमः॥त्रि.३,३०२

(१) ततः प्रभृति सोद्वाहस्थितिः स्वामिप्रवर्तिता।
प्रावर्तत परार्थ्याय महतां हि प्रवर्त्तयः॥त्रि.२,८८१

का पाणिग्रहण होते देखा था, उसी तरह आज तक पाणि-ग्रहण करते हैं, क्यों कि बड़े लोगों का चलाया हुआ मार्ग निश्चल होता है। जिनेश्वर ने विवाह किया, उसी दिन से दूसरे को दी हुई कन्या के साथ विवाह होने लगा और चूड़ाकर्म, उपनयनादि क्रियाओं के सावद्य होने पर भी इन सब का प्रवर्तन स्वामी ने कर्तव्य-दृष्टि से किया।[1]'

यही भाव गीता से भी उपलक्षित हो रहे हैं — 'उत्तम पुरुष जैसा आचरण करता है, दूसरे मनुष्य भी उसी का अनुवर्तन करते हैं। वह जैसा आदर्श रख देता है लोग भी उसी के पीछे चलते हैं। हे अर्जुन! मेरे लिए इन तीनों लोकों में कुछ भी करने को नहीं है और ऐसी भी पाना नहीं है जो पाया हुआ न हो, फिर भी मैं कर्म करता ही हूँ। यदि कहीं आलस्यहीन हो कर मैं कर्म न करूँ तो हे अर्जुन! चारों ओर लोग मेरे ही मार्ग पर चलने लगें। मैं ये कर्म न करूँ तो ये लोक नष्ट हो जाँय।[2]'

---

[2] यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्। (गीता ३, २४)

[1] तदा दृष्ट्वा प्रभुकृतं पाणिग्रहणमादिमम्।
लोकोऽपि कुरुतेऽद्यापि ध्रुवो ह्यध्वा महत्कृतः॥
दत्तकन्योपयमनं प्रभूद्वाहात्प्रभृत्यभूत्।
चूडोपनयनश्चैवं पृच्छा अपि ततोऽभवत्॥
एतच्च सर्वं सावद्यमपि लोकानुकम्पया।
स्वामी प्रवर्त्तयामास जानन् कर्तव्यमात्मनः॥
(त्रिषष्टि २, ६६ से ६७)

हिंसक युद्ध :—(१) देवाधिदेव ऋषभशिव ने पुरुषोत्तम संगमयुग में राजयोगियों को ज्ञानास्त्रों से मायाजीत बन कर निर्विघ्न सतयुगी स्वर्णिम राज्य करना सिखाया था; परन्तु द्वापरयुग से देहाभिमानी मनुष्य स्थूल अस्त्र-शस्त्रों से हिंसक युद्ध द्वारा सुख शान्ति पूर्ण राज्य भोगने का असम्भव प्रयास करने लगे।

बिन्दी (चंदोवा अथवा टीका) :—(२) ऋषभदेव ने लोगों को आत्मस्मृति रूपी टीका या ज्योतिबिन्दु आत्मा को बुद्धि द्वारा भृकुटि मध्य में स्थिर रखना सिखाया था; परन्तु द्वापर युग से देहाभिमान में आये हुए लोग अपने को बिन्दु रूप आत्मा समझने की बजाय बिन्दी अथवा चंदोवा ही लगाने लगे।

(३) यज्ञोपवीत :— ऋषभकाल में सृष्टि के आदि-मध्य-अन्त का त्रिपदीय ज्ञान धारण करने वालों को ब्राह्मण कहा जाता था; परन्तु द्वापर युग से ज्ञान के प्रतीक मात्र तीन सूत्रों को धारण करने वाले लोग ब्राह्मण कहे जानेलगे।

(४) केशलोंच :— ऋषभकाल में पञ्चविकारों (काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार) का मूलोच्छेदन करने वालों को निर्विकारी श्रमण मुनि माना जाता था; परन्तु द्वापर से भक्तिमार्गीय अन्धपरम्परा में विकारी वृत्ति के स्थूल चिन्ह स्वरूप दाढ़ी मूँछ आदि के बालों को ही पाँच मुट्ठियों से उखाड़ा अथवा मुंडवाया जाने लगा।

(५) नँगा रहना :— ऋषभदेव ने देहाभिमानी कलियुगी मनुष्यों को देहरूपी वस्त्र का बुद्धि से स्मरण न करते हुए अपने को सदैव ज्योतिबिन्दु नँगी आत्मा समझना सिखाया था; परन्तु द्वापर से आत्मविस्मृति के कारण स्थूल वस्त्रों को ही त्याग कर दैहिक रूप से नँगे रहने की निर्लज्ज परम्परा चल पड़ी।

(६) अन्नदान और भिक्षावृत्ति :— ऋषभकाल में ध्यान-योग रूपी आत्मिक भोजन का भेदभावरहित दान किया ~~जाता~~ जाता था; परन्तु भक्तिमार्गीय कुछ उत्सवों में शरीर का पोषण करने वाले शालादिक अन्न का दान किया जाने लगा और इस प्रकार धीरे-धीरे गर्हित भिक्षावृत्ति का सूत्रपात हो गया।

(७) कलश-कमंडल-धारण :— ऋषभदेव ने साधकों को सदैव ही अपने बुद्धि रूपी घोड़े में ज्ञान-जल धारण करना सिखाया था; परन्तु द्वापर से भक्तिमार्गीय परम्परा में साधकगण स्थूल कलश या कमंडल धारण करने लगे।

(८) दण्डधारण :— ऋषभकाल में साधकों द्वारा अपने बुद्धि रूपी हाथ में ईश्वरीय आदेश रूपी स्मृतिदण्ड सदैव ही धारण किया जाता था; परन्तु द्वापर युग से साधुओं-राजाओं आदि के द्वारा स्थूल हाथ में स्थूल दण्ड ही धारण किया गया।

(९) रात्रिभोजनत्याग :— ऋषभदेव ने कलियुग के अन्त काल को घोर अज्ञान-आच्छन्न रात्रि में आत्मा का घात करने वाले भोग भोगने का कड़ा निषेध किया था; परन्तु, भक्तिमार्गीय परम्परा में आत्महन्ता विषयभोगों का त्याग करने की बजाय रात्रि में भोजनत्याग करने तथा पुरुषोत्तम मास में यथासम्भव अन्नत्याग की परंपरा चल पड़ी।

(१०) व्रत और उपवास :— उस समय वृषभदेव ने आत्मा को पतित बनाने वाले विषय-भोगों का व्रत किया और कराया था; परन्तु, भक्तिमार्गीय परम्परा में लोग देह में विकार उत्पन्न करने वाले भोजनादि का ही व्रत-उपवासादि करने लगे।

(११) गँगास्नान और मेले :— उस संगमयुग में लोगों ने सरस्वती (ब्राह्मी), सुन्दरी आदि चेतन ज्ञानगंगाओं का ज्ञानसागर ऋषभदेव से संगम (मिलाप) होने पर उनको

अजस्र वाग्धारा में ज्ञानस्नान कर के अपनी आत्मा को पवित्र किया था; परन्तु भक्तिमार्ग में लोग भौतिकजल को गंगा आदि नदियों अथवा उनके संगम में (मिलापस्थल) पर भौतिक (दैहिक) स्नान हेतु मेले लगाने लगे।

यज्ञप्रथा :— (१२) ऋषभकालीन अश्वमेध अविनाशी रुद्र ज्ञानयज्ञ में ईश्वरीय स्मृति रूपी घृत सहित 'मैं-मैं' शब्द से चिन्हित अहंकारादिक कषायों रूपी निरर्थक कचड़ें को ज्ञानाग्नि में और विकर्म रूपी बीजों को चंचल मन रूपी अश्व सहित योगाग्नि में दग्ध कराया गया था; परन्तु द्वापरयुग से भक्तिमार्गीय अन्धपरम्परा के वशीभूत हुए लोग प्राणियों के लिए अतिशय उपयोगी घृत, अन्नादि को मेमना-अश्वादिक प्राणियों सहित भौतिक अग्नि में जलाने लगे।

गुरुडम :—(१३) संगमयुग में जगच्छ्रेष्ठ १०८ सिद्धों के मोक्षमार्गप्रदर्शक सद्गुरु होने के कारण ऋषभदेव 'श्री-श्री १०८ जगद्गुरु' की उपाधि से विभूषित हुए थे; परन्तु भक्तिमार्गीय परम्परा में स्वयं को ही देह के बंधन में बंधे हुए तथाकथित लोग भी छोटी-मोटी ऋद्धिसिद्धि सीखने वालों के मार्गदर्शक गुरु होने से 'श्री श्री १०८ जगद्गुरु' की उपाधि से विभूषित होने लगे।

(१४) घरगृहस्थत्याग :— गीताज्ञानदाता ऋषभशिव ने साधकों को घर गृहस्थ में रहते हुए देह और देह के सभी सम्बन्धों को सहित नष्ट होने वाली दुःखी और जराजीर्ण कलियुगी दुनियाँ का केवल बुद्धि से त्याग करना सिखाया था; परन्तु भक्तिमार्गीय परम्परा में देहाभिमानी लोग अपने मन और बुद्धि पर नियन्त्रण न रख सकने के कारण देह के सम्बन्धियों सहित अपने घरबार को ही छोड़-छाड़ कर भागने लगे।

(१५) तीर्थयात्रा :— ऋषभदेव ने ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कराते हुए बुद्धि रूपी पाँव के द्वारा पवित्र परमधाम की अर्धलोक की यात्रा करना सिखाया था जिससे निरन्तर पवित्र वातावरण मे बुद्धि का लगाव रहने से स्वाभाविक पवित्रता आती है; परन्तु द्वापरयुग से लोग मनघड़न्त शास्त्रों के आधार पर भौतिक दुनियाँ के तीर्थों की पैदल यात्राएँ करने लगे।

(१६) रथयात्रा :— अव्यक्त ऋषभशिव ने शरीर रूपी रथ में प्रवेश कर देशदेशान्तर की यात्रा की थी; परन्तु भक्तिमार्ग में लोग अन्धश्रद्धावश घोड़ागाड़ी वाले रथ मे स्थूल मूर्ति को रख कर 'रथयात्रा' निकालने लगे (यद्यपि आज तो (आत्मा रूपी) ड्राइवर के द्वारा चलाई जाने वाली (शरीर रूपी) मोटर में चेतन मूर्ति रख कर भी 'रथयात्रा' निकाली जाती है)।

(१७) मालाजाप :— ऋषभकालीन विश्वनवनिर्माण के महान कर्तव्य रूपी महायज्ञ में जिन उत्तमोत्तम १०८ मनुष्यात्माओं ने तन-मन-धन और वचन की सम्पूर्ण आहुति दे कर सिद्धपद पाया था, उन श्रेष्ठ आत्माओं को उस समय जगत भर के लोगों ने सम्मानपूर्वक स्मरण किया था; परन्तु भक्तिमार्गीय परम्परा मे लोग अनजाने ही बुद्धि के प्रतीक स्थूल हाथ के द्वारा उन १०८ बिन्दुरूप आत्माओं के स्थूल चिन्ह स्वरूप गोल गुरियों की माला का सिमरण करने लगे।

(१८) पुरुषोत्तम मास :— ~~चतु~~ प्रत्येक चतुर्युगी के उपरान्त पुरुषोत्तम संगमयुग में ऋषभदेव के लोगों को पुरुषों में उत्तम निर्विकारी देवीदेवता बनाते हैं; अतः भारतीय भक्तिमार्गीय परम्परा में हर चौथे वर्ष पुरुषोत्तम (अधिक) मास मनाया जाता है।

शिवजयन्ती (महाशिवरात्रि) (१६) :— प्रत्येक कल्पान्तकाल के निकट आते ही ब्रह्मा की घोर (महान) अज्ञानाच्छन्न रात्रि मे ज्ञानसूर्य शिव का अवतरण होता है। अतः भारतीय परम्परा में प्रत्येक वर्ष के अन्तकाल में माघ (फाल्गुन) वदी चतुर्दशी को घोर अर्धरात्रि में महाशिवरात्रि मनाई जाती है।

होली :— (१७) शिव ने अवतरण लेने के उपरान्त मनुष्यों के कर्मेन्द्रिय को ज्ञानयोग की अग्नि मे जलाया था। अतः भारतीय परम्परा मे लोग शिवजयन्ती के बाद वर्ष की अन्तिम फाल्गुनी पूर्णिमा की रात्रि को होलिकोत्सव मनाते समय ईंधन का ढेर जलाकर उसमें जौ आदि के कर्म रूपी बीजों को भूनने लगे। (ज्ञान-) रंग की पिचकारियाँ चलाने लगे। (आत्मा-आत्मा वा परमात्मा का) भूतकालीन भेदभाव को भूल कर मंगल मिलन मनाने लगे।

(१८) रक्षाबन्धन :— ज्ञानवर्षाकाल (सं) संगमयुग मे ब्रह्ममुखवंशावली ब्राह्मणों ने जगज्जनों को पाँच विकारों अर्थात् माया रूपी रावण (शैतान) से रक्षा की थी और उन्हें पवित्रता तथा प्रेम के रंगीले बन्धन में बाँधा था जिसकी स्मृति में अनजाने ही आज भी कलियुगी ब्राह्मणों द्वारा रक्षासूत्र बाँधा जाता है।

(१९) कृष्णाष्टमी - राधाष्टमी और रामनवमी :— कर्मेन्द्रिय के भस्मीभूत होने और विकारों से सर्वथा सुरक्षित होने पर ही सतयुग मे क्रमशः आठ नारायण अर्थात् सम्पूर्ण निर्विकारी कृष्ण और राधा का जन्म होता है जिनकी स्मृति में कृष्णाष्टमी और राधाष्टमी मनाई जाती है। तदुपरान्त नौवाँ जन्म राम का होता है, अतः रामनौमी मनाई जाती है।

नवरात्रि (नौ दुर्गापूजन) :— ~~श्री~~नारायण उपाधिधारी सतयुगी अष्टदेवों की आठ देवियों तथा नवीं सीता की स्मृति में आज भी भारत मे नवदुर्गा पूजन किया जाता है। चूँकि अज्ञान रूपी रात्रि में ही (कलियुग अन्तमें) इन्होंने विकारों रूपी राक्षसों का वध किया था, अतः रात्रि में ही इनकी पूजा की जाती है।

(२४) दशहरा :— कलियुग-अन्त कालीन स्त्री और पुरुष दोनों के १०विकारों पर विजय होने के उपलक्ष में 'विजयदशमी' अथवा 'दशहरा' मनाया जाता है जिसमें माया रूपी रावण (दसशीश) के पुतले को तत्कालीन आत्मिक महाविनाश की स्मृति में आश्विन मास रूपी पटारवें मास के घड़ों के साथ जलाया जाता है और (निराकार) राम के द्वारा आत्मा रूपी सीता को शोकवाटिका से मुक्त कर के अयोध्या (स्वर्ग) में पहुँचाने की रामलीला दिखाई जाती है।

(२५) दीपावली :— विकारों के सर्वथा नष्ट होने पर सतयुगी स्वर्ग मे निर्विकारी मनुष्यों ~~आत्मा~~ की आत्मज्योति रूपी दीपमालाएँ ~~का~~ परमात्मा रूपी बड़े दीपक की ज्योति से जगमगाई गई थीं, जिसकी स्मृति मे भारत में दीपावली मनाई जाती है जिसमें (कर्मों) का पुराना चौपड़ा बन्द कर के नए वर्ष (कल्प) का नया खाता आरम्भ किया जाता है।

(२६) भ्रातृद्वितीया :— सतयुग में आत्मज्योति जगने पर आत्मा-आत्मा भाई-बहन की पवित्र निर्विकारी सम्बन्ध स्थापित हुआ था। अतः दीपावली के उपरान्त भ्रातृद्वितीया मनाई जाती है।

(२७) मन्दिर-प्रथा !— संगम युग में ऋषभदेव ने झगड़ालू, स्थूलबुद्धि मानवों को संगठित और सूक्ष्म बुद्धि बनाने के लिए अनेकों ज्ञानकेन्द्रों की स्थापना करा के एक सूक्ष्मज्योतिर्बिन्दु रूप परमात्मा में बुद्धि को टिकाने का अभ्यास कराया था; परन्तु द्वापरयुग से देहासक्ति और नाम रूप की माया के वशीभूत हुए लोग अनेकानेक मन्दिरों की स्थापना कर के तरह-तरह की नाम-रूप धारी देहाकार पत्थर की स्थूल मूर्तियों में बुद्धि को टिकाने का निरर्थक प्रयास करने लगे।

(२८) शास्त्र पठन-पाठन !— ऋषभ काल में देवाधिदेव ऋषभशिव की दैप की गई मिश्रणरहित नितान्त शुद्ध ज्ञानवाणी अर्थात् ईश्वरीय आदेशों के संग्रह (शास्त्र) का ही ज्ञानकेन्द्रों में अध्ययन-मनन-चिन्तन किया जाता था; परन्तु द्वापर युग से लोगों ने पूर्वजन्म की अस्पष्ट स्मृति के आधार पर बड़े-बड़े शास्त्रों का अपनी मनमत पर स्वयं ही निर्माण कर उनका अध्ययन-अध्यापन आरम्भ कर दिया। भारत में प्रचलित सभी अन्ध-श्रद्धायुक्त बिगड़ी हुई परम्पराओं का मूल आधार अपूर्ण मानव-मत पर आधारित यही शास्त्र हैं जिनका लगभग २५०० वर्ष से पठन-पाठन करते-करते प्रमुखतः भारत का ही सर्वाधिक पतन हुआ है।

उपसंहार

आज पुनः सम्पूर्ण पतित और भ्रष्टाचारी भारत को सम्पूर्ण पावन और श्रेष्ठाचारी बनाने के लिए, पत्थर पूजने से मुक्ति की और आसुरिक शस्त्रों से विश्व में शान्ति-स्थापना की कामना करने वाले पत्थरबुद्धि मानव को पारसबुद्धि बनाने वाले पारसनाथ (पार्श्वनाथ) ऋषभशिव का भारतमाता (मरुदेवा) के गुप्त गर्भगृह में दिव्य अवतरण हो चुका है। इस गुप्त ज्ञानगर्भगृह में

ज्ञान-योग के द्वारा, उन्हें नई सतयुगी स्वर्णिम सृष्टि की भव्य स्थापना का दिव्य कार्य करते हुए ३६ वर्षीय संगमयुगी काल भी व्यतीत हो चुका है। उनके कथनानुसार आगामी चार वर्षों में ही स्थापना का यह गुप्त कार्य पूरा होते ही इस कलियुगी पुरानी सृष्टि का गृहयुद्धों, प्राकृतिक आपदाओं तथा आणविक शस्त्रों के द्वारा महाविनाश हो जावेगा।

भारत भर के बड़े-बड़े शहरों और विदेशों में भी 'प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्व विद्यालय' के नाम से २०० से भी अधिक ज्ञानकेन्द्रों तथा ३६ संग्रहालयों की स्थापना हो चुकी है जिनमें सृष्टि के आदिमध्य-अन्त सम्बन्धी ऋषभदेव का त्रिपदीय ज्ञान दिया जा रहा है। इस त्रिपदीय ज्ञान का समग्र आधार ले कर ही प्रस्तुत महानिबन्ध के इस प्रथम विभाग— 'आदीश्वर-रहस्य' की रचना की गई है।

उपरिवर्णित ज्ञानकेन्द्रों का मुख्य केन्द्र पाँडव भवन, माउण्ट आबू, राजस्थान में है। हमारे विचार से जैन और जैनेतर ग्रन्थों में अष्टापद, शत्रुञ्जय, हरादि, कैलाश, सुमेरु आदि नामों से इसी आबू पर्वत का वर्णन किया गया है। यह एक अलग शोध का विषय है जिसमें तत्सम्बन्धी अनेकों रहस्यों का उद्घाटन किया जा सकता है।

प्रसंगवश संकेतमात्र देने के लिए यहाँ इस विषय से सम्बन्धित आदीश्वर-चरित्र गत कुछेक प्रमाण दिए जा रहे हैं—

त्रिषष्टि में भरत द्वारा शत्रुञ्जय पर्वत पर →

एक रत्न शिलामय चैत्य के मध्य में पुण्डरीक के साथ आदीश्वर की प्रतिमा स्थापित किए जाने का उल्लेख आया है →

अथ शत्रुञ्जयगिरौ चैत्यं रत्नशिलामयम्।
अकारयन्मेरुचूला प्रस्पर्द्धि भरतेश्वरः ॥४४८
पुण्डरीक प्रतिमया सहितां प्रतिमां प्रभोः।
चेतनामिव चैतोऽंतस्तन्मध्येऽस्थापयन्नृपः॥त्रि. ६/६

डा० हीरालाल जैन ने अपनी पुस्तक 'भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान' में पृष्ठ ३३६ पर आबू पर्वत के 'दिलवाड़ा' स्थान पर पित्तलहर नामक जैनमन्दिर में १०८ मन वाली पीतलनिर्मित आदीश्वर मूर्ति के साथ ही एकस्थान पर पुण्डरीक-प्रतिमा के स्थापित होने का भी उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त इसी स्थल पर भमिति की देवकुलिकाओं में अन्यान्य तीर्थंकरों की मूर्तियों के प्रतिष्ठित होने का भी उल्लेख किया है जिनका वर्णन त्रिषष्टि में ~~इस~~ त्रिकालदृष्टा कवि ने इस प्रकार किया है—

देवच्छन्देऽभवन्तत्र प्रतिमास्तत्र निर्मलाः।
ऋषभस्वामिमुख्यानां चतुर्विंशतिरर्हताम् ॥त्रि. ६/५६

डा० जैन ने दिलवाड़ा स्थान पर कला की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट विमलवसही और लूणावसही जैन-मन्दिरों का भी उल्लेख किया है (योगदान पृ० ३३५-३५)। दिलवाड़ा के इन तीनों ही मन्दिरों का उल्लेख त्रिषष्टि में 'तीनरत्नस्तूप' के नाम से इस प्रकार आया है—

चितास्थानत्रये देवा रत्नस्तूपत्रयं ततः।
अष्टापदगिरेर्नव्यं शृङ्गत्रयमिव व्यधुः॥त्रि. ६,५६२

इन तीनों मन्दिरों में प्रमुखतम 'विमलवसही' का लम्बा-चौड़ा वर्णन त्रिषष्टि में 'सिंहनिषद्या' महाचैत्य के

नाम से किया गया है → ~~भरत ने~~ 'भरत (ब्रह्मा) ने ने (अपने कलियुगी जन्म में) प्रभु का जहाँ क्रियाकर्म हुआ था वहाँ की भूमि के पास वाली भूमि में त्रिगव्यूति ऊँचा, मोक्षमन्दिर की वेदिका के समान 'सिंहनिषद्या' नाम का महा प्रासाद बनवाया --- इसी चैत्य में भरत राजा ने अपने ९९ भाइयों (बाहुबली सहित ऋषभ की ५०० जोड़ली सन्तानों) की दिव्यरत्न निर्मित प्रतिमाएँ स्थापित कीं और प्रभु की उपासना करती हुई अपनी भी एक प्रतिमा वहीं प्रतिष्ठित की।'

भरतस्तत्र च स्वामिसंस्कारासन्नभूतले ।
प्रासादं योजयामास त्रिगव्यूतिसमुच्छ्रयम् ॥५६६
नामतः सिंहनिषद्यां पद्मां निर्वाणवेश्मनः ।५६७
---तत्रैव कारयामास दिव्यरत्नशिलामयीः ।
भ्रातॄणां नवनवतेः प्रतिमा भरतेश्वरः ॥६३०
पञ्चशतधनुषाणां प्रतिमामात्मनोऽपि महीपतिः ।
कारयामास तत्रैव स हि भक्तेरतृप्तिकः ॥त्रि०६,६३१

आज भी इस मन्दिर के दक्षिणीपश्चिमी कोने में आदिदेव ब्रह्मा (भरत) के कलियुगी, तामसी, पतित शरीर की सूचक काली प्रतिमा बाजू में स्थित जगदम्बा सरस्वती (काली) के सहित प्रतिष्ठित है जिसका उल्लेख त्रिषष्टि में भी है (दे० पृ० ३४ का पाटि० ३)। इस मन्दिर के उल्लेख में (पृ० ३३४) डा० जैन लिखते हैं- "विमलवसही के निर्मापकर्ता विमलशाह थे। उनके कोई पुत्र नहीं था। उन्होंने अपना अपार धन व्यय कर के, प्राचीन वृत्तान्तानुसार स्वर्णमुद्राएँ बिछा कर वह भूमि प्राप्त की थी और इस पर आदिनाथ का मन्दिर (ई० १०३२ में) बनवाया -- यह मूर्ति 'पौढ दादा' के नाम से विख्यात हुई पाई जाती है -- मन्दिर का विशाल आङ्गण चारों ओर से घिरा हुआ है। इन देवकुलों की संख्या ५४ है (जो १०८ सिद्धों की यादगार है)। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि वृद्ध ब्रह्मा ही अपनी प्रौढ़ावस्था में 'दादा लेखराज' कहे जाते थे।

द्वितीय विभाग

प्रकरण-१. आदिनाथ महाकाव्य की मूल कथा का संक्षेप

प्रथम सर्ग

जिनेन्द्र-स्तुति। श्लोक संख्या १ से ६। तदुपरांत एक सुन्दर रूपक के द्वारा जम्बूद्वीप और भरतखण्ड का वर्णन है।११। प्राच्य विदेह क्षेत्र में क्षितिप्रतिष्ठित नामक नगर ~~का वर्णन~~ में राजा प्रसन्नचन्द्र का अलङ्कारिक वर्णन किया गया है।१५। उसी नगर में धनसार्थवाह और उसके वैभव तथा सुख का उल्लेख है।१६। एक दिन रात्रि के अन्तिम प्रहर में सार्थवाह स्वप्न देखता है जिसमें वह अपने को समुद्र में तैरती नौका में बैठा देखता है।२०। चिन्तातुर धनसार्थ जैसे ही उठने को होता है वैसे ही बन्दीगण उसे मङ्गलपाठ पढ़ते हुए जगा देते हैं।२६। जब प्रातःकालीन कृत्य से निवृत्त हुआ धनिक यथा स्थान बैठता है तब कोई स्वप्नदृष्टा पुरुष आता है।२८। धनिक उससे अपने स्वप्न का वर्णन करते हुए उसका माहात्म्य बताने की प्रार्थना करता है।३०। स्वप्नदृष्टा पुरुष उसे संसार सागर को धर्म रूपी नौका से सुखपूर्वक पार उतरने के लिए इंगित करता है।३२। जिससे प्रसन्न हुआ धनिक स्वप्नदृष्टा को सम्मानपूर्वक विदा करता है।३३।

सार्थवाह अगले दिन वसन्तपुर नगर को जाने की योजना बनाता है और सभी सुविधाएँ देने की घोषणा करते हुए नगर के अन्य व्यक्तियों को भी अपने साथ चलने का निमन्त्रण देता है जिसे सुन कर अनेक नागरिक उसके साथ चलने के लिए तैयार हो जाते हैं।३७। इसी बीच धर्मघोष सूरि का आगमन होता है।५०। यथोचित आदर-सत्कार के बाद सूरि द्वारा वसन्तपुर चलने की इच्छा व्यक्त किए जाने पर सार्थवाह अपने को कृतकृत्य मानता है और अनुचरों को सूरि के खानपान की व्यवस्था का आदेश

देता है।४३। परन्तु आचार्य ने बताया कि मुनियों को प्रासुक खान-पान ग्रहण करना ही उपयुक्त होता है।४५। इधर कोई पके आमों को टोकरी ले आया तो सार्थवाह ने सूरि से आमों को ग्रहण करने की प्रार्थना की।४७। सूरि द्वारा सचित्त फल छूने की भी निषेध मना किये जाने पर सार्थवाह ने मुनियों के ऐसे व्रत को अति कठिन बताया।४६ तदुपरान्त सार्थवाह के विशेष अनुग्रह पर इच्छानुकूल दान ग्रहण कर के आचार्य गण उसके साथ चल पड़े।५१। सार्थवाह का सार्थ के साथ प्रयाण का अलंकारिक वर्णन।६१। ग्रीष्मऋतु वर्णन।७२। वर्षाऋतु वर्णन।८०। वर्षाकाल व्यतीत करने के लिए सार्थवाह और उसके साथी जंगल में ही डेरे डाल देते हैं।८३। दीर्घकालीन वर्षा के कारण भोजनसामग्री समाप्त हो जाने से एक दिन मणिभद्र द्वारा लोगों के कन्दमूलफल खाने की खबर पाकर वज्राहत के समान सार्थवाह चिन्तित अवस्था में ही सो जाता है।८८। रात्रि के अन्तिम प्रहर में किसी प्रहरी के उपदेशयुक्त गान को सुन कर एकाएक अपने कर्तव्य का बोध होने से सार्थवाह को प्रासुक भोजी धर्मघोष सूरि की याद आ जाती है।९२। वह मुनि के सुख-दुःख का हाल न पूछने की भूल पर पश्चाताप करता है।९५। वह मणिभद्र मित्र के साथ अनेक गुणों के भण्डार धर्मघोष मुनि के पास जा कर उन्हें नमन करता है।१०१। धर्मघोष से धर्मलाभ का आशीर्वाद पाकर वह अन्यान्य तपश्चर्या के कार्यों में व्यस्त साधुओं को भी वन्दना कर के गुरुचरणों के समीप बैठ कर लज्जापूर्वक अपनी भूल के लिए पश्चात्ताप करता है।१०६। धर्मघोष सान्त्वना देते हुए उसकी प्रशंसा करते हैं।१११। धनसार्थ सूरि से दो साधुओं को उसके घर भेजने की प्रार्थना करता है। सूरि अवसरानुकूल

वैसा ही करना स्वीकार करते हैं। धनिक के लौटने पर दो साधु उसकी कुटिया में आते हैं। परन्तु दैवयोग से अन्नादि इसके घर में न होने से वह उन्हें ताजा घी देकर सन्तुष्ट होता है। साधु भी आशिषा देकर चले जाते हैं। १२१। बाद में सार्थवाह सूरि को वन्दना के लिए जाता है। सूरि उससे उस्तावित दान की श्रेष्ठता का वर्णन करते हैं। १२४। इसी प्रसंग में सूरि उसे नृपराज कथा सुनाते हैं। १२५ से २०८।

पुनः धनसार्थ की प्रार्थना पर धर्मघोष सूरि उसे शीलरक्षण विषयक ऋषिदत्ता आख्यान सुनाते हैं। २०७ से ८१८। उसे सुनकर सार्थवाह ने बड़ी प्रशंसा की तथा मुनि से संक्षेप में जिनतत्त्व सुनाने की विनती की। ८२१। मुनि ने अहिंसा के तत्त्व को समझाने के लिए दामन्नक कथा (८२२ से ७३५) और प्राणियों की रक्षा को ही धर्मसर्वस्व बताने के लिए 'जीमूतवाहन कथा' सुनाई। ७३६ से ६५८। इस प्रकार सूरि से कथामृत सुनकर सार्थवाह का मन द्रवीभूत हो गया। सूरि ने पुनः संक्षेप में धर्मदेशना दी। बाद में धनसार्थ ने सूरि को नमन किया और देशना का मनन करते हुए रात्रि बिता दी। ६६४।

प्रातः होने पर जैसे ही जेष्ठी ने पञ्चनमस्कार कर के निवृत्त हुआ कि वन्दीगण पाठ पढ़ने लगे। शरदृतुवर्णन। ६७३। तदुपरान्त धनसार्थ ने यात्रा की भेरी बजवा दी जिसकी आवाज से दिशाओं को पूरित करते हुए वह दुस्तर जंगल को पार कर के वसन्तपुर आ पहुँचा। साधुवर्ग भी अनुज्ञापूर्वक कहीं अन्यत्र चले गए। ६७७। धनसार्थ ने भी लाए हुए माल को बेचकर नया माल खरीदा और जिस मार्ग से आया था उसी मार्ग से क्षितिप्रतिष्ठितपुर लौट गया। ६७६। साधुदान के प्रभाव धनसार्थ ने वहाँ अनन्त भोगों को भोगा और

और मृत्यु के पश्चात- उत्तर कुरु में शीता नदी के उत्तरी तट पर महर्द्धिकों में युगल रूप से पैदा हुआ और वहाँ की आयु पूरी कर के सौधर्म देवलोक में देवता हुआ।

द्वितीय सर्ग

वैताढ्य पर्वत पर गन्धसमृद्ध नामक नगर में शतबल नाम का राजा राज्य करता था। उसकी पत्नी चन्द्रकान्ता के गर्भ से धनश्रेष्ठी का जीव स्वर्ग से च्यवन कर के महाबल नाम से उत्पन्न हुआ। उचित समय आने पर विनयवती कन्या से उसका विवाह हुआ। १ से ६। फिर कभी राजा शतबल को वैराग्य उत्पन्न हुआ और उसने महाबल को राज्यभार सौंप दिया। स्वयं भी निवृत्त हो कर कषायों का नाश कर के देवलोकवासी हुआ। १४। महाबल ने भी सारे शत्रुओं को जीत कर अखण्ड राज्य का उपभोग बड़ी विलासिता से किया। १६। एकबार राजा को नमन कर यथास्थान बैठे हुए मन्त्रियों में से स्वयंबुद्ध ने राजा के इस पतन का ख्याल कर के उसे विषयों का सेवन छोड़ कर धर्ममार्ग ग्रहण करने की सलाह दी। २२। तत्पश्चात- जब नास्तिक संभिन्नमति मंत्री ने स्वयंबुद्ध का विरोध किया और धर्मकर्म को व्यर्थ बताया तो स्वयंबुद्ध ने संभिन्नमति का ही उदाहरण देकर साबित कर दिया कि धर्म की सत्ता को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। २६। इधर राजा ने भी स्वीकार किया कि धर्माचरण से स्वर्ग में सुखों की प्राप्ति होती है। ३२। अवसर पाकर स्वयंबुद्ध ने राजा कुरुचन्द्र और उसके पुत्र हरिश्चन्द्र का वृत्तान्त सुनाया। ६१। स्वयंबुद्ध ने राजा को उसी हरिश्चन्द्र का वंशज बताया और कहा कि मैं आप को बार-बार धार्मिक प्रेरणा देरहा हूँ। इसके बाद मंत्री राजा के साथ बगीचे में आया जहाँ

दो साधु देशना दे रहे थे। पूछने पर उन्होंने धर्म के लिए चेतावनी देते हुए बताया कि राजा को १ मास की आयु शेष है।८७। जब राजा ने मन्त्री के प्रति अनुग्रहीत होते हुए अग्म आयु के लिए विषाद प्रगट किया तो मन्त्री ने बताया कि प्रव्राजक को एक दिन में ही स्वर्ग प्राप्ति हो सकती है फिर आप के पास तो १ माह शेष है।[८३] राजा ने तुरन्त राज्य पुत्र को दे दिया और प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।३२ दिनों तक अनशन व्रत करके मृत्यु पाकर श्रीप्रभ विमान में ललितांग नाम का देव हुआ जहाँ अपनी प्रिया स्वयंप्रभा के साथ दीर्घकाल तक सुख-भोग किया।८०। आयु पूरी होने से स्वयंप्रभा का देवलोक से च्यवन हुआ जिससे दुःखी हुआ ललिताङ्ग विलाप करने लगा।८८।

इधर स्वामी के स्वर्गवास के उपरान्त स्वयंबुद्ध ने भी सिद्धाचार्य के निकट दीक्षा ग्रहण कर ली। मृत्योपरान्त ईशानलोक में दृढ़धर्मी देव हुआ। पूर्व भव के बंधु-स्नेह के कारण जब वह ललिताङ्ग को धैर्य बँधाने के लिए आया तो ललिताङ्ग ने अपना दुख कह सुनाया।९३। फिर ललिताङ्ग के पूछने पर दृढ़धर्मी ने बताया कि नंदीग्राम में नागिल नाम का एक चिन्ताग्रस्त और रोगी व्यक्ति अपनी पत्नी नागश्री सहित निवास करता था।९६। उसके यहाँ एक के बाद एक ६ निन्दनीय पुत्रियाँ उत्पन्न हुई। सातवीं बार जब पुनः उसकी पत्नी ने गर्भधारण कर के एक पुत्री को जन्म दिया तो पतिपत्नी बहुत चिन्तातुर हुए और विलाप करने लगे।१०५। माँ-बाप द्वारा नामकरण न किए जाने के कारण पुरवासीजन उस कन्या को निर्नामिका कहने लगे। माँ का स्नेह न मिलने पर भी निर्नामिका बढ़ने लगी।१०८। फिर किसी उत्सव के दिन बालकों के हाथों में लड्डू देख कर

निर्नामिका ने भी माता से लड्डू माँगा; परन्तु माँ ने क्रोध में आ कर उसे बड़ी निर्दयता से जमीन पर पटक दिया और आदि पर्वत से लकड़ी लाने का आदेश दिया। ११३। रोती हुई निर्नामिका रस्सी ले कर पर्वत की ओर चल दी। वहाँ केवलज्ञान उत्पन्न होने पर युगन्धर मुनि की वन्दना करने के लिए जाते हुए लोगों के साथ-साथ वह भी उनके पास चली आई और प्रसन्नतापूर्वक मुनि की वन्दना की। ११२। देशना सुनने के बाद निर्नामिका ने मुनि से अपने सारे दुःखों का वर्णन किया जिसे सुन कर केवली ने दृढ़प्रहारि साधु का वृत्तान्त सुनाया। ११७ से १६०। इस कथा से युगन्धर मुनि द्वारा तपस्या करने के लिए प्रेरित की गई निर्नामिका प्रसन्नतापूर्वक घर लौटी। फिर स्वयम्बुद्ध (दृढ़धर्मादेव) ने ललितांग को बताया कि उसी निर्नामिका ने विविध प्रकार से उग्र तप करने के बाद अब चतुर्विध प्रत्याख्यान किया है। अतः अब आप वहाँ जाइए। १६२।

स्वयम्बुद्ध की सलाह से ललिताङ्ग ने निर्नामिका को अपना स्वरूप दिखाया। निर्नामिका के पूछने पर ललिताङ्ग ने अपना परिचय दिया और उसे अपना इष्ट कार्य बताने के लिए कहा। निर्नामिका ने अगले जन्म में देवाङ्गना होने की इच्छा प्रगट की, जिसे सुन कर ललिताङ्ग कृतकृत्य हुआ देवलोक में लौट आया। २०३। ललिताङ्ग द्वारा निदान किए जाने पर निर्नामिका देह त्याग कर देवलोक में ललिताङ्ग की प्रियतमा बनी। दोनों ने दिव्य क्रीडाओं से खूब साहचर्य का सुख भोगा। २०५। अन्त में देवलोक से अपने च्यवनचिन्हों को देख कर ललिताङ्ग बहुत दुःखी रहने लगा। स्वयंप्रभा द्वारा विषाद का कारण पूछे जाने पर ललिताङ्ग ने अपनी स्वल्पायु तथा पूर्वभव का संक्षेप में वर्णन कर किया। २१५।

इधर वृद्धधर्मा ने ललिताङ्ग को आ कर बताया कि मैं इन्द्र के आदेशानुसार नंदीश्वर तीर्थ को जा रहा हूँ। यदि चाहो तो तुम भी चलो। ललिताङ्ग ने इस कालोचित निमन्त्रण को स्वीकार किया और प्रिया सहित तीर्थ में पहुँच कर जिनप्रतिमा की अर्चनावंदना कर के अपनी पूर्ण अवस्था (आयु) को पाया। २२०। फिर जम्बूद्वीप में शीता नदी के उत्तरी किनारे पर लोहार्गल नामक नगर में राजा सुवर्णजंघ के यहाँ वह (ललिताङ्ग) वज्रजंघ के नाम से पुत्र रूप में पैदा हुआ। २२५। कुछ समय बाद स्वयंप्रभा भी स्वर्ग से च्यवित हो कर पुण्डरीकिणी नगरी में वज्रसेन राजा के यहाँ गुणवती रानी के गर्भ से श्रीमती नाम की पुत्री के रूप में उत्पन्न हुई। २२७।

युवती होने पर एक बार राजकुमारी महल पर जा चढ़ी। वहाँ उसने मनोरम उद्यान में केवल-ज्ञान उत्पन्न होने वाले गुणधर मुनि के पास जाते हुए देवताओं को देखा, जिससे उसे पूर्वजन्म की स्मृति आगई। वह अचेत हो गई। स्वस्थ होने पर पुनः ललिताङ्ग देव के बिना अपने जीवन को निरर्थक जान कर मौन धारण कर लिया। उसने किसी प्रकार भी अपने मौन को न तोड़ा। कार्य पड़ने पर पृथ्वी पर लिख कर ही वह अपने भावों को व्यक्त करने लगी। २२८ से २३६।

फिर कभी पण्डिता नाम की चतुर दासी ने कुमारी को कुसला कर सारा वृत्तान्त जान कर एक पट्ट पर लिखा और उसे, राजा वज्रसेन की वर्षगाँठ के अवसर पर, राजमार्ग में खोल कर बैठ गई। २४४। उस पट्ट पर स्थित नन्दीश्वर तीर्थ की कोई स्तुति करने लगा तो कोई-कोई प्रशंसा करने लगे। २४६॥

उसी समय राजा पुर्दर्शन का दुर्दान्त नाम का पुत्र आया। उसने पट्ट को देखते ही मूर्छा का ढोंग किया। फिर उठ कर पट्ट पर लिखे वृत्तान्त को अपने पूर्वजन्म से सम्बद्ध बताने लगा; परन्तु धात्री द्वारा पुनः पुनः प्रश्न किये जाने पर चुप हो गया। २५५। धात्री ने भी इसे मायावी जान कर कहा कि उसकी पूर्वजन्म की पत्नी कर्मदोष से लँगड़ी हो गई है। उसी ने यह पट्ट लिख कर मुझे दिया है। अतः वह शीघ्र ही जा कर उससे विवाह कर ले। यह सुन कर दुर्दान्त के मित्रों ने उसकी खूब मजाक उड़ाई जिससे वह बड़ा लज्जित हुआ। २५४।

तत्पश्चात् लोहार्गलपुर से वज्रजङ्घ वहाँ आया और अपने विचित्र चित्र लिखे चरित्र को देख कर मूर्छित हो गया। विविधि उपचारों द्वारा स्वस्थ होने पर, धात्री द्वारा पूछे जाने पर पट्ट के देखते हुए उसने अपना सारा पूर्वजन्म का वृत्तान्त बता डाला। २५२। उसके कथन को धात्री ने भी अनुभवयुक्त और स्वाभाविक जान कर पहले श्रीमती से जा कर बताया और फिर उसके पिता वज्रसेन से आकर सारा हाल कह सुनाया। २५१। वज्रसेन ने कुमार को बुला कर उसकी स्वीकृति से श्रीमती का विवाह करा दिया। २५६।

वज्रजङ्घ के पत्नी सहित लोहार्गलपुर लौटने पर राजा स्वर्णजङ्घ ने पुत्र को राज्य सौंप दिया और स्वयं दीक्षा ले ली। राजा वज्रसेन भी अपने पुत्र पुष्कलपाल को राज्य दे कर स्वयं तीर्थंकर हो गया। २५२। श्रीमती के सहवास से वज्रजङ्घ के वज्रगुप्त नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। २५३। उधर पुष्कलपाल के राज्य की सीमाओं को सामन्तों ने तोड़ डाला। पुष्कलपाल

की सहायता करने के लिए राजा वज्रजङ्घ पत्नी सहित सेना ले कर चल दिया। वह शरवण वन से गुजरते हुए दृग्विष सर्प के कारण पथिकों द्वारा रोके जाने पर अन्य मार्ग से होता हुआ पुण्डरीकिणी नगरी में आ पहुँचा।२८६।

वज्रजङ्घ के आ जाने से सीमावर्ती सामन्त और राजा लोग भयभीत हो कर उसकी आज्ञा पालन करने लगे। पुष्कलपाल ने भी वज्रजङ्घ का खूब आदर-सत्कार किया।२९१। फिर तो पुष्कलपाल की स्वीकृति ले कर वज्रजङ्घ पुनः लौटते हुए उसी शरवण वन के निकट पहुँचा। वहाँ पथिकों ने बताया कि दो साधुओं को केवलज्ञान उत्पन्न होने के कारण यह वन भयरहित हो गया है जिससे सर्प भी विषहीन हो गया है।२९५। राजा ने उन सागरसेन और मुनिसेन साधुओं के पास पहुँच कर भक्तिपूर्वक वन्दना की और देशना के उपरान्त जलपान कराया। उन युगल मुनियों को देख-देख कर राजा भी पुत्र को राज्यभार सौंप कर वैरागी जीवन यापन करने की इच्छा करता हुआ श्रीमती सहित लोहार्गलपुर पहुँचा।३०३। वहाँ उसके पुत्र वज्रगुप्त ने धन के जोर से मन्त्रिमण्डल अपने हाथ में कर लिया। 'प्रातः राज्य पुत्र को सौंपकर व्रत ग्रहण करना है' ऐसा विचार करते हुए पत्नी सहित राजा के सो जाने पर राजपुत्र ने विष के धुँए से दोनों को मार डाला।३०८। वे दोनों पति-पत्नी उत्तर कुरुक्षेत्र में युग्म रूप से उत्पन्न हुए और अपनी आयु पूरी करने के बाद शरीर त्याग कर लम्बी आयु वाले देवता हुए।३१२।

वज्रजङ्घ का जीव स्वर्ग से च्यव कर क्षितिप्रतिष्ठित नगर में सुविधि वैद्य के यहाँ जीवानन्द नाम के पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ। वह पढ़-लिख कर वैद्य-शास्त्र का महान विद्वान बन गया।३१५।

उसी नगर में बड़े ही प्रतिभाशाली चार पुत्र और पैदा हुए —(१) ईशानचन्द्र राजा को जनकवती रानी से महीधर (२) सुनासीर मन्त्री की पत्नी से गुणनन्दक (३) सागरदत्त सार्थवाह की पत्नी अभयवती से पूर्णचन्द्र और (४) धनसेठ की पत्नी शीलवती से शीलपुञ्ज।३२१। वे बालक साथ-साथ खेलते-खाते और परस्पर प्रीति करते हुए बढ़ने लगे। श्रीमती का जीव भी च्यव कर उसी नगर में ईश्वरदत्त सेठ का केशव नाम का पुत्र हुआ। ये छहों मित्र परस्पर एक दूसरे के अभिन्न अंग बनगए।३२५। उनमें आयुर्वेद का जानकार जीवानन्द अपने पिता के पद पर आसीन हुआ।३२६।

एक बार वे सब मित्र वैद्य के घर बैठे हुए थे। उसी समय राजा नरेन्द्र का गुणाकर नाम का पुत्र, जो साधु हो गया था, भिक्षान्न उपार्जनार्थ वहाँ आया। उसका शरीर तप करने से कृश था। अपथ्य भोजन करने के कारण उसे कृमिकुष्ठ रोग भी हो गया था।३३०। महीधर ने जीवानन्द को उस साधु की चिकित्सा करने की सलाह दी।३३७। जीवानन्द ने राजकुमार की बात सहर्ष मान तो ली, परन्तु रत्नकम्बल और गोशीर्ष चन्दन नामक औषधियों का अभाव बताया जिन्हें बाजार से खरीद लाने का वचन अन्य पाँचों मित्रों ने दिया।३४१। बाजार पहुँचने पर व्यापारी ने उन्हें उन दवाओं का मूल्य एक-एक लाख मुहर बताया। पूछताछ करने पर व्यापारी को इन युवकों की ऐसी साधुनिष्ठा पर बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने प्रसन्नता-पूर्वक बिना मूल्य लिए ही दोनों औषधियाँ दे दीं और स्वयं भी दीक्षा ले कर परमपद प्राप्त किया।३५१।

वे लोग औषधियाँ ग्रहण कर के मुनि के पास आए और उससे चिकित्सा कराने की प्रार्थना की।

३५५। मुनि को स्वीकृति मिलने पर उनके सारे अंगों में लक्षपाक तैल का भलीभाँति मर्दन किया गया। ऐसा करने से उद्भुद्ध होने वाले कृमियों को वेदना से तत्क्षण निश्चेष्ट हुए मुनि के शरीर से सारे कृमि बाहर आ गए। वैद्य ने रत्नकम्बल से मुनि का सारा शरीर ढक दिया जिससे कृमि उसमें समा गए। तत्पश्चात् कम्बल को ले कर धीरे से सारे कृमि गौशव के ऊपर झाड़ दिए। इसी भाँति तैलमर्दन की तीन बार की प्रक्रिया से शरीर के सारे कृमि निकल जाने पर मुनि के शरीर का गोशीर्ष चन्दन से लेप कर के उन्हें पूर्ण स्वस्थ कर दिया। ३६७। तत्पश्चात् मुनि अन्यत्र विहार कर गए। बची हुई दवा को बेच कर जिनचैत्य का निर्माण कर उसमें जिन-प्रतिमा कराई गई। विधिपूर्वक पूजा और व्रतपालन करते हुए उन सभी मित्रों ने धर्मबुद्ध साधु के पास दीक्षा ग्रहण की। परीषहों को सह कर अन्त में अनशन कर के अच्युत नामक देवलोक को प्राप्त किया। ३७३।

जम्बूद्वीप के पूर्वविदेह स्थित पुष्कलावती विजय में पुण्डरीकिणी नाम की नगरी है जहाँ राजा वज्रसेन की धारिणी नाम की रानी से पाँच पुत्र उत्पन्न हुए — १. चौदह महास्वप्नों से सूचित जीवानन्द वैद्य का जीव वज्रनाभ, २. राजपुत्र का जीव बाहु, ३. मन्त्रीपुत्र सुबाहु, ४. श्रेष्ठी-पुत्र और सार्थेशपुत्र पीठ और ५. महापीठ के नाम से प्रख्यात हुए। ३८०। केशव का जीव सुयशा नाम का अन्य राजपुत्र हुआ जो बचपन से ही वज्रनाभ का आश्रय लेने लगा। ये छहों राजपुत्र जैसे-जैसे अनुक्रम से बढ़ने लगे वैसे-वैसे उनकी कलाएँ बढ़ती गईं। ३८४।

उधर लोकान्तिक देवों ने वज्रसेन से धर्मतीर्थ प्रवर्तन करने की विज्ञप्ति की। वज्रसेन ने वज्रनाभ

को गद्दी पर बैठाया। सांवत्सरिक दान के बाद अनेक क्षत्रियों सहित वज्रसेन ने दीक्षा ले ली। वीरे मनःपर्याय ज्ञान उत्पन्न होने पर वे पृथ्वी पर विहार कर गए। ३८८।

वज्रनाभ ने अपने भाइयों को राज्य बाँट दिया और सुयशा को अपनी सखी बना लिया। ३९१।

वज्रसेन को केवल ज्ञान होने के साथ ही वज्रनाभ के यहाँ चक्र ने प्रवेश किया। राजा ने ९६ महारत्नों से सारी पृथ्वी को जीत लिया। ३९३। फिर कभी वज्रसेन भगवान के विहार करते समय पुण्डरीकिणी नगरी में उनका पदार्पण होने पर वज्रनाभ ने उन्हें नमन किया और धर्मदेशना सुनी। ३९८।

(३९९से४६२)

अपनी देशना में वज्रसेन भगवान ने चिलाती पुत्र कथा सुनाई।

इस प्रकार जब वज्रसेन ने अविनाशी धर्म का महत्त्व बताते हुए देशना पूरी की तब तो वज्रनाभ-चक्री को भी वैराग्य उत्पन्न हो गया। उन्होंने राज्य पुत्र को सौंप कर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। फिर तो बाहु आदि भाइयों और सुयशा सारथी ने भी उनका अनुसरण किया। ४६६।

वज्रसेन भगवान ने महाऽऽनन्द पद प्राप्त किया। वज्रनाभ भी श्रुतपारगामी हुए और मुनियों सहित पृथ्वी पर विहार करते हुए सर्वलब्धियों को प्राप्त किया। अन्य मुनियों ने अणिमादि अनेक सिद्धियाँ प्राप्त कीं। वज्रनाभ ने २० स्थानकों की आराधना से तीर्थंकर नामगोत्रकर्म का उपार्जन किया। ४७६। तीर्थङ्कर नामगोत्र उपार्जन करने वाले २० स्थानकों का स्वरूप-वर्णन। ४९७।

बाहु मुनि ने साधुओं की वैयावृत्ति की और उसके फलस्वरूप महान भोगों का अर्जन किया। उसी प्रकार सुबाहु ने भी मुनियों की विश्रामणा करते हुए लोकोत्तर बाहुबल के कर्मबन्ध का अर्जन किया। ५०४।

वज्रनाभ ने सभा में बाहु-सुबाहु के इस सेवाभाव की बड़ी प्रशंसा की। जिसे सुन कर सदा स्वाध्याय आदि में लगे रहने वाले पीठ-महापीठ को ईर्ष्या होने लगी। जिसके कारण उन्होंने स्त्रीकर्मबन्ध का उपार्जन किया। ५०६। उन दोनों महर्षियों ने अतिचार रहित प्रव्रज्या को १५ पूर्वलक्ष तक पालन किया और सल्लेखना की। ५१०। वज्रनाभ द्वारा अन्त समय में की गई आराधना। ५२०। तदुपरान्त शुभध्यान में वज्रनाभ मृत्यु पाकर अन्य भाइयों के सहित सर्वार्थसिद्धि विमान में उत्पन्न हुआ। ५२३।

तृतीय सर्ग

जम्बूद्वीप में अपराजिता नाम की नगरी थी। वहाँ सागरदत्त (चन्द्र) नाम का श्रेष्ठी था। वह बड़ा सदाचारी और गुणी था, परन्तु भिन्न प्रकृति के जिनदास नामक लोभी के साथ उसकी मित्रता ~~हो गई~~ हुई और कुछ कालोपरान्त उसकी मृत्यु हो गई। १ से ५। इसके पश्चात् जम्बूद्वीप में भरत और ऐरावत क्षेत्र में होने वाले उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी आरों में मनुष्यों की आयु, ऊँचाई आदि का वर्णन किया गया है। २४।

इसी भरतक्षेत्र में सागरदत्त (चन्द्र) का जीव धर्म के प्रभाव से युगम रूप में उत्पन्न हुआ। जबकि उसका मित्र जिनदास मायावी होने के कारण उसी जगह चार दाँत वाले हाथी के रूप में पैदा हुआ। २६। पूर्वस्नेह के कारण उस हाथी ने सागरचन्द्र को अपने ऊपर बिठा लिया। यह देख कर आश्चर्यान्वित युगलियों ने उसका नाम विमलवाहन रख दिया। उस समय अल्प प्रभाव वाले कल्पवृक्षों के कारण उनमें ममत्व पैदा होने से युगलिए एक दूसरे का पराभव करने लगे। अतः दुःखी हो कर उन्होंने विमलवाहन को अपना स्वामी बनाया। ३८।

नीतिज्ञ विमलवाहन ने युगलियों को कल्पवृक्ष बाँट दिए और उन्हें 'हाकार' नीति की मर्यादा में बाँध दिया। ४२। छः मास की आयु शेष रहने पर विमलवाहन की पत्नी चन्द्रयशा से चक्षुष्मान् और चन्द्रकान्ता नाम की जोड़ली सन्तान पैदा हुई। उनका पालन-पोषण कर के विमलवाहन मृत्योपरान्त देवलोक में पैदा हुआ (सुपर्णकुमार) और उसकी स्त्री नागकुमार देवलोक में उत्पन्न हुई। ४७।

चक्षुष्मान् भी हाकार नीति से शासन करता रहा। अन्त समय में वह भी यशस्वी और सुरूपा नाम की जोड़ली सन्तान पैदा कर के मृत्यु पाकर सुपर्ण-कुमार देवलोक में तथा उसकी पत्नी नागकुमार में पैदा हुई। ४८।

(इधर) युगलियों ने हाकार नीति का उल्लङ्घन करना शुरु कर दिया। अतः युवक होने पर यशस्वी ने महान अपराधियों के लिए 'माकार' नीति की व्यवस्था की। ४९। बाद में यशस्वी ~~मस्कर~~ अभिचन्द्र और प्रतिरूपा नाम की जोड़ली सन्तानों को उत्पन्न कर के, मृत्यु पाकर वह उदधिकुमार में तथा उसकी पत्नी सुरूपा नागकुमार में उत्पन्न हुई। ५७। पितृवत् शासन करती अभिचन्द्र भी प्रसेनजित् और चक्षुष्कान्ता नामक जोड़ली सन्तान पैदा कर मृत्योपरान्त उदधिकुमार में तथा उसकी पत्नी प्रतिरूपा नागकुमार में पैदा हुई। ६१।

प्रसेनजित् के राजा होने तक जब युग-लिए दूसरी ~~दण्ड~~ दण्ड-नीति का भी उल्लङ्घन करने लगे तब उसने शासन में 'धिक्कार' दण्डनीति का भी उपयोग किया। बाद में मरुदेव और श्रीकान्ता को जन्म दे कर वे पतिपत्नी क्रमशः देवनिकाय और नागनिकाय में उत्पन्न हुए। ६६। मरुदेव और श्रीकान्ता

भी नाभि और मरुदेवा को जन्म देव कर क्रमशः द्वीपकुमार और नागकुमार में पैदा हुए। ६६।

तीसरे आरे के ३ वर्ष ८॥ माह शेष रहने पर आषाढ़ कृष्णा चतुर्दशी के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र में वज्रनाभ का जीव ३३ सागरोपम आयु भोगने के पश्चात् सर्वार्थसिद्ध विमान से च्यव कर सातवें कुलकर नाभि की पत्नी मरुदेवा की कुक्षि में आया। ७५। उस रात्रि में मरुदेवा ने ये १५ महास्वप्न देखे— १. बैल २. हाथी ३. सिंह ४. लक्ष्मी ५. माला ६. चन्द्रमा ७. सूर्य ८. ध्वजा ९. कुम्भ १०. पद्मसरोवर ११. समुद्र १२. विमान १३. रत्नपुञ्ज १४. निर्धूम अग्नि। ७७।

जब नाभि के आने पर मरुदेवा ने ये स्वप्न कह सुनाए तो नाभि ने उत्तम कुलकर रूप पुत्रोत्पत्ति का विचार प्रकट किया। ७८। इधर इन्द्रों के आसन-कम्प होने से सौधर्मेन्द्र ने आ कर विनयपूर्वक स्वप्नों के अर्थ स्पष्ट किए और बताया कि तुम्हारा पुत्र आदि राजा, आदि मुनि और आदि तीर्थंकर होगा। ऐसा कहकर सौधर्मेन्द्र इन्द्रों सहित चले गए। ७८।

नाभि बड़े प्रसन्न थे। मरुदेवा ने भी उल्लासपूर्वक गर्भ को धारण करते हुए ९ माह ८॥ दिन बाद चैत्रकृष्णा अष्टमी को उत्तराषाढ़ नक्षत्र में स्वर्ण वर्ण की आभा वाले वृषभ लांछित युगलधर्मी पुत्र को जन्म दिया। ८०। यहाँ देवदुन्दुभी आदि बजने का लोकोत्तर वर्णन किया गया है। १००।

तत्पश्चात् अधोलोकवासिनी ८ दिक्कुमारियों ने आकर भगवान और उनकी माँ की स्तुति की और जन्मघर का निर्माण कर सफाई आदि करके यथास्थान बैठ गईं। १०८। इसी प्रकार ऊर्ध्वलोकवासिनी

तथा पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर रुचकादिवासिनी आठ-आठ की संख्या वाली दिक्कुमारियाँ क्रमशः स्तुति सेवा आदि कर के यथास्थान बैठ गईं।१४६। विदिशाओं के रुचकाद्रि और रुचक द्वीप से चार-चार की टोली में आने वाली दिक्कुमारियों ने भी इसी प्रकार अपने-अपने जन्मोत्सव सम्बन्धी कार्यों का सम्पादन कर दिया।(१३३)

इधर सौधर्मेन्द्र का आसन कम्पायमान हुआ जिससे उन्हें क्रोध आ गया; परन्तु जब सेनापति ने बताया कि जम्बूद्वीप में प्रथम तीर्थंकर के जन्म के कारण आसन कम्पा हुआ है तो वे शान्त हो गए और जिनेन्द्र की स्तुति करने लगे।१५१। तत्पश्चात् उन्होंने सेनानी को जिनेन्द्र के जन्म-अभिषेक के लिए देवों को बुलाने की आज्ञा दी।१५५। सेनानी द्वारा बजाई गई सुघोषा नाम की घण्टी से ३२ लाख विमानों में एक साथ आवाज हुई जिससे संभ्रान्त हुए देवों को सेनानी ने सौधर्मेन्द्र की घोषणा सुनाई जिसे सुन कर अनेक देवता जिनेन्द्र की भक्ति अथवा शक्रादेश से प्रेरित हो कर शीघ्र ही सौधर्मेन्द्र के साथ चल पड़े।१५०। देव गन्धर्वादि के वाहनों के परस्पर संघर्ष से कोलाहल होने लगा।१५८।

असंख्य द्वीपों और सागरों को पारकरते हुए सौधर्मेन्द्र ने क्षण भर में नाभि के घर आकर जिनेन्द्र और उनकी माता की स्तुति की।१५७। बादमें सौधर्मेन्द्र मरुदेवा को अवस्वापिनी निद्रा देकर जिनेन्द्र सहित शीघ्र ही मेरु पर्वत पर आ गए।१६०। जब अपने-अपने परिवार सहित अन्य इन्द्र भी मेरु पर्वत पर आ गए तो अच्युतेन्द्र ने आभियोगिक देवों को जिन-स्नान के लिए जल लाने की आज्ञा दी। उन्होंने मागध आदि तीर्थों, नदियों समुद्रादि से, जल, गोशीर्ष चन्दन,

मिट्टी आदि लाकर इन्द्र को प्रस्तुत किया। १६४। सोने, चाँदी, रत्न आदि-निर्मित १००८ कलशों द्वारा सौधर्मेन्द्र ने जगत्पति को गोद में बैठा कर स्नान कराया। इसी तरह अन्य ६२ इन्द्रों ने भी भगवान को स्नान कराया। एक स्नान कराता था तो दूसरे इन्द्र चामरादि ग्रहण करते थे। १६३।

फिर ईशानेन्द्र ने अपने पाँच रूपों का निर्माण कर भगवान को धारण किया और सौधर्मेन्द्र ने जगत्पति के चारों ओर स्फटिक मणि के चार बैल बनाए जिनके ऊँचे-ऊँचे सींगों से अनेक जलधाराएँ निकल रही थीं जो अन्त में मिल कर प्रभु के मस्तक पर गिर रही थीं। १६६। इस प्रकार इन्द्र ने स्नान करा के उनके शरीर को पोंछा। फिर रत्नमय पट्ट पर अष्टमङ्गलो बनाई और अंगों में विलेपन कर के वस्त्रादि पहनाए। कमलपुष्पों से पूजा की और लवण उतार कर आरती की। १८२। इधर अनेक देवतालोग हर्षातिरेक से विविधि प्रकार के से कोलाहल करते हुए (स्वामी का) जन्मोत्सव मनाने लगे। १८६। इन्द्र ने अपनी बाँई जङ्घा मोड़ी और उस पर प्रभु का सिर रख कर उनकी स्तुति करने लगे। १६५। फिर शक्र ने प्रभु की माँ को अवस्वापिनी निद्रा से मुक्त किया और प्रभु को वहाँ छोड़ कर इस प्रकार कहा कि जो प्रभु का अमंगल चाहेगा उसका सिर चकनाचूर हो जावेगा। फिर उन्होंने दो रेशमी वस्त्र और दो रत्नकुण्डल प्रभु के सिरहाने रखे और प्रभु के नेत्रविनोद के लिए एक चित्तार्कषक खिलौना छत पर लटका दिया। १६६। पीछे इन्द्र ने कुबेर को लोकव्यवहार के लिए ३२ कोटि सुवर्णरत्न तथा ३२-३२ नन्दासन-भद्रासन लाकर रखने की आज्ञा दी। कुबेर ने तुरन्त वैसा ही किया। २०२। तत्पश्चात् सभी देवता नन्दी द्वीप में से आ पहुँचे। २०३।

मरुदेवी ने जाग कर इन्द्र-आगमनादि का वृत्तान्त नाभि से कहा।२०७। माता ~~मित्ता~~ ने पहले स्वप्न में वृषभ और बालक के उस प्रदेश पर भी वृषभ देखा था। अतः माता-पिता ने बालक का नाम ~~ऋषभ~~ ऋषभ रखा। कन्या का नाम सुमङ्गला रखा।२०६। क्रमशः बढ़ते हुए स्वामी अपने अँगूठे को चूसने लगे। इन्द्रादिष्ट ५ अप्सराएँ उनकी सेवा करने लगीं।२०८।

जन्म के कुछ समय बाद इन्द्र प्रभु के वंश-स्थापनार्थ हाथ में ईख (गन्ना) ले कर आए।२१०। नाभि की गोद में बैठे हुए प्रभु ने इन्द्र का आशय समझकर अपना हाथ बढ़ा दिया। इन्द्र ने भी प्रभु को ईख अर्पण कर दिया और उनके वंश का नाम इक्ष्वाकु रख कर स्वर्ग को लौट गए।२१३।

प्रभु के निर्मल, निरामय, सुगन्धित शरीर, श्वाँस, रक्त, माँस आहार और ~~वर~~ अतिशयों का वर्णन।२१६। देवकुमारों के साथ प्रभु की विविध क्रीड़ा का वर्णन।२२१। कुमारावस्था प्राप्त प्रभु के असाधारण लक्षणों सहित अंग-प्रत्यङ्गों का अलङ्कारिक वर्णन।२२८।

एक बार इन्द्रादि से उपसेवित प्रभु कल्पपादपों के नीचे खेल रहे थे। उसी समय खेलते हुए युगलियों के एक जोड़े में से ~~एक~~ बालक को, ताड़ का फल गिर जाने से, तत्काल मृत्यु हो गई।२३१। बालक की लाश वहीं पड़ी रही। उस मुग्धा बालिका को उसके माँ-बाप ने घर ला कर सुनन्दा नाम रखा। परन्तु माँ-बाप की मृत्यु होने पर बालिका असहाय हो गई।२३४। लक्ष्यहीना वह बालिका एक जंगल से दूसरे जंगल में घूमने लगी। तब युगलियों ने उसे नाभि के सामने उपस्थित किया। नाभि ने उसे ऋषभपत्नी बनाने के

विचार से ग्रहण कर लिया।२३८। (इधर) इन्द्र(भी) प्रभु के पास आए और इनसे सुमङ्गला-सुनन्दा के साथ विवाह करने की प्रार्थना की। स्वामी ने भीमौन रह कर अपनी स्वीकृति दे दी।२४२।

इन्द्र के आदेश से देवताओं ने तत्क्षण एक बड़ा मण्डप तैयार किया। विवाह-मण्डप की सजावट का वर्णन।२४६। विवाह की तैयारी के लिए अनेक अप्सराओं के कार्यव्यस्त होने का वर्णन।२६०। कुछ अप्सराओं के द्वारा सुनन्दा-सुमङ्गला का शृङ्गार किया जाता है। तत्पश्चात् दोनों को मातृभवन को ओर लाया जाता है।२७०। इन्द्र के साथ स्वामी मण्डप के द्वार पर लाए गए और वहाँ स्त्रियों के द्वारा अनेक तरह के लोकाचार का सम्पादन हुआ।२८०। इन्द्राणीकृत मङ्गलगान।२८४। स्वामी देवाङ्गनाओं के साथ मातृ-भवन मे प्रवेश करते हैं। जहाँ वरवधू के हाथों में सूत्र-बन्धन, हस्तमिलाप और दृष्टिमिलन आदि का वर्णन।२९०। कन्यापक्ष की स्त्रियाँ गालियाँ गाने लगीं, जिन्हें सुन कर स्वामी व्यवहारार्थ प्रसन्न होने लगे।२९६। इन्द्र और उनकी पत्नी ने प्रभु के विवाह में कुछ उत्सव मनाए। अन्य देवदेवियों ने भी उस अवसर पर नाचगाना आदि किया।३०२।

इस प्रकार विवाह की रस्म पूरी कर के इन्द्र स्वर्ग लौट गए। प्रभु ने कुछ कम एक लाख पूर्व तक उन पत्नियों के साथ भोग-विलास किया।३०६। सर्वार्थसिद्धविमान से बाहु और पीठ के जीव सुमङ्गला के गर्भ मे तथा सुबाहु और महापीठ के जीव सुनन्दा के गर्भ में च्युत हुए।३०८। सुमङ्गला ने १४ स्वप्न देखे जिन्हें सुन कर स्वामी ने चक्री की उत्पत्ति की

सम्भावना जगत को। ३१०। सुमङ्गला के भरत-ब्राह्मी और सुनन्दा के बाहुबली-सुन्दरी नाम की सन्तानें पैदा हुईं। इसके पश्चात् सुमङ्गला के ४९ (४९) जोड़ली सन्तान और भी उत्पन्न हुई। ३१४।

युगलियों द्वारा प्राचीन हाकारादि दण्ड-नीतियों का उल्लङ्घन होने का समाचार पाकर भगवान ने राजा बनने की सलाह दी। जब युगलियों ने उन्हीं से राजा बनने की प्रार्थना की तो स्वामी ने उन्हें अपने पिता के पास भेजा। पिता ने ऋषभ को ही राजा बनाने की स्वीकृति दे दी। ३२०। युगलिए बड़े प्रसन्न हुए और राज्याभिषेक के लिए जल लेने चले गए। इधर सौधर्मेन्द्र स्वामी का अभिषेक समय जान कर आ पहुंचे। २३३। इन्द्र तथा अन्यान्य देवासुरों ने ऋषभ का राज्याभिषेक तथा वस्त्रालंकार-परिधान कराया और छत्रचामरादि से सेवा करने लगे। ३३३। इधर युगलिए कमलपत्रों में जल ले कर आ पहुंचे। उन्होंने स्वामी को सुसज्जित देख कर वह जल उनके चरणों में डाल दिया। ५३५। विनीत युगलियों का यह कृत्य देख कर इन्द्र 'विनीता' नगरी के निर्माण की आज्ञा दे कर अपने स्थान को गए। ३३८। कुबेर निर्मित विनीता (अयोध्या) नगरी का वर्णन। ३४१।

उस समय कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने से स्वयं ही उत्पन्न होने वाली कन्दमूलादि की औषधियों के खाने से लोगों के पेट दुःखने लगे। उन्होंने ऋषभ से प्रार्थना की। ऋषभ ने उन्हें अनाज को मसल कर खाने की आज्ञा दी। ३५५। वैसा करने पर भी जब लोगों को अपच होने लगी तब स्वामी ने उन्हें भिगो कर खाने की आज्ञा दी। वैसा करने पर भी उन्हें अजीर्ण बना रहा तो ऋषभ ने उन्हें बगल में रख कर खाने को कहा। ३५८

फिर कर्मभूमि दावाग्नि प्रगट होने पर वे लोग अग्नि को रत्न समझ कर ग्रहण करने के लिए दौड़े, तो उनके हाथ जल गए। ३६७। पुनः रक्षणार्थ प्रार्थना करने पर प्रभु ने उन्हें अग्नि को पहचान दे कर उसमें अन्न पका कर खाने की सलाह दी। परन्तु उन मूर्ख लोगों ने जब सारा अन्न उसमें डाल कर जलाडाला तब ऋषभ ने उन्हें मिट्टी का पात्र बनाने का, पुरुषों को शिल्प सिखाते हुए विधिपूर्वक अन्न पकाना सिखाया। ३६८। इसी दिन से कुम्भकार हुए। इसी प्रकार गेहकार, चित्रकार, लुहार, नाई आदि भी प्रभु ने तैयार किए। ~~३६९~~ इन पाँच शिल्पियों के २०-२० भेद होने से १०० शिल्प प्रगटे। ३७०।

प्रभु ने लोगों की आजीविका हेतु खेती-व्यापारादि ~~सिखाए~~ सिखाए। अन्य भ्राताओं सहित भरत को ७२ कलाएँ सिखाई। बाहुबली को स्त्री, पुरुष, पशु, आदि के लक्षण बताए। ब्राह्मी को दाएँ हाथ से १८ लिपियाँ सिखाई और सुन्दरी को गणित ~~सिखाया~~ सिखाया। ३७८। माप-तौल, सास-श्वसुर साली आदि के सम्बन्ध तथा विवाह आदि की रस्मरिवाज तभी से आरम्भ हुई। ३७९। इन सावद्य लोक-प्रदर्शित कर्मों के होने पर भी स्वामी उनसे सदा निर्लिप्त थे। ३८५। उन्होंने उग्र, भोग, राजन्य और क्षत्रिय नामक कुलों की रचना की। अपराध के अनुसार दण्डविधान बनाया। इस प्रकार पृथ्वीमण्डल का पालन करते हुए उन्होंने ६३ पूर्वलक्ष तक सुख भोगा। ३८८।

एक बार वसन्त ऋतु आने पर प्रभु उद्यान में गए। वसन्त क्रीड़ा वर्णन। ३९२। स्वामी को एकाएक वसन्त-क्रीड़ा से वैराग्योत्पत्ति हो गई। ३९९। उस समय ब्रह्म नामक देवलोक के विभिन्न लोकान्तिक देवों ने प्रभु के पास आकर धर्मतीर्थ-प्रवर्तन करने हेतु प्रार्थना

की। तब तो प्रभु दीक्षा के लिए तुरन्त ही तैयार हो गए। उन्होंने भरत आदि पुत्रों को बुला कर राज्य-ग्रहण करने के लिए कहा।४०४। विनीत भरत ने स्वामी की सेवा के आगे राज्य ग्रहण न करने की इच्छा प्रगट की; परन्तु पुनः स्वामी का आदेश मिलने पर उन्होंने राज्य ग्रहण कर लिया। प्रभु ने बाहुबली आदि पुत्रों को भी राज्य का बँटवारा कर दिया।४०८।

स्वेच्छापूर्वक दान लेने के लिए नगर में घोषणा कराई गई और सांवत्सरिक दान देना आरम्भ कर दिया गया।४११। इन्द्र के आदेश से यक्षों द्वारा नष्ट-भ्रष्ट और छुपे हुए धन को लाकर भण्डार भर दिया जाता था। याचकों को स्वेच्छापूर्वक हाथी-घोड़े-रत्नादि विभिन्न वस्तुएँ दी जाती थीं। सूर्योदय से पूर्व प्रतिदिन एक करोड़, आठ लाख सुवर्ण मुद्राएँ दान में दी जाती थीं। इस प्रकार वर्ष भर में ३८८ करोड़, ८० लाख मुद्राएँ दान में दी गई।४१७।

सांवत्सरिक दान के उपरान्त इन्द्र, दीक्षा के उत्सव के लिए आए। अन्य इन्द्रों के साथ उन्होंने प्रभु का दीक्षाभिषेक किया और पुष्प चन्दनादि का विधान किया।४२०। इन्द्र द्वारा बनाई गई शिविका पर प्रभु पार्श्ववर्ती चामरों से सुशोभित होने लगे। बाजों का घोष और प्रस्थान-भेरी बज उठी।४२६। विरहपीड़ित पुरवासी प्रभु दर्शनार्थ महलों और मञ्च आदि पर चढ़ गए। गोत्रजों स्त्रियों सहित मरुदेवी भी हाथिनी पर अलङ्कृत थी। इस प्रकार अनेक वाहनादि वैभव से युक्त स्वामी के निष्क्रमणोत्सव के अवसर पर नगरनारियाँ क्षुभित होने लगीं। वे पौत्रजन्म की भी अवहेलना कर उत्सव में आ पहुंचीं।४३२

~~प्रभु ने वस्त्रादि सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर दिया और~~

सुरनर, सामन्त, भृत्यादि से घिर कर सेवित हुए प्रभु नगरी को पार कर के खूब आमोद-प्रमोद के साथ सिद्धार्थ उद्यान में पहुँचे।४४०। उन्होंने वस्त्रादि सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर दिया और देवदूष्य वस्त्र कन्धे पर डाल लिया।४४१। प्रभु ने चैत्र कृष्णाष्टमी को उत्तराषाढ़ नक्षत्र में जयजयकार की ध्वनि के बीच केशलोंच किया जिन्हें सौधर्मेन्द्र ने ग्रहण कर लिया। इन्द्र ने प्रभु को पाँचवी मुट्ठी द्वारा केशलोंच करने से विनय-पूर्वक रोक लिया और शेष केशों को ला कर क्षीरसागर में डाल दिया।४४२। इन्द्र ने वाद्यों की तुमुल ध्वनि को रुकवा दिया। स्वामी ने चारित्रग्रहण किया। जब उन्हें मनः पर्ययज्ञान उत्पन्न हुआ तो नारकीय जीवों को भी क्षणमात्र के लिए सुख उत्पन्न हुआ।४४३। कच्छ महाकच्छ राजाओं ने बन्धुओं तथा इन्द्र द्वारा रोके जाने पर भी व्रत ग्रहण कर लिया।४४४। जिनस्तुति के उपरान्त इन्द्र ने नन्दीश्वर द्वीप जा कर अष्टान्हिकोत्सव किया। तदुपरान्त भरत-बाहुबली आदि राजाएँ अपने-अपने स्थान को चले गए।४४५।

कच्छादिक तपस्वियों के साथ विचरण करते हुए प्रभु को पारणा के लिए कहीं भी भिक्षा प्राप्त नहीं हो सकी। उन्हें उचित भिक्षा नहीं मिल सकी क्योंकि लोग तो उन्हें * हाथी, घोड़े, रत्न, कन्याएँ आदि ही प्रस्तुत करते थे।४६५। भूख से पीड़ित हुए वे दीक्षा प्राप्त राजा लोग चिन्तित होने लगे कि सर्वसहा स्वामी तो अपनी ही तरह हम जैसे क्षुधादि से पीड़ित जनों की भी परवाह नहीं करते। इसतरह अनेक प्रकार से वे पश्चात्ताप करते हुए स्वामी के साथ रहने में अपनी असमर्थता प्रगट करने लगे।४६३। अन्ततः वे सब गङ्गानिकोर पहुँच कर कन्दमूलादि खाने वाले जटाधारी तपस्वी बन गए।४६५।

कच्छ महाकच्छ के नमिविनमि नाम के पुत्र देशान्तर से घूमते हुए इधर आ निकले। वे गुरुजनों (पिता) को इस स्थिति में देख कर आश्चर्य करने लगे और पिता से इसका कारण पूछा। सारा वृत्तान्त जानकर वे दोनो स्वामी के पास गए और भूमिभाग माँगने लगे।४८६ परिग्रहरहित स्वामी से कोई प्रत्युत्तर न पाकर भी वे स्वामी की अटूट सेवाभक्ति करते रहे।४९१। फिर कितने दिन स्वामी की वन्दना के लिए आए हुए धरणेन्द्र नागने उन दोनो से निस्सङ्ग प्रभु से याचना करने का कारण पूछा और उन्हें याचना हेतु भरत के पास जाने के लिए कहा; परन्तु, उन दोनों ने वैसा करना स्वीकार नहीं किया।४९८। उनकी ऐसी अचल निष्ठा भक्ति देखकर धरणेन्द्र ने उनसे इष्टवस्तु माँगने के लिए कहा और पड़ने मात्र से सिद्धिदायक ४८ हजार विद्याएँ दीं तथा वैताढ्य पर्वत पर जाकर राज्य करने के लिए ~~स्वीकृति~~ कहा।५०३। उन दोनो ने एक विमान बनाया। उसमें नागराज के साथ बैठ अपने पिता के पास जा कर स्वामि-सेवा का फल बताया। फिर भरत के पास जा कर अपनी उपलब्धि बताई और अपने सभी सम्बंधियों के सहित वैताढ्य पर्वत पर जा पहुँचा।५०६। नमि ने ५० शहर बसाए जिनमें प्रमुख 'रथनूपुर-चक्रवाल' में उसने निवास निवास किया।५१०। विनमि ने ६० शहरों का निर्माण किया और गगनवल्लभ शहर में रहने लगा।५१२। नगर-चैत्यादिका वर्णन।५१५। फिर नागेन्द्र ने विद्या नमिविनमि को दी गई विद्याओं से सम्बंधित ~~चेत्यका~~ को चेतावनी दी और उनके राज्य की स्थापना की।५१८। उन दोनो ने अनेक रीति से ऋषभदेव की ~~भक्ति~~ भक्ति करते हुए श्रेष्ठ राज्य भोगा।५२३

इधर एक वर्ष तक निराहार रह कर विहार करते हुए ऋषभदेव गजपुर पहुँचे, जहाँ इससमय

बाहुबली के पौत्र श्रेयांस ने, सुबुद्धि नाम के श्रेष्ठी ने और श्रेयांस के पिता सोमयशा ने विभिन्न स्वप्न देखे थे जिनका आपस में मिलकर विश्लेषण करने के बाद वे सब अपने-अपने घर चले गए।४३१। उसी समय ऋषभदेव ने नगर में प्रवेश किया। उन्हें देखकर लोग बड़े प्रसन्न हुए और अनेकों वस्त्रादि प्रदान करने लगे जिन्हें स्वामी ने अस्वीकार कर दिया।४३४। इसी प्रकार घर-घर घूमते हुए स्वामी जब श्रेयांस कौ के घर की ओर आते हैं आए तो श्रेयांस मन ही मन अपने भाग्य की सराहना करते हुए उनकी ओर दौड़ पड़ा। स्वामी को वन्दना कर के उन्हें अपलक देखने से उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया कि कैसे पूर्वजन्म में वह स्वामी, वज्रनाभ चक्रवर्ती थे और वह उनका सारथी था। दोनों ने वज्रसेन के निकट दीक्षा ली थी जहाँ उसे ज्ञात हुआ था कि स्वामी युगादीश होंगे। वही प्रभु आज मेरे प्रपितामह हैं जो आज त्रिलोकेश्वर तीर्थङ्कर हैं। अतः दोषयुक्त भिक्षा कैसे ले सकते हैं।४५०।

उसी समय कोई इक्षुरस पूर्ण घट ले आया। जब श्रेयांस के निवेदन करने पर स्वामी ने उसे अपनी अञ्जली से दक्षतापूर्वक ग्रहण किया तो सभी लोग बड़े प्रसन्न हुए। देवों ने स्वामी के पारणा के समय दुन्दुभी बजाई, पुष्पवृष्टि की और दान की प्रशंसा करते हुए अनेक प्रकार से उत्सव मनाया। वही पर्व आज भी अक्षयतृतीया के नाम से मनाया जाता है।४५८।

स्वामी की पारणा की बात सुन कर लोग श्रेयांस के यहाँ आने लगे और अपने चक्कर लेने लगे। तब श्रेयांस ने उन्हें उचित और प्रासुक दान की विधि बताई और अपने स्वप्न तथा जातिस्मरण की बात भी बताई जिसे

सुन कर वे सब उसे साधुवाद देने लगे। पारणा के बाद प्रभु श्रेयांस के घर से विहार कर गए। ५८६। पारणा के स्थान पर श्रेयांस ने रत्नपीठ बनवा दिया। लोगों के पूछने पर श्रेयांस ने उन्हें पीठ का उपयोग व महत्त्व बतलाया। फिर तो लोगों ने स्वामी के प्रत्येक भिक्षा-स्थल पर रत्नपीठ बनवा दिए। इस प्रकार पृथ्वी पर आदित्यपीठ का प्रवर्तन हुआ। ५८५।

फिर प्रभो स्वामी ने बाहुबली को तक्षशिला में प्रवेश किया। उद्यानरक्षकों से समाचार पाकर बाहुबली ने रात्रि में ही नगरी को सजाने का आदेश दिया। ५८८। नगरी की सजावट का वर्णन। ५९०। नदी के किनारे से बाहुबली ने प्रतीक्षापूर्वक रात्रि बिताई। वह प्रभात होते ही स्वामी से मिलने के लिए चल दिया; परन्तु स्वामी तब तक अन्यत्र विहार कर गए थे। ५९३। बाहुबली पश्चात्ताप करने लगा। मन्त्री के समझाने बुझाने पर पर स्वामी के चरणचिन्हों की वन्दना की और १४८ योजन विस्तार वाले रत्नमय धर्मचक्र की स्थापना की। उसकी पूजा और अष्टाह्निकोत्सव कर के वहाँ पुजारियों व रक्षकों को नियुक्त कर दिया। ६०२।

(इधर) स्वामी ने यवनाडम्बादि अनार्य देशों में भ्रमण करते हुए १००० वर्ष बिता दिए। ६०८। स्वामी पुरिमताल नगर में आए। निकट के एक जंगल में न्यग्रोध वृक्ष के नीचे प्रतिमा रूप से स्थित हो कर अष्टमतप किया। ध्यानाग्नि में घाती कर्म दग्ध कर दिए। उन्हें फाल्गुन कृष्णा एकादशी उत्तराषाढ नक्षत्र में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। ६०६। इन्द्र ने

इन्द्र ने अवधिज्ञान से सारा हाल जानकर वायुकुमारादि देवों के द्वारा समवसरण की रचना करवाई। ६२८।

समवसरण में दुन्दुभीवादन-गानादि के द्वारा होने वाले उत्सवों का वर्णन। ६३१। पूर्वद्वार से प्रभु ने प्रवेश किया और दिव्य सिंहासन पर बैठ गए। ६३४। जिनस्तुति के उपरान्त इन्द्र उन्हें अपलक दृष्टि से देखने लगे। ६३६। इधर मरुदेवा माता भरत के समक्ष पुत्र के शोक में विह्वल हो कर विलाप करने लगीं। ६४४। उसी समय प्रतिहारों ने यमक-शमक नामक दो पुरुषों के आने का निवेदन किया। यमक ने अभिवादनकाल के उपरान्त शकटोद्यान में प्रभु के केवली होने का निवेदन किया जबकि शमक ने शस्त्रागार में चक्रोत्पत्ति का। ६५८। ऐसा सुन कर भरत द्विविधा में पड़ गए कि पहले चक्र की पूजा करें या धर्मचक्र की। अन्ततः सोचविचार कर वह सर्वप्रथम शाश्वत धर्मचक्र की पूजा हेतु तैयार हुए। ६५२।

भरत ने माता मरुदेवी से समवसरण देखने के लिए कहा और उन्हें हाथी पर बैठा कर चल दिए। रास्ते में दुन्दुभी का शब्द, चुंचुरुओं की आवाज और स्वामी का जयजयकार सुन कर मरुदेवा को खुशी का रोमाञ्च हो आया। उनके नेत्रपटल खुल गए। स्वामी का ऐसा वैभव देख कर परमानन्द के कारण मरुदेवा को केवलज्ञान हुआ और वे वहीं मोक्षगामी हुईं। ६६०। इस अवसर्पिणी में मरुदेवा पहली सिद्ध हुईं। देवों ने उनके शरीर को क्षीरसागर में फेंक दिया। उसी समय से संसार में मृतक पूजा का प्रचलन हुआ। ६६२। माता मही के निधन और स्वामी के दर्शन से क्रमशः शोक और हर्ष से परिपूर्ण भरत राज्यचिन्हों को त्याग कर उस समवसरण में प्रविष्ट हुए जहाँ प्रभु नृप-देव आदि से घिर कर सुशोभित हो रहे थे। वे प्रदक्षिणा, नमस्कार स्तुति आदि कर के वहीं बैठ गए। ६६६।

चतुर्थ सर्ग

[चतुर्थ सर्ग का आरम्भ केवली प्रभु की धर्मदेशना से होता है जिसमें छोटी-बड़ी १८ लघुकथाओं का लगभग १३०० श्लोकों में समावेश किया गया है। इन कथाओं के एकत्र नाम मूलग्रन्थ में चतुर्थ सर्ग की पुष्पिका में गिनाए गए हैं। इन कथाओं को छोड़ कर अवशिष्ट चतुर्थ सर्ग के अन्तिम भाग में वर्णित मूल कथा का संक्षिप्त अनुवाद यहाँ दिया जा रहा है]

भगवान की धर्मदेशना सुन कर भरत के पुत्र पुण्डरीक ने प्रभु से दीक्षा देने की प्रार्थना करते हुए भरत के अन्य ९९९ पुत्रों और ७०० पौत्रों के साथ दीक्षा ग्रहण की। १३६८ से १३७१। मरीचि ने भी व्रत ग्रहण किया। भरत से स्वीकृति प्राप्त ब्राह्मी ने भी व्रत लिया। १३७३। बाहुबलि द्वारा दीक्षा हेतु अनुज्ञा प्राप्त सुन्दरी भरत से स्वीकृति न मिलने पर प्रथम श्राविका बनी। भरत ने भी श्रावक धर्म स्वीकारा और अन्य श्रावकों को भी स्वामी के पास भेजा। कच्छ महाकच्छादि राजाओं ने फिर से दीक्षा ले ली। १३७।

ऋषभदेव ने पुण्डरीक प्रमुख साधु, ब्राह्मी आदि साध्वियों, भरतादि श्रावकों और सुन्दरी प्रभृति श्राविकाओं के इस चतुर्विध संघ की व्यवस्था की। १३७६। इस संघ में त्रिपदीय ज्ञान के धारक ८४ सूरि (गणधर) हुए। १३७७। विधिविधानपूर्वक वासक्षेप, पुष्पिका आदि का उल्लेख। १३७८।

पुनः प्रभु की धर्मदेशना के बाद भरत ने देवों द्वारा शुभगुना सुगंधित किया गया ८ कलश जितना बलि (चावल) ८ थाला में रख कर महल से मँगवाया। १३८१। उस बलि के उछाले जाने पर देवताओं ने

उसका अर्धांश ऊपर ही लपक लिया। भूमि पर गिरे हुए बलि का आधा भाग भरत ने ले लिया। शेष अन्न भरत के गोती भाइयों ने आपस में बाँट लिया।१३२३। उस बलि के प्रभाव से पूर्वोत्पन्न रोगों का नाश होता है और छः माह तक नए रोग पैदा नहीं होते।१३२४।

इसके बाद प्रभु के उठकर देवच्छन्द में चले जाने पर उनके पादपीठ पर बैठ कर पुण्डरीक ने धर्म-देशना दी।१३२८। देवों भी भक्तिपरायण देवों ने प्रस्थान किया। उस तीर्थ में गोमुख नाम का गजारूढ यक्ष प्रभु के पास सदा रहने वाला शासनदेव हुआ और गरुडासीन प्रतिचक्रा नाम की शासनदेवी हुई।१३३१। इसके बाद प्रभु अन्यत्र कहीं विहार कर गए।१३३३।

पाँचवाँ सर्ग

इधर भरत ने आयुधागार में आकर विधिपूर्वक अष्टान्हिकोत्सव सहित चक्ररत्न की पूजा की। उसी भाँति पुरवासी जनों ने भी चक्रपूजा का उत्सव मनाया। तत्पश्चात- सुसज्जित हुए भरत ने पूर्वदिशा की ओर चक्र का अनुगमन करते हुए प्रस्थान किया।१से ६।

चक्ररत्न को ले भाँति दण्ड, अश्व, सुषेण, पुरोहित, गृहपति, वर्धकि, स्त्री और काकिणी नामक (६) नवरत्न उनके साथ चले। यहाँ दिग्विजय के लिए प्रस्थान करने वाली भरत की सेना का विस्तृत वर्णन है। २२। प्रतिदिन एक योजन के प्रमाण से प्रयाण करने वाली चक्रानुगामी सैना का समुद्र के किनारे भव्य पड़ाव डाला गया जिसका निर्माण वर्धकि रत्न ने किया।२३।

वहाँ तीन दिन उपवास कर के भरत ने चौथे दिन समुद्र में घुस कर स्वनामाङ्कित बाण छोड़ा, जो तत्काल ही मागध तीर्थेश के महल में जा गिरा।

~~पहले तो मागध मागधदेव बड़~~

पहले तो मागधदेव बहुत बिगड़ा परन्तु बाद में चक्रवर्ती के नामाक्षरों को देख कर शान्त और गर्वविहीन हो गया। उसने स्वागत हेतु विनयपूर्वक भरत के पास जाकर किरीट-कुण्डलादि प्रदान किए जिससे चक्रवर्ती बहुत प्रसन्न हुए। वे उसे विदा कर के अपने पड़ाव में आए और मागध देव के नाम से अष्टान्हिकोत्सव किया। ५३।

उसी प्रकार चक्र का अनुसरण करते हुए भरत ने दक्षिण समुद्र तट पर आकर जब वरदामेश पर बाण छोड़ा तो उसने भी रत्नादिक प्रस्तुत किए और आधीनता स्वीकार कर ली। ५८। वहाँ चिरकाल तक निवास कर के चक्रवर्ती ने पश्चिम समुद्र तट पर पहुँच कर इसी प्रकार बाणप्रक्षेप द्वारा प्रभासपति को आधीन किया और अष्टान्हिकोत्सव किया। ५८। तत्पश्चात् चक्रानुसारी भरत ने दक्षिण समुद्र के पास आकर सिन्धु देवी को धारण कर अष्टम तप किया। देवी ने उपस्थित हो कर १००८ रत्नकुम्भों के सहित भद्रासन, बाजूबंद आदि प्रस्तुत किए जिन्हें ग्रहण कर भरत वैताढ्य पर्वत पर आ पहुँचे। ६४। वैताढ्य के दक्षिणी भाग पर पड़ाव डाल कर राजा ने अष्टम तप किया और वहीं भी गिरिराज से प्रीतिपूर्वक रत्नालङ्कारादि ग्रहण किए। ६७।

भरत ने आधी सेना सहित सुषेण सेनापति को चर्मरत्न से सिन्धु नदी पार कर के दक्षिण सिन्धु निष्कूट जीतने के लिए भेजा। ७०। वहाँ उसने कालमुख जाति के बर्बर म्लेच्छों को जीत लिया और उनसे भी गजादिक दण्ड ले कर भरत-चक्री के सामने ला कर प्रस्तुत कर दिया। ७२।

इसके बाद चक्रवर्ती ने तमिस्रा गुफा के द्वार पर कृतमाल देव को धारण कर अष्टान्हिकोत्सव

किया और अश्वारूढ हो कर दण्डरत्न से ताड़ना करते हुए गुफा के द्वार खोल दिए।७८। गजारूढ भरत मणिरत्न के प्रकाश से गुफा में घुस गए और काकिणी रत्न से गुफा के दोनों पार्श्वों में ४९ मण्डल बनाए।७९। भरत ने वहाँ उन्मग्ना-निमग्ना नाम की दो अद्भुद नदियाँ देखीं, जिन्हें वर्धकि रत्न द्वारा बनाई गई पुलिया से पार किया गया।८०।

कन्दरा को पार कर भरत ने भरतार्धविजय हेतु उत्तरखण्ड में प्रवेश किया जहाँ अनेक किरात लोग निवास करते थे। उस समय अनेक प्रकार के अनिष्ट-कारक उत्पात होने लगे जैसे भूकम्प, आँधी, रक्तवृष्टि उल्कापातादि।८१। किरातों ने भरत को देख कर बड़े क्रोध पूर्वक कल्पान्तकालीन मेघों की भाँति सेना पर शस्त्र बरसाना आरम्भ कर दिया।८४। अन्ततः अनाथ की तरह अपनी सेना को घिरा हुआ जान कर सुषेण सेनानी को जोश आया और वह किरातों को जीतने लगा।८८। तब भयभीत किरातों ने मेघमुखों की आराधना कर के कुछ उपसर्ग उत्पन्न कराए जिससे प्रलयकालीन वृष्टि होने लगी।९१। भरत ने भी सेना की रक्षा हेतु चर्म और छत्ररत्न को पृथ्वी-आकाश में फैला दिया और छत्ररत्न पर मणिरत्न रख कर अंधकार दूर कर दिया।९५। तभी से छत्र और चर्मरत्न के सम्पुट से लोक में ब्रह्माण्ड की कल्पना हुई।९६। चर्मरत्न पर बोए गए शालि गृहरत्न के प्रभाव से रात की काट लिए जाते थे।९७। इस तरह सारी सेना का पूरा प्रबन्ध हो गया।९८। अन्ततः मेघकुमारों से प्रतिबोधित किरातों ने भरत की शरण ग्रहण कर ली।९९।

भरत की आज्ञा से सुषेण दक्षिणसिन्धु निष्कूट को साध कर लौट आया।११। चक्रानुसारी भरत ने पूर्वीय

मार्ग से चलते हुए क्षुद्रहिमवंत के दक्षिणी भाग पर आकर हिमाचल देव के प्रति अष्टम तप किया।१२१। तदुपरान्त पहले की तरह फेंके गए बाण से क्रुद्ध हुए हिमाद्रि देव का भरत को शरण में आना और बाण से लौटना।१२२। फिर भरत ने ऋषभकूट पर्वत की चोटी पर आकर काकिणी रत्न से अपने प्रथम चक्रवर्ती होने का आलेखन किया। वहाँ से लौट कर अष्टान्हिक उत्सव किया।१२३।

भरत सेना सहित वैताढ्य पर्वत पर आए। वहाँ जब नमि-विनमि नामक विद्याधरों पर भी दण्ड माँगने वाला बाण फेंका तो वे दोनों क्रोधित हो कर सेना-सहित युद्ध के लिए आ पहुँचे।१२४। द्वादशवर्षीय घोर युद्ध के पश्चात् भरत द्वारा जीत लिए जाने पर उन दोनों ने स्त्री रत्नादिक भेंट करते हुए क्षमा-याचना की और राज्य अपने पुत्रों को सौंप कर ऋषभदेव के पास जाकर दीक्षित हो गए।१२५।

भरत ने गङ्गातट पर आकर पड़ाव डाला और सुषेण ने गङ्गा के उत्तर निष्कूट को अपने आधीन किया।१२६। भरत ने गंगादेवी की साधना की।१२७। देवी ने भी दासी की भाँति १००८ कलशों सहित दिव्य भोग प्रदान किए।१२८।

बाद में भरत ने खण्डप्रपाता गुफा के नाट्यमाल देव की साधना की।१२९। और गुफा को पारकर गङ्गा के (पश्चिमी) किनारे पर पड़ाव डाला।१३०। भरत ने वहाँ नौ निधान को उद्देश्य कर अष्टम तप किया जिससे हजार-हजार यक्षों से अधिष्ठित विभिन्न गुणों वाली नैसर्गादि नौ निधियाँ चक्री के आधीन हो गई।१३१। भरताज्ञा से सुषेण गंगा के दक्षिणी भाग को जीत कर लौट आया।१३१।

चक्रानुसारी भरत जब अयोध्या की ओर लौटे तब उनके साथ १४ महारत्न, ३२-३२ हजार राज-

राजकन्याएँ, सुन्दरी स्त्रियाँ और महीपाल, छह-छह लाख हाथी, घोड़े तथा करोड़ों योद्धा थे।१५८। भव्य प्रयाण करती हुई यह विशाल सेना अयोध्या में जा पहुँची।१६३।

राजा के द्वारा चक्रवर्ती के (महा) राज्याभिषेक के बाद १२ वर्ष के लिए नगर को दण्ड, महसूल आदि से मुक्त करने की घोषणा कर दी गई।१६४। चिरकाल तक सुरवभोग करते हुए भरत ने जब एक दिन पुत्रों-पतली सुन्दरी को देखा तब उन्हें अपने अधिकारियों पर बड़ा क्रोध आया।१६५। परन्तु अधिकारियों द्वारा जब उन्हें यह पता चला कि उन्हीं के द्वारा किए गए दीक्षा-निषेध के कारण ही सुन्दरी छह हजार वर्ष से निरन्तर आचाम्ल तप कर रही है तो चक्री ने उसे भगवान के पास दीक्षा लेने की अनुमति दे दी।१६८।

फिर कभी अधिकारियों द्वारा अभिषेकोत्सव में अपने ही भाइयों के न आने की बात जान कर चक्री ने दबावपूर्वक उन्हें अपनी सेवार्थ बुलाने के लिए दूत भेजे।१८२। दूत की बात सुन कर भरत के भाइयों ने मिलकर विचार-विमर्श किया और तृष्णालु भरत की निन्दा करते हुए शरण लेने योग्य पिता की आज्ञा के बिना युद्ध करने से इन्कार कर दिया।१८८। वे सब भगवान के पास आए और सारी स्थिति से प्रभु को अवगत कराया।१९३। प्रभु ने उन्हें रागादिक वासनाओं को ही जीतने का उपदेश दिया।१९७। अजगर के दृष्टान्त द्वारा कभी न शान्त होने वाली तृष्णा का स्वरूप समझाया।१९८। प्रभु से भौतिक राजभोग की हीनता और आध्यात्मिक सुख की उपादेयता को सुन कर उन ९८ भाइयों ने प्रभु से दीक्षा ले ली।२११। दूतों से यह सारा वृत्तान्त जान कर भरत ने भाइयों के राज्यों को ग्रहण कर लिया।२१४।

एक दिन सुषेण सेनापति से शस्त्रशाला में चक्र के अप्रवेश की बात जान कर भरत को भृकुटि तन गई।२१८। सचिव ने बताया कि आपके प्रतापी भ्राता बाहुबली के अतिरिक्त सारा भरतखण्ड जीत लिया गया है अतः इन्हे भी जीत कर वश में करना चाहिए।२२७। यह सुन कर मन्त्रास मनोदित हुए भरत ने अपने से छोटे, परन्तु वीर भाई से लड़ने मे लोकापवाद और लज्जा के कारण अनिच्छा प्रगट की।२२९। राजा को खेदपूर्ण अवस्था जान कर महासचिव ने दूत-प्रेषण की सलाह दी क्यों कि जगन्मान्य चक्री की आज्ञा न मानने पर ही युद्ध करना श्रेयष्कर है।२३०।

राजाज्ञा पाकर सुवेग नामक दूत जब बाहुबली की ओर जाने लगा तो उसे रास्ते में अनेक अपशकुन हुए।२३७। फिर भी स्वामिकार्य हेतु ~~उसने~~ वह भव्य तक्षशिला नगरी के सिंह द्वार पर पहुंचा और राजाज्ञा ले कर सभा मे प्रवेश किया।२४२। आलीशान सभा के वैभव का अवलोकन करते हुए उसने बाहुबली को प्रणाम किया।२४८। प्रतिहारो द्वारा रचे गए आसन पर बैठने के बाद बाहुबली ने राज्य-परिवार सहित भरत की कुशलता पूछी।२५०।

सुवेग ने कहा कि देव-दानवों में सूर्य-तुल्य अखण्ड शासन करती भरत की कुशल और सफलता तो सर्वदा है ही,(२५५) फिर भी द्वादशवर्षीय अभिषेक में अपने छोटे भाइयों के न देखने से पार्श्वस्थ सुरेन्द्र भी उनके भ्रातृवात्सल्य की पूर्ति नहीं कर सके। उनके वे छोटे भाई बुलाने पर भी नहीं आए और पिता के पास जाकर वैरागी हो गए।२५८। यदि आप जैसे विनयी भी शङ्काहीन होकर उनके ताप को दूर न करेंगे तो महाबली होने पर भी

राजाज्ञा को अवहेलना होने का कारण महाचक्र और सेनानी से अपनी रक्षा नहीं कर सकते।२६५। एक ही पिता के पुत्र होने के नाते भी आप को यहाँ से चलकर बड़े भाई का शासन स्वीकारने में लज्जा नहीं करनी चाहिए (२६६) बाहुबली ने कहा कि ऐसा प्रदर्शन के लिए छोटे भाइयों को बुलाने का बहाना तो उनका राज्य हड़पने के लिए होगा।२६३। लोकापवाद से बचाने के लिए व्रतग्रहण करने वाले छोटे भाइयों के राज्य की लालसा, भरत की वज्रतुल्य कठोरता को सूचित करता है।२६४। आचारहीन और मदमत्त हो कर लघुकार्य करने वाले गुरुजनों को त्यागना ही उचित है।२६५। सुरसेवित भरत को मेरी सेवा से क्या प्रयोजन है।२६६। शायद वे यह बात भूल गए हैं कि बचपन में मैंने उन्हें टैल की भाँति उछाल कर फूल की भाँति ग्रहण कर लिया था।२६४। सचमुच ही मेरे तेजरूपी समुद्र में उनकी सारी सेना डूब मरे गी, अतः वे अन्य जीते गए राजाओं के घोरवे में न रहें।२६८।

उस समय सभासीन राजाओं को कुपित दृष्टि से भयभीत हुआ सुतेग सभा से निकल कर शीघ्र ही तक्षशिला वालियों को गौरवयुक्त बातों को सुनता हुआ वनस्थलों में आ पहुँचा।२६९। सीमाप्रदेश में भी भरत-बाहुबली के बारे में अनेक प्रकार की उद्वेग-जनक बातें सुनता हुआ भरत की सभा में आ गया।२७०। उसने भरत को बताया कि आप का प्रतापी और अजेय भाई आप को तृणतुल्य भी नहीं मानता।२७१। उस समय भरत अनुज के प्रताप की प्रशंसा करते हुए हर्षित होने लगे; परन्तु, युद्ध से होने वाले लोकापवाद की चिन्ता से शोकाकुल उनके वचनों को सुन कर सचिव

ने राजा को पुनः क्षत्रियधर्म की स्मृति दिला कर उत्साहित किया। ३९३। सेना की तैयारियाँ होने लगीं। शुभ मुहूर्त में प्रस्थान करते हुए शीघ्र ही बहली देश की सीमा पर पड़ाव डाल दिया गया। ३९४।

समाचार पाकर उत्साही बाहुबली ने भी शीघ्र ही गंगा के किनारे आकर अपनी सेना का पड़ाव डाल दिया। ३९५। बाहुबली ने अन्य वीरों का सत्कार करते हुए पुत्र सिंहरथ को सेनानायक बनाया। भरत ने भी सुषेण को रणपट्ट बाँध दिया। ३९६। सैना सहित दोनों ही सेनानायक चल पड़े। ३९७। सैनिकों ने विविधि प्रकार से अपनी-२ तैयारियाँ करलीं। ३९८।

इधर बाहुबली ने देवागार में और भरत ने पड़ाव में ही प्रतिमा बना कर ऋषभदेव की पूजा-अर्चना की। ३९९। जब दोनों ही महारथी रणमध्य में आ विराजे और सेनाएं आमने-सामने डट गईं तब महा-प्रलय के भय से देवताओं ने भरत से युद्ध न करने की विनय की। ४००। परन्तु चक्रों द्वारा चक्र के अप्रवेश को दलील दिए जाने पर देवों ने ऋषभ देव की आज्ञा सुनाते हुए तब तक युद्ध न करने की अपील की, जब तक बाहुबली को समझा-बुझा कर द्वन्द्वयुद्ध के लिए तैयार न कर लिया जाँव। ४०१। भरत की स्वीकृति मिलने पर देवों ने पहले तो बाहुबलि को युद्ध न करने के लिए समझाया; परन्तु न मानने पर बाद में दृष्टयादिक द्वन्द्व युद्ध करने के लिए तैयार कर लिया। ४०२।

बाहुबली और भरत की आज्ञा से दोनों ओर की सेनाओं ने समझौते के अनुसार युद्ध न करने की घोषणा करा दी गई जिससे सैनिकों के अरमान अन्दर ही रह गए। ४०३।

इधर से भरत ने अपने सैनिकों सहित स्वयं को छह्स बँधाने के लिए अपने को सहस्र श्रृंखलाओं से बँधवाया। ~~और~~ उन श्रृंखलाओं को एक साथ खींचने के लिए राजाज्ञानुसार सब पंक्तिबद्ध वीरों ने जोर लगाया। परन्तु राजा द्वारा हत्थ खींचलिए जाने से सब स्वयं ही खाई में जा गिरे। इस तरह राजा ने अपनी शक्ति को तौल लिया। इद्धा

फिर प्रतिज्ञानुसार सीमा-प्रदेश में भरत बाहुबली का दृष्टियुद्ध हुआ जिसमें बाहुबली विजयी हुए। ४००। तत्पश्चात् उन दोनों के शब्दसंग्राम में भयंकर सिंहनादों से दिशाएँ गूँज उठीं। इस युद्ध में पुनः बाहुबली की विजय हुई। ४१२। पुनः भीषण मुष्टि-युद्ध हुआ जिसमें दोनों को परस-परस क्षणिक मूर्छना के बाद भी बाहुबली ने भरत को दूर आकाश में उछाल कर हाथों में ले लिया। ४२३। तदुपरान्त पुनः पुनः की ~~हत~~ हार से आतुर और कुपित हुए भरत ने दण्ड-प्रहार से बाहुबली को नीचे गिरा दिया। ४३३। परन्तु बाहुबली ने तुरन्त ही संभलते हुए उसी दण्ड से प्रहार कर के भरत को आकण्ठ पृथ्वी में धँसा दिया। ४३६। बाहुबली द्वारा अपर निकाले जाने पर भी विषादयुक्त भरत ने अपने चक्रवर्तित्व की चिन्ता करते हुए महा-काल तुल्य चक्र को घुमाना शुरू कर दिया। ४५३। यह उपक्रम देख कर बाहुबली भ्रातृस्नेह को धिक्कारते हुए चक्र को चनाचूर करना ही चाहते थे कि उनको प्रदक्षिणा मात्र दे कर चक्र स्वयं ही भरत के पास लौट गया। ४५९। क्यों कि चक्र का प्रभाव स्वगोत्री पर नहीं होता।

मात्र साम्राज्य के लिए नीतिमय युद्ध का उल्लंघन करते हुए भाई को ही हत्या को उद्यत

हुए भरत के इस आचरण को देख कर बाहुबली के अन्तर में वैराग्य का उदय हो गया और उन्हों ने उसी समय भरत से क्षमायाचना करते हुए केशलोंच कर डाला।५५८। अपनी छोटी के विचार से छोटे भाइयों के पास न जा कर वे वहीं कायोत्सर्ग में स्थित हो गए। ५८३। भाई का ऐसा त्याग और अपनी मोहपूर्ण स्थिति को देख कर भरत के भी आँसू आ गए।५८८। उन्होंने बाहुबली को नमन किया। तक्षशिला में आकर बाहुबली के पुत्र सोमयशा का अभिषेक किया और अयोध्या में आकर अखंड शासन करने लगे।५८७।

इधर अत्यन्त उग्र तपस्या करते हुए बाहुबली को एक वर्ष बीत गया।५८३। तब ऋषभदेव ने क्षीणकर्मा बाहुबली के पास बोध देने के लिए ब्राह्मी और सुन्दरी को भेजा।५८९। वे कन्याएँ बाहुबलि को अभिमान रूपी हाथी से उतरने का ऋषभादेश देकर लौट गई।५८८। बाहुबली ने भी विचारपूर्वक अपनी दुर्विनय को पहचानते हुए अभिमानरहित हो कर जैसे ही कनिष्ठ भ्राताओं को नमनार्थ प्रथम पग बढ़ाया, वैसे ही उन्हें कैवल्यज्ञान हो गया। वे भी भगवान के समवसरण में आ गए।५९०।

छठा सर्ग

जिस समय सुरासुरों से परिवृत भरत चक्रवर्ती जगद्रक्षण कार्य में लगे हुए थे उसी समय आकाश में धर्मचक्र के तेज से संसार में ऋषभदेव का प्रभाव भी फैलता जा रहा था।१से ३। वे हंसगति से विहार करते हुए अष्टापद पर्वत पर आ विराजे।४। तत्काल ही देवों ने समवसरण में आकर जिनेन्द्र की वन्दना की। शैलरक्षकों से यह सूचना

पाकर भरत भी राजाओं के सहित वहीं आ पहुँचे।
प्रभु को देशना के उपरान्त तपस्या से कृश हुए अपने
छोटे भाइयों को देख कर भरत ने मन ही मन अपने
को धिक्कारा।१४। उन्होंने भाइयों द्वारा राज्यश्री
को पुनः भोगने के लिए प्रभु से प्रार्थना की।१५। प्रभु
ने राजभोगों की भर्त्सना करते हुए ऐसा करने से मना
कर दिया।१८। इसी प्रसंग में भरत ने प्रभु को सुबुद्ध-
मालिका वृत्तान्त सुनाया।१७। तदुपरान्त भरत ने कुछ
सोच विचार कर भाइयों के आहारार्थ ५०० गोठ भर
कर स्वादिष्ट अन्न मँगवाया। जिसे जिनेन्द्र ने 'आधा-
कर्मी आहार' कह कर अस्वीकार कर दिया।१९।
यहाँ तक कि राजपिण्ड का भी प्रतिषेध किए जाने पर
उदास भरत को लक्ष्य कर इन्द्र को उत्तर देते हुए प्रभु
ने 'अवग्रह' के ५ भेद बताए जिसे सुन कर इन्द्र और
भरत ने क्रमशः साधुओं को अपने-अपने अवग्रह
की आज्ञा दी।२१। इन्द्र की सलाह से भरत ने वह
अन्न श्रावकों को दे डाला।२२।

फिर भरत ने इन्द्र के स्वर्गीय रूप
को देखने की इच्छा की। इन्द्र ने उसे स्थूल दृष्टि
से देखने की अशक्यता बताई और अपनी दिव्य
कान्ति युक्त अँगुली मात्र फिरवा कर चक्रों को प्रसन्न
किया।२३। फिर तो भगवान को वन्दना कर के वे
दोनों ही अपने-अपने स्थान को चले गए।२४।

भरत ने नगर में आकर इन्द्र-अँगुली की
स्थापना की। तभी से लोक में भी (इन्द्रध्वज का) उत्सव
होने लगा।२३। भगवान अन्यत्र विहार कर गए।२६।

इधर भरत ने श्रावकों को अपने यहाँ
बुला कर नित्य ही भोजन, स्वाध्याय और 'मा हन'

आदि मन्त्रोच्चारण का आदेशदिया जिसे दिनरात सुनने से भरत को यह ज्ञान होने लगा कि कषायों द्वारा जीते जाने से मेरे आत्मगुणों का हनन हो रहा है।९८।

फिर अभी भोजनभट्ट श्रावकों की संख्या बढ़ने पर उनको समय-समय पर विविध रीति से परीक्षा लेते हुए काङ्किणी की तीन रेखाओं से उन्हें चिन्हित कियाजाने लगा।९९। भरतप्रणीत शास्त्रों का पाठ करने वाले उन ब्राह्मणों को अन्य लोग भी दानादिक से पूजने लगे।१०३।

इधर भगवान के अष्टापद पर आने का समाचार पाकर भरत भी वहीं आ गए।१०८। प्रभु प्रभु को वन्दना करने के बाद भरत ने उन उनसे भरत-क्षेत्र के तीर्थंकरों और चक्रवर्तियों के बारे में कुछ जानना चाहा।१०९। तब भगवान ने भविष्य में होने वाले २३ तीर्थंकरों के नामधाम सहित उनकी ऊँचाई, वंश, वर्ण, चिन्हादि का वर्णन किया।११३। इसी तरह ११ चक्रियों का संक्षेप में वर्णन करते हुए उनकी अन्त गति का भी उल्लेख किया।११९। बिना पूछे ही भगवान ने त्रिपृष्ठादि नौ अर्धचक्रियों, अचलादि नौ बलदेवों और नौ प्रतिवासुदेवों का भी नाममात्र उल्लेख किया।१२०।

भरत के पूछने पर भगवान ने बताया कि इस सभा में तुम्हारे इस (मरीचि नामक) पुत्र ने पहले, मेरे से व्रत ग्रहण किया था।१२३। परन्तु बाद में संयम पालन में असमर्थ होने के कारण विविध प्रकार से अपनी ही कल्पना द्वारा इसने परिव्राजक वेष धारण कर लिया।१२८। धर्मघोष के पूछने पर इसने अपनी निर्बलता को स्वीकार भी किया है। तुम्हारा यह पुत्र चौबीसवाँ तीर्थंकर होगा।१३८।

पुत्र चौवीसवाँ तीर्थंकर होगा।१८८। बादमें भरत भगवान को अनुज्ञा ले कर मरीचि के पास गए। उसके भावी तीर्थंकर-पद की वन्दना करते हुए उसके भावी पदों को कह सुनाया।१८९। फिर तो भरत अयोध्या चले गए और भगवान भी विहार कर गए। १८२। मरीचि ने अपनी तपा अपने कुल की श्रेष्ठता का अभिमान करने से नीच गोत्रकर्म बाँध लिया।१८३।

गणधरों से परिवृत्त भगवान विभिन्न देशों में देशना देते हुए शत्रुञ्जय पर्वत पर जा पहुँचे। १९६। वहाँ देवकृत समवसरण में भगवान ने शत्रुञ्जय पर्वत की महिमा सुनाई।२०३। प्रभु के उड़ जाने पर उनके पादपीठ पर बैठ कर उनके प्रधान शिष्य पुण्डरीक ने तप की महिमा की।२०७। दूसरे दिन प्रभु पुण्डरीक को कोटि मुनियों सहित केवली होने तक वहीं स्थित रहने का आदेश दे कर अन्यत्र चले गए।२१२। उसके बाद पुरुषार्थ सम्बन्धी देशना देते हुए सब मुनियों के साथ पुण्डरीक ने अनशन ग्रहण किया।२२०। कर्मबन्धन क्षीण कर के वे केवली हुए और मुक्ति पाई।२२१। देवों ने उनका संस्कार किया। शोकपूरित भरत ने भी पर्वत पर जा कर पुण्डरीक के साथ ऋषभदेव की प्रतिमा स्थापित कराई।२२९।

भरतक्षेत्र में विहार करने वाले भगवान के परिवार में केवलज्ञान होने बाद से चौरासी हजार साधु, तीन लाख साध्वियाँ, सौ तीन लाख श्रावक और पाँच लाख चौवन हजार श्राविकाएँ थीं।२३२। इसी प्रकार अनेक चौदह पूर्वी, केवली, वादी आदि महात्मा भी पैदा दीक्षा

-काल से एक लक्ष पूर्वलक्ष व्यतीत होते ही उन्होंने अष्टापद पर्वत पर आकर १० हजार मुनियों सहित प्रायोपगमन अनशन किया।२४०। शैलरक्षकों से यह समाचार पा कर शोकाद्र भरत, परिवार सहित पैदल ही वहाँ आ पहुँचे।२४८। इन्द्रगण भी आए।२४९।

माघकृष्णा त्रयोदशी के दिन, चन्द्र का योग अभिजित नक्षत्र में होते हो सूक्ष्मक्रिय-अप्रतिपाती ध्यानस्थ प्रभु लोकाग्र वासी हुए।२५०। अन्य मुनियों ने भी परमपद पाया। उस समय जब अश्रुपात करते हुए भरत के शोक को बहाने के लिए इन्द्र रोने लगे तो भरत के साथ अन्य सुर-नरादिक भी भीषण क्रन्दन करने लगे।२५६। तब विविध प्रकार से विलाप करने वाले भरत को इन्द्र ने समझा-बुझा कर धैर्य बंधाया।२५७। तभी से लोक में शोक की परम्परा चल पड़ी।२५८।

इन्द्राज्ञा से अभियोगिक देवों द्वारा अंगसंस्कारार्थ चन्दनादिक वस्तुएँ लाई गईं।२५९। प्रभु, इक्ष्वाकुवंशियों, तथा अन्य महात्माओं के लिए क्रमशः गोल, त्रिकोण और चौकोर चिताएँ बनाई गईं।२६०। स्नानादिक से विभूषित मुनियों सहित प्रभु की देह शिविकाओं में लाकर उन चिताओं पर रखी गई।२६१।

देवों द्वारा अग्नि संस्कार के उपरान्त उन तीन चिताओं पर तीन चैत्यों का निर्माण किया गया।२७२। उसी स्थान पर भरत ने सिंहनिषद्या नामक महास्तूप बनवाया और दण्डरत्न से अष्टापद की आठ सम्पूर्ण सीढ़ियाँ बनवाईं। उन्होंने स्तूप में ऋषभादि की प्रतिमाएँ स्थापित कराईं और चैत्य

के बाहर अपने ९९ भाइयों के भी स्तूप बनवाए। ३१८।

इस प्रकार चैत्य का निर्माण होने पर जिनेन्द्रदेव की अर्चना-वन्दना कर के भरत अष्टापद से उतर कर दुःखी होते हुए अयोध्या में आ गए। ३२६ आमात्यों द्वारा प्रतिबोधित चक्री राजकार्यों में मन लगाने लगे। ३२७। इसप्रकार राजसुख भोगते हुए भरत को पाँच पूर्वलक्ष व्यतीत हो गए।

एक ~~दिन~~ दिन आदर्शगृह में आए हुए चक्रवर्ती की अँगूठी गिर जाने से उनको अँगुली कान्तिहीन दिखाई देने लगी। ३३५। तब तो भरत ने एक-एक कर के अपने सारे आभूषणों को उतार डाला जिससे उनके सर्वाङ्ग शोभाहीन हो गए। ३५६। उस समय विनश्वर देह की तुच्छता का चिंतन करने से उनके घाती कर्मों का नाश हुआ और उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। ३५८। आसन कम्पा होने से आए हुए इन्द्र के कहने से भरत ने केशलोंच आदि किया। इन्द्र ने उनकी वन्दना की। ३५४। उस समय भरत के दस हजार आश्रित राजाओं ने भी उनसे दीक्षा ली। ३५५। इन्द्र ने भरतपुत्र आदित्ययशा का राज्याभिषेक किया। ३५६। भरत ने भी भगवान की भाँति देशना देते हुए १ लाख पूर्व तक विहार किया और अष्टापद पर्वत पर जा कर सिद्धि प्राप्त की। ३६०।

के बाहर अपने इष्ट भाइयों के भी स्तूप बनवाए। ३१८।

इस प्रकार चैत्य का निर्माण होने पर जिनेन्द्रदेव की अर्चना-वन्दना कर के भरत अष्टापद से उतर कर दुःखी होते हुए अयोध्या में आ गए। ३२६ आज्ञाकारियों द्वारा प्रतिबोधित चक्री राजकार्यों में मन लगाने लगे। ३२७। इस प्रकार राजसुख भोगते हुए भरत को पाँच पूर्वलक्ष व्यतीत हो गए।

एक ~~दिन~~ दिन आदर्शगृह में आए हुए चक्रवर्ती की अँगूठी गिर जाने से उनको अँगुली कान्तिहीन दिखाई देने लगी। ३३५। तब तो भरत ने एक-एक कर के अपने सारे आभूषणों को उतार डाला जिससे उनके सर्वाङ्ग शोभाहीन हो गए। ३४८। उस समय विनश्वर देह की तुच्छता का चिंतन करने से उनके घाती कर्मों का नाश हुआ और उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। ३४९। आसन कम्पा होने से आए हुए इन्द्र के कहने से भरत ने केशलोंच आदि किया। इन्द्र ने उनकी वन्दना की। ३५४। उस समय भरत के दस हजार आश्रित राजाओं ने भी उनसे दीक्षा ली। ३५५। इन्द्र ने भरतपुत्र आदित्ययशा का राज्याभिषेक किया। ३५६। भरत ने भी भगवान की भाँति देशना देते हुए एक लाख पूर्व तक विहार किया और अष्टापद पर्वत पर जा कर सिद्धि प्राप्त की। ३६०।

प्रकरण-२. कवि-कृतियों के नामनिर्देशपूर्वक कवि विनयचन्द्रसूरि का उपलब्ध परिचय और उनका कालनिर्णय

आचार्य विनयचन्द्र जो विंशति प्रबन्धकार थे — ऐसा विद्वानों का मन्तव्य है। उनकी ख्याति भी इसी रूप में रही है। उनकी कृतियों में कुछ कृतियाँ अधिक प्रसिद्ध हो चुकी हैं। उन कृतियों का नामोल्लेख करते हुए उनमें से कुछ के आधार पर यहाँ कवि के उपलब्ध परिचय और कालनिर्णय के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने का प्रयास किया गया है।

(१) मल्लिनाथ-चरित्र :-

यह ग्रन्थ यशोविजय जैन सीरीज़ से वीर सं. २४३८ में प्रकाशित हुआ है। प्रत्येक सर्ग के अन्तमें दी गई पुष्पिका में आए हुए "इत्याचार्यश्री विनयचन्द्र विरचिते श्री मल्लिस्वामिचरिते महाकाव्ये विनयाङ्के" वाक्यखण्ड से लेखक का नामनिर्देश किया गया है। मल्लिनाथ चरित्र की प्रशस्ति में लेखक ने अपनी गुरु परम्परा के अतिरिक्त अन्य कोई विशेषोल्लेख नहीं किया है। प्रशस्ति में वे अपने को रविप्रभ का शिष्य बताते हैं। रविप्रभ एक अच्छे विद्वान बताए जाते हैं जिन्होंने अनेक कृतियों के प्रणयन के उपरान्त गिरिनार में मुक्ति पाई थी। नरसिंह के शिष्य नरेन्द्रप्रभ की विनती पर विनयचन्द्र के द्वारा इस काव्य का प्रणयन किया गया था। जनकप्रभ के शिष्य प्रद्युम्नसूरि के द्वारा इसका सम्पादन किया गया था। जनकप्रभ देवानन्द के शिष्य थे। इन बातों के सिवाय प्रशस्ति में महाकाव्य की विधि आदि का कोई निर्देश नहीं किया

गया है।[1] परन्तु काव्यशिक्षा के सम्पादक डा० हरिप्रसाद शास्त्री का मन्तव्य है — 'लेखक से सम्बन्धित उपर्युल्लिखित लोगों को प्रसिद्ध तिथियों से इसका समय जाना जा सकता है। रविप्रभ की 'शील भावन वृत्ति' वि० सं० १२२६ में लिखी गई थी। नरेन्द्रप्रभ सूरि महामात्य वस्तुपाल (वि० सं० १२७६) के एक प्रसिद्ध उपदेशक थे। नरेन्द्रप्रभ सूरि ने 'अलंकार महोदधि' वि० सं० १२८२ में लिखा था जब कि नरसिंह सूरि वि० सं० १२८७ में स्वर्गवासी हुए थे। प्रद्युम्नसूरि ने 'समरादित्य संक्षेप' वि० सं० १३२४ और 'प्रव्रज्याविधान मूलशुद्धि' विक्रम सं० १३३८ में लिखा था --- इन तत्कालीन लेखों से लेखक का साहित्य पुण्यवनकाल ईसा की १३ वीं शताब्दी का दूसरा तीसरा चतुर्थांश निश्चित हो जाता है। यह समय चालुक्यवंशीय भीमदेव द्वितीय (१२४२ ई०), ~~अर्जुन~~ देव त्रिभुवनपाल (१२४२ से ५४ ई०), वीसलदेव (१२४४ से ६२ ई०) और अर्जुनदेव आदि राजाओं का था। महामात्य वस्तुपाल (१२२० से १२४० ई०) का साहित्यवृत्त आचार्य विनयचन्द्र सूरि से ही सम्बद्ध है।'

लेखक से सम्बन्धित प्रसिद्ध व्यक्तियों के नामोल्लेख से यह मालूम होता है कि आचार्य विनयचन्द्र गुजराती थे। इसके अतिरिक्त उनकी अन्यान्य गुजराती कृतियों से भी उनका गुजराती होना निश्चित है।

(२) मुनिसुव्रतस्वामिचरितम् :—

इस ग्रन्थ के अन्त में विनयचन्द्र सूरि ने अपनी प्रशस्ति भी नहीं दी है। प्रति सर्ग के अन्त में 'इत्याचार्यश्री विनयचन्द्रसूरिविरचिता' इस प्रकार केवल अपना नाममात्र ही उल्लेख किया है।

---

[1] काव्यशिक्षा की प्रस्तावना पृ० ११ से उद्धृत।

प्रस्तुत चरित्र के आदि में — ~~मुनि~~ मल्लिनाथचरित्र को रचना कर के क्रमागत सुव्रतचरित्र को कहता हूँ (१)। इस प्रकार बतोने से उनके रचे हुए मल्लिनाथचरित्र के आधार पर बहुत थोड़ी जानकारी ही मिलती है और इतना ही पता चलता है कि मल्लिनाथचरित्र के बाद ही उन्होंने सुव्रतचरित्र का प्रणयन किया था।

(३) कल्पनिरुक्ति :—

मल्लिनाथचरित्र की प्रस्तावना का अवलोकन करने से मालूम होता है कि उन्होंने 'कल्पनिरुक्त' नामक ग्रन्थ की रचना वि॰सं॰ १३२५ में की थी। इस ग्रन्थ के कुछ अन्तिम अंश विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं

सैद्धान्तिक-श्रीमुनिचन्द्र शिष्याः
प्राज्ञा अनूचानवरा जयन्ति।
श्रीरत्नसिंहाह्वय सूरि मुख्या
यच्छिष्यलेशो विनयेन्दुसूरिः ॥१॥
श्रीविक्रमात् तत्त्वगुणेन्दुवर्षे (१३२५) [१२६८ई॰]
चूर्ण्यादिवीक्ष्य स्वगुरोर्मुखाच्च।
ज्ञात्वाऽनघं पर्युषणाभिधाने
कल्पस्य किञ्चिद् विदधे निरुक्तम् ॥२

परन्तु, यहाँ विनयचन्द्र सूरि ने अपने को स्पष्टतः श्री रत्नसिंह सूरि का शिष्य बताया है; अतः सुव्रतचरित्र के सम्पादक पं॰ विक्रमविजय गणी का अनुमान है कि रविप्रभ सूरि जो गच्छपति होंगे। उससे उनका भी उल्लेख कुछ ग्रन्थों में गुरुतरीके किया गया होगा। उनके गुरु तो रत्नसिंह सूरि ही होना चाहिए।

---

(१) उत्कीर्य स्वामिनो मल्लिचरित्रमतिपावनम्।
क्रमागतमहं वच्मि सुव्रतस्य जगत्गुरोः॥ सुव्रतचरित्र (१,७)

सम्भवतः इसी लिए मल्लिस्वामी चरित्र की प्रशस्ति में ऐसा उल्लेख है —

पूज्यश्रीरत्नसिंह (१) सूरेरनुगुरोः श्रीमन्नरेन्द्रप्रभो
रादेशाद् विनयाङ्कपार्श्वचरितस्रष्टाशया (१)।
गच्छोत्तंसरविप्रभाभिधगुरोः शिष्योऽल्पमेधा अपि
सूरिः विनयेन्दुरेष विदधे मल्लेश्चरित्रं नवम् ॥१०॥

इसके विपरीत डा० हरिप्रसाद शास्त्री ने कोई प्रमाण न देते हुए भी विश्वासपूर्वक विनयचन्द्र को रविप्रभ सूरि का ही शिष्य बताया है और कहा है कि वे अपने नामाराशी रत्नसिंह सूरि के शिष्य से निश्चित रूप से भिन्न हैं क्यों कि दूसरे विनयचन्द्र हमारे लेखक की अपेक्षा पश्चातवर्ती मालूम पड़ते हैं। इन दोनों की पहचान में यह भ्रम अधिक समय तक नहीं टिक सकता। (१)

(४) कालिकाचार्य कथा :—

इस तिथिनिर्देशरहित ग्रन्थ में भी—
"सिरिरविपहसूरीणं सीसेणं विनयचंदनामेणं" (२) इस रीति यहाँ विनयचन्द्र ने अपने को रविप्रभसूरि का शिष्य बताया है।

(५) धर्मविधि (सम्पादन) :—

इस ग्रन्थ के मूल लेखक उदयसिंह सूरि जी हैं और विनयचन्द्रसूरि इसके संशोधनकर्ता हैं। धर्मविधि ग्रन्थवृत्ति विधायक उदयसिंहसूरि ने ग्रन्थशोधक शिरोमणि महाकवि के रूप में इनका वर्णन धर्मविधि प्रशस्ति में इस प्रकार किया है—

श्री माणिक्यप्रभगुरुसेवी स्वगुरुबन्धुसंमत्या।
आचार्य उदयसिंहश्चक्रे श्रीधर्मविधिवृत्तिम् ॥११॥

---

(२) पत्तनस्थ प्राच्य भाण्डागारीय ग्रन्थसूची प्रथम भाग पृ० २६१
(१) काव्यशिक्षा की प्रस्तावना पृ० ११

श्रीमत्पूज्यरविप्रभमुनिपतिपदकमलभण्डनमरालः।
वृत्तिमशोधयदेनां महाकविर्विनयचन्द्राख्यः॥१२
रसमङ्गलसूर्य (१२८६) मितेवर्षे श्रीविक्रमार्कतिक्रान्ते।
चक्रे चन्द्रावत्यां वृत्तिरियं संघसान्निध्यात्॥१३॥ (१)

इससे स्पष्ट होता है कि विनयचन्द्र विक्रम १२८६ में विद्यमान थे क्योंकि उन्होंने १२८६ में रची जाने वाली वृत्ति का संशोधन किया था।

(६) काव्यशिक्षा :—

काव्य की यह कृति ला० द० भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर अहमदाबाद से १९६९ ई० में प्रकाशित हुई है जिसकी प्रस्तावना में लिखा गया है कि हस्तप्रतिलिपि के कुछ पत्र खोजाने के कारण लेखक की प्रशस्ति उपलब्ध नहीं हो सकी है जो सम्भवतः हस्तप्रतिलिपि के अन्तभाग में रही होगी। काव्य के बारे में कुछ संकेत परिच्छेदों की पुष्पिकाओं से प्राप्त होते हैं। पहले परिच्छेद की पुष्पिका से पता चलता है कि विनयचन्द्राचार्य विंशति प्रबन्धकार हैं। और काव्यशिक्षा उनकी अन्तिम रचना है। पुष्पिका इस प्रकार है — 'इति विंशति प्रबन्धकर्तृ श्री विनयचन्द्राचार्य संकलितायां काव्यशिक्षायां विनयाङ्कायां' इसी प्रकार प्रत्येक पुष्पिका काव्यशिक्षा को 'विनयाङ्क' शब्द से प्रस्तुत करती है। इसके अतिरिक्त काव्यशिक्षा के कुछ भौगोलिक संदर्भों से इस बात का भी संकेत मिलता है कि वे गुजराती थे।

(७) दीपालिका कल्प :—

इस ग्रन्थ में विनयचन्द्र ने स्वयं ही

---

(१) मल्लिनाथचरित्र की प्रस्तावना पृ० ३ से उद्धृत

अपना सत्तासमय सदरग्रन्थ के अन्त भाग में स्पष्ट रूप से २७५वें श्लोक में दिया है। श्लोक इस प्रकार है-
शर १ युग ४ शिखि ३ शशि १ वर्षे शिष्यः श्रीरत्नसिंहसूरीणाम्
श्रीविनयचन्द्रसूरिश्चक्रे श्रीपालिभाव्यम् ॥

उससे मालूम होता है कि कवि ने १३८८ ई० में इस ग्रन्थ की रचना की है और वे श्री रत्नसिंह सूरिजी के शिष्य हैं। उसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में भी उन्हों ने अपने विषय में कोई उल्लेख नहीं किया है।

उपर्युल्लिखित ग्रन्थों में उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर विनयचन्द्र सूरि का काव्य प्रणयन-काल ईसा की तेरहवीं सदी (मध्यकाल (ई० १२३० से १३८८) ही निश्चित किया जा सकता है।

(८) नलदवदन्त्युपाख्यानम् :—

यह ग्रन्थ बम्बई वैभव प्रेस से बाबू गोपीचन्द जैन ने १८२१ई० में प्रकाशित कराया था। इसमें नामनिर्देश करने वाली पुष्पिका के अतिरिक्त कवि का अन्य कोई अहेवाल नहीं है।

(९) आदिनाथ महाकाव्य :—

प्रस्तुत ग्रन्थ भाषा, शैली, गठनकादि की दृष्टि से कवि की सर्वप्रथम रचना प्रतीत होती है। इसकी पुष्पिका में भी उनका नाममात्र निर्देश है।

उनकी अन्य रचनाओं का उल्लेख करते हुए पं० विक्रमविजय गणि ने 'मुनिसुव्रतस्वामि चरितम्' की प्रस्तावना में लिखा है— '---और (१०) श्री पार्श्वनाथचरित्र नामक चरित्रग्रन्थों के उपरान्त अन्य तीर्थङ्करों के चरित्र की भी रचना उन्होंने की हो ऐसा अनुमान है। --- गुजराती

काव्यों को भी उन्होंने रचना की है (११) नेमि-नाथ चतुष्पादिका और (१२) उपदेशमाला कथानक छप्पय नामक दो काव्यों का उल्लेख 'जैन गुर्जर कवि' भाग एक में किया गया है।'

आधारग्रंथ-सूची

१- अग्निपुराण :: (दो भाग), श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान बरेली उ० प्र०, (१९८८ ई०)।
२- अथर्ववेद :: (दो खण्ड) श्रीराम शर्मा आचार्य, गायत्री तपो-भूमि मथुरा (१९८० ई०)।
३- आवश्यक चूर्णि :: जिनदास महत्तर, श्री ऋषभदेव जी केशरमल जी, श्वेताम्बर संस्था रतलाम (१९३८)।
४- आवश्यकनिर्युक्ति दीपिका :: सम्पा. विजयरामचन्द्र सूरीश्वर, गुलाबचन्द्र लल्लूभाई, भावनगर (१९३९)।
५- ईशादि नौ उपनिषद् :: व्या. हरिकृष्णदास गोयन्दका, गीताप्रेस गोरखपुर, (१९८४), पंचमावृत्ति।
६- उत्तराध्ययन सूत्र :: अमोलक ऋषि, सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद हैदराबाद (१९२०)।
७- उपनिषदों की भूमिका :: डा० राधाकृष्णन्, अनु० रमानाथ शास्त्री, राजपाल एण्ड सन्ज काश्मीरी गेट दिल्ली, (१९८८)।
८- उपनिषद् वाक्य कोश :: Colonel G.A. Jacob, Government Central Book Depot (1891).
९- ऋग्वेद :: (तीन खण्ड), श्रीराम शर्मा आचार्य, गायत्री तपोभूमि मथुरा (१९८०)।
१०- ऋग्वेद :: (हिन्दी भाषान्तर) पं० रामगोविन्द त्रिवेदी, इण्डियन प्रेस (पब्लिकेशन्स) प्रयाग (१९५४)।
११- ऋषभदेव : एक परिशीलन :: देवेन्द्रमुनि शास्त्री, सन्मति ज्ञानपीठ आगरा
१२- कठोपनिषद् :: हरिकृष्णदास गोयन्दका, गीताप्रेस गोरखपुर, पञ्चमावृत्ति (१९८४)।
१३- केनोपनिषद् :: हरिकृष्णदास गोयन्दका, गीताप्रेस गोरखपुर, पञ्चमावृत्ति (१९८४)।

१४- कल्पसूत्र :: सम्पा० पुण्यविजय जी, सारा भाई मणि-
लाल नवाब हीरामाणक जौनी योग, अहमदाबाद१.
(१९५२)
१५- काललोक प्रकाश :: सम्पा० उपाध्याय श्री विनयविजय जी,
श्री जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर (१९६४).
१६- काव्यशिक्षा :: (विनयचन्द्रसूरि), सं० डा० हीरप्रसाद शास्त्री,
ला० द० भा० सं० विद्यामंदिर अहमदाबाद६ (१९६४).
१७- कुरान शरीफ का हिन्दी अनुवाद :: सं० मुहम्मद यूशुफ
एडीटर, अरबबार नूर कादियाँ,
जिला गुरुदासपुर पंजाब।
१८- कूर्मपुराण (दो खण्ड) :: श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृत
संस्थान, खजाजा कुतुब, बरेली उ० प्र० (१९७०).
१९- ज्ञानामृत (हिन्दी मासिक पत्रिका) :: सं० जगदीशचन्द्र
हसीजा, ई० १५१ कमलानगर दिल्ली-७,
रजि० नं० १०५६३/६५.
२०- ज्ञानामृत (गुजराती, द्विमासिक पत्रिका) :: सं० कौशलाल
एन० पटेल, चतुर्भुज का खांचो-१, गोव-
र्धन वाड़ी नो टेकरो, नाँकोरिया, अहमदाबाद२२.
२१- जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिसूत्र :: अमोलक ऋषि, जैन शा-
स्त्रोद्धार मुद्रालय सिकंदराबाद दक्षिण (१९१६).
२२- जंबूदीव-पण्णत्ति-संगहो :: सं० प्रो० हीरालाल जैन,
जैन संस्कृति संरक्षक संघ शोलापुर (१९५८).
२३- जैनधर्म का मौलिक इतिहास :: हस्तीमल जी महाराज,
जैन इतिहास समिति जयपुर (राजस्थान) १९७१.
२४- (भारतीय संस्कृति में) जैन धर्म का योग दान ::
डा० हीरालाल जैन, मध्यप्रदेश शासन-
साहित्यपरिषद् भोपाल (१९६०).
५- तत्त्वार्थसूत्र :: व्या० पं० सुखलाल जी संघवी, आत्मानंद
जन्मशताब्दी स्मारक ट्रस्ट दोशी त्रांबा जोटा बंबई-३.
(१९३९)

२६- तुलसीकृत रामायण :: सस्तुं साहित्य वर्धक कार्यालय अहमदाबाद, आवृत्ति ८ (१९४६).
२७- त्रिषष्टिशलाकापुरुष-चरित्र (प्रथम पर्व) हेमचंद्र विरचित, श्री जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर (१९६१).
२८- दीपमालिकाकल्प (विनयचन्द्रसूरि विरचित) :: सं० जयन्तविजयजी गणि, लीब्धसूरीश्वर जैन ग्रंथमाला छाणी, बड़ौदरा (१९४५).
२९- धम्मपद :: अं० धर्मानन्द कोसम्बी, गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर अहमदाबाद, (१९२४).
३०- पद्मपुराण :: (रविषेणाचार्य) सं० पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, (१९५८).
३१- पातञ्जल योगदर्शन :: (हारिभद्रीय योगविंशिका), सं० पं० सुखलालजी, आत्मानन्द जैन-पुस्तक प्रचारक आगरा, (१९२२).
३२- पुराणदिग्दर्शन :: माधवाचार्य शास्त्री, माधव पुस्तकालय धर्मधाम कमलानगर देहली, (सं० २०१४), तृतीय आवृत्ति.
३३- पुराणविमर्श :: बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा विद्याभवन बाराणसी-१, (१९६५).
३४- प्राकृतप्रवेशिका :: प्रभुदास बेचरदास; प्रभुदास बेचरदास, महेसाना, गुजरात, (१९३३).
३५- (बाइबल) ख्रिस्तधर्मसार :: विनोबा, यज्ञप्रकाशन भूमिपुत्र हुमरात पागा, बड़ौदरा-१ (१९६८).
३६- बीस स्मृतियाँ :: श्रीराम शर्मा आचार्य; संस्कृति संस्थान, बरेली, (१९६६).
३७- ब्रह्मसूत्र :: व्याख्या. हरिकृष्णदास गोयन्दका, गीताप्रेस गोरखपुर, पञ्चम आवृत्ति (१९६३).

५८- भगवद्गीता :: डा० एस० के० बल्लालकर और
डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, हिन्दू विश्व
विद्यालय संस्कृत पब्लिकेशंस बोर्ड वाराणसी. (१९६२)
५९- भगवद्गीता :: डा० राधाकृष्णन्,
राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली, (१९६२)
६०- भगवद्गीता :: पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर;
स्वाध्याय मण्डल, पारडी, सूरत (चतुर्थावृत्ति),
६१- भागवत महापुराण :: सं० हनुमान प्रसाद पोद्दार, (१९६१),
गीता प्रेस गोरखपुर (चतुर्थ संस्करण),
६२- मत्स्यपुराण :: (दो खण्ड) श्री राम शर्मा आचार्य, (१९६१).
संस्कृति संस्थान खेवाजा कुतुब बरेली,
६३- मल्लिनाथ चरित्रम् :: (विनयचन्द्रसूरि विरचित), (१९७०).
सं० हरगोविन्ददास और बेचरदास;
धर्माभ्युदय प्रेस, वाराणसी; (१९११).
६४- महाभारत :: गीता प्रेस गोरखपुर, द्वितीयावृत्ति (१९५५)
६५- मनुष्यात्मा चौरासी लाख योनियों धारण नहीं करता ::
बृजमोहन आनन्द; सच्ची गीता साहित्य
मण्डल, दिल्ली.
६६. महापुराणम् (दो भाग) :: जिनसेनाचार्य प्रणीत;
सं० पन्नालाल जैन; भारतीय ज्ञान पीठ काशी,
६७. महापुराण (पुष्पदन्त प्रणीत) :: पी० एल० वैद्य; (१९५१)
माणिक्यचंद दिगम्बर जैन ग्रंथ माला,
मुम्बई (१९३७-५१).
६८- मार्कण्डेय पुराण :: श्रीराम शर्मा आचार्य; संस्कृत
संस्थान, बरेली (उ०प्र०); (१९६७).
६९- मुण्डकोपनिषद् :: व्या० हरिकृष्णदास गोयन्दका,
गीता प्रेस गोरखपुर, (१९५५)
(पंचमावृत्ति).

५०- मुनिसुव्रत स्वामिचरितम् (विनयचन्द्रसूरिविरचित) ::
संघविक्रम विजय गणि; लब्धसूरीश्वर
जैन ग्रन्थ माला, खानो, बडोदरा; (१९५७).
५१- मेघदूत :: (कालिदास प्रणीत) चौखम्बा, बनारस (१९४०).
५२- यजुर्वेद :: श्रीराम शर्मा आचार्य, गायत्री तपोभूमि मथुरा;
५३- लिङ्गपुराण :: " " " संस्कृति संस्थान बरेली (१९६९).
५४- वसुदेव हिंडी :: (संघदासगणि) सं. मुनि चतुरविजय पुण्यविजय,
जैन आत्मानन्द सभा भावनगर; (१९३०).
५५- वायुपुराण :: श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृति सं. बरेली;
५६- विष्णुपुराण :: " " " " " " " "
५७- शब्दरत्नमहोदधि :: मुक्तिविजय जी गणि;
विजयनीति सूरि वाचनालय, गांधीरोड,
अहमदाबाद; (१९४१).
५८- श्वेताश्वतरोपनिषद् :: हरिकृष्णदास गोयन्दका, गीताप्रेस.
५९- शिवपुराण :: श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृति सं. बरेली,
६०- शिवरहस्यम् (तृतीयांश) :: सं. बी. स्वामीनाथ उन्नियर;
सरस्वती महाल ग्रंथालय तंजौर; (१९७१).
६१- शैवमत :: डा. यदुवंशी (लेखक व अनुवादक);
बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना; (१९५५).
६२- सामवेद :: श्रीराम शर्मा; गायत्री तपोभूमि, मथुरा; (१९६०).
६३- सृष्टिवाद अने ईश्वर :: मुनिरत्नचन्द्रजी महाराज;
श्री जैनसाहित्य प्रचारक समिति ब्यावर (१९३९).
६४- हजारीमल स्मृति ग्रन्थ :: हजारीमल स्मृतिग्रंथ
प्रकाशन समिति ब्यावर, राजस्थान (१९६५).
६५- हरिवंश पुराण :: श्रीरामशर्मा; संस्कृति सं. बरेली (१९६८).

इस शोध-प्रबन्ध का विषय चुनने के लिए मैं
यह शोध-प्रबन्ध-गत विषय बहुत दिलचस्प है।

श्री [redacted] ने "श्री [redacted] के चरित्र" के विषय में शोध-प्रबन्ध
लिखने का आदेश दिया है। पं. [redacted]
23-6-92